भारतीय कला और साहित्य में राधा-कृष्ण सम्प्रदाय

CULT OF RADHA-KRISHNA IN INDIAN ART AND LITERATURE
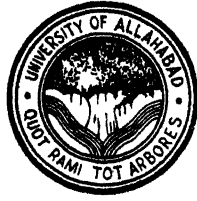
डी०फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

शोधकर्त्री

लिली अग्रवाल

पर्यवेक्षिका

डॉ० पुष्पा तिवारी

वरिष्ठ प्रवक्ता

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

२००३

अनुक्रम

प्रस्तावना

इतिहास–दर्शन (Philosophy of History) तथा इतिहास लेखन (Historiography) के क्षेत्र मे आधुनिक काल मे जो क्रातिकारी परिवर्तन हुए है उनके कारण इतिहास के स्वरूप एव सिद्धान्त से सम्बन्धित अवधारणाये भी परिवर्तित हुई है। अन्तर्विधात्मक एव बहुविधात्मक अध्ययन के इस युग मे किसी भी विषय का सकीर्ण विशिष्टीकरण (Specialization) तब तक सार्थक नही प्रतीत होता जब तक अन्य समीचीन विषयो के साथ उसकी सहक्रिया (Synergy) एव सहसम्बन्ध स्थापित नही होता है। सामाजिक विज्ञान एव समाज विज्ञान के क्षेत्रो ने इतिहास की परिभाषा एव शोध पद्धति को गम्भीरता से प्रभावित किया है। भाषा–विज्ञान के क्षेत्र मे भाषा के दर्शन से सम्बन्धित जो अवधारणाये आई है उन्होने मानव की सज्ञानात्मक (Cognitive) एव भाषागत क्षमता के क्षेत्र में अनेक प्रश्न खडे किए है जो सरचनावाद से उत्तर–संरचनावाद एव आधुनिकता से लेकर उत्तर–आधुनिकता आदि विविध विमर्शों से जुडे हैं।

इतिहास के अध्ययन का केन्द्र मानव तथा उसकी सस्कृति है। समाज विज्ञान एव नृतत्व विज्ञान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि धर्म मानव इतिहास का अभिन्न अग प्रारम्भिक काल से ही रहा है। १८–१९वी शताब्दी मे धर्म के विज्ञान एव धर्म के समाजशास्त्र पर यूरोपीय विद्वानो ने गम्भीर कार्य किए इनमे– मैक्समूलर एव ई० दुर्खीम प्रमुख हैं। धर्म का अध्ययन ऐतिहासिक पद्धति से करने का भी प्रयास इसी काल मे दिखाई देता है। समाजशास्त्रीय पद्धति मुख्यत. उद्विकासीय (Evolutionary), चक्रीय

(Cyclical Theory) एव प्रकार्यवादी सिद्धान्त (Functionalism) के प्रतिमानो और प्रारूपो पर धर्म एव सस्कृति की व्याख्या करती है। किंतु इतिहासकार धर्म को व्यापक एव सीमित दोनो दृष्टियो से देश और काल के सन्दर्भ मे विवेचित करता है। धर्म के समाजशास्त्रीय लेखन मुख्यत सार्वभौम/सामान्यीकृत सिद्धान्तो की विवेचना करते है जबकि ऐतिहासिक पद्धति देश एव काल की सापेक्षता मे किसी धर्म के ऐतिहासिक स्वरूप का विवेचन करती है। धर्म के अध्ययन मे मनोविज्ञान ने भी आधुनिक युग मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। फ्रॉयड एव युग की मनोवैज्ञानिक अवधारणाओ के आधार पर विश्व के सभी धर्मों मे प्राप्त कुछ महत्वपूर्ण बिम्बो/प्रतीको/सकेतो/अवधारणाओ की विवेचना मनुष्य के अन्तर्निहित मूल सवेगो के साथ जोड कर की गई है। समाजशास्त्रियो ने समाज/देश एव समूह के चित्त/मन की भी कल्पना की है। कहने का आशय यह है कि अब धर्म का ऐतिहासिक अध्ययन बहुविधात्मक शोध एव ज्ञान की अपेक्षा रखता है। धर्म को राजनीति, सामाजिक व्यवस्था, अर्थव्यवस्था एव अन्य भौतिक क्रियाकलापो से पृथक् कर के नही देखा जा सकता है। आर्थिक क्रिया कलाप पर धर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देता है। अत धर्म के ऐतिहासिक अध्ययन के प्रसग मे यह अनिवार्य है कि किसी भी धर्म के उद्‌भव एव विकास को समग्रता मे देखा जाय।

१८वी शती से लेकर २०वी शती तक धर्म के क्षेत्र मे जो अध्ययन हुए है, उससे धर्म के इतिहास को न केवल विशुद्ध मौलिक स्वरूप ही प्राप्त होता है, अपितु उसे सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित वैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय आधार भी प्राप्त होता है। अनेक पाश्चात्य एव भारतीय विद्वानो ने धर्म के इतिहास एव उसके विविध स्रोतो को समझने के लिए गहन अध्ययन कार्य किये है। पाश्चात्य विद्वानो मे कार्ल मार्क्स (१८१८–१८८३), मैक्समूलर (१८२३–१९००), ई०बी० टायलर (१८३२–१९१७), ई० दुर्खीम (१८५८–१९१७), मैक्स बेबर (१८६४–१९२०), आर० पेट्‌टाजोनी (१८८३–१९५९), बी० मालिनॉफस्की

(१८८४–१९४१), मर्सिया इलियड (१९०७–१९८७) आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसने धर्म को एक वैज्ञानिक एव समाजशास्त्रीय आधार प्रदान किया। मैक्समूलर ने सर्वप्रथम १८६७ मे इसी सदर्भ मे अध्ययन करते हुए एक तकनीकी शब्द रिलीजनस्वीसेनशाफ्ट (Relıgıon-Swıssenschaft) का प्रयोग किया है– जिसका अर्थ धर्म का विज्ञान (Scıence of Relıgıon) या धर्मों का इतिहास (Hıstory of Relıgıons) या धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन (Comparatıve study of relıgıons) से लिया गया है। एमिले दुर्खीम जिन्हे प्रसिद्ध फ्रेच समाजशास्त्री के रूप मे जाना जाता है, ने धर्म के समाजशास्त्रीय रूप को प्रमुखता प्रदान की है। उनके इस महत्वपूर्ण कार्य का उल्लेख 'दि इलेमेन्ट्री फार्मस् ऑफ रिलीजस् लाइफ' मे विस्तार से मिलता है। १९१२ मे मर्सिया इलियड ने धर्म के अध्ययन के वैज्ञानिक आधार को ऐतिहासिक रूप प्रदान किया। आर०जी० भण्डारकर, डी०डी० कोसम्बी, रोमिला थापर, कुणाल चक्रवर्ती, रमेद्रनाथ नदी आदि भारतीय विद्वानो ने भी धर्म को एक सुनिश्चित सामाजिक आधार प्रदान किये। रमेद्रनाथ नदी ने १९८६ मे कलकत्ता से प्रकाशित पुस्तक 'सोशल रूट्स ऑफ रिलीजन इन एन्शियन्ट इडिया' मे हिन्दू धर्मसबधी तथ्यो पर प्रकाश डाला है। कुणाल चक्रवर्ती ने 'रिलीजस प्रोसेस – दि पुराणाज एण्ड दि मेकिग ऑफ ए रीजनल टेड्रीशन' मे विविध पुराणों के तिथियुक्त विवरण देने के साथ–साथ बंगाल मे शाक्त सम्प्रदाय के उद्भव एव विकास पर स्पष्ट प्रकाश डाला है। स्पष्ट है कि स्वतत्रता से पूर्व व उसके पश्चात् धर्म को वैज्ञानिक, सामाजिक जैसे मूल्यो से जोडकर पाश्चात्य जगत में अनेक लेखन–कार्य हुए, किन्तु भारतीय परिवेश मे इतिहास–लेखन के अन्तर्गत धर्म सबंधी जो अध्ययन कार्य हुए वे अधिकाशत. स्वतत्रता–प्राप्ति के पश्चात् के ही दिखाई पडते है।

भारतीय सस्कृति सदैव से ही धर्म प्रधान रही है। नाना मनीषियो, चिन्तको, धर्मवेत्ताओं आदि ने समय–समय पर धर्म का अध्ययन अपने बौद्धिक परिप्रेक्ष्य में किया

है। भारतीय धर्म एव उससे सयुक्त विविध पक्षो पर यदि ध्यान दिया जाय, तो इसमे अनेक ऐसी सभावनाये दिखाई पडती है जिसके द्वारा उसके ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे अध्ययन करना नितात आवश्यक प्रतीत होता है। कोई भी इतिहासकार धर्म का अध्ययन करते समय देश—काल को अवश्य ध्यान मे रखता है और वह उन ऐतिहासिक कारणो को प्रस्तुत करना चाहता है, जो किसी निश्चित देश—काल की सीमाओ मे कुछ विशेष प्रकार के धर्मों एव सम्प्रदायो को जन्म देता है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के विषय के रूप मे "भारतीय कला एव साहित्य मे राधाकृष्ण सम्प्रदाय" का चयन दो दृष्टियो को ध्यान मे रख कर किया गया है। प्रथमत राधा कृष्ण तत्व की समीक्षा तथा भारतीय सस्कृति पर उसका प्रभाव एव द्वितीयत एक सम्प्रदाय के रूप मे राधा—कृष्ण का अस्तित्ववान होना। एक सामान्य धारणा यह है कि राधा—कृष्ण सम्प्रदाय (राधा—वल्लभ सम्प्रदाय) मध्यकाल की देन है। कितु मध्यकाल मे इन सम्प्रदायों का आकस्मिक अस्तित्व कैसे आया? ऐतिहासिक पद्धति हमे बताती है कि किसी भी चीज का जन्म शून्य में या शून्य से नही होता। अत जो विकास राधा—कृष्ण सम्प्रदाय का मध्यकाल मे दिखता है उसकी पूर्वपीठिका का गहन अन्वेषण आवश्यक है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इसी उद्देश्य को लेकर किया गया एक प्रयास है। चूँकि इस विषय की कालगत सीमा निर्धारित नही की गई थी, अत प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे इस तथ्य के लचीलेपन का उपयोग करते हुए मैने मध्यकालीन चित्रकला के साक्ष्यो का उपयोग भी किया है। प्राचीन इतिहास की सामान्यत स्वीकृत तिथि १२००—१३०० ई० है, अतः यहॉ तक के विषय सम्बद्ध साक्ष्यो को लेना अनिवार्य था, कितु मध्यकालीन प्रवृत्तियो के उद्गम को पूर्वमध्यकाल से जोड कर देखने की आवश्यकता है। अत मध्यकालीन चित्रकला के साक्ष्यो के उपयोग का औचित्य स्वत· सिद्ध है।

प्रस्तुत शोध–विषय मे साहित्य एव कलागत साक्ष्यो के आधार पर राधाकृष्ण सम्प्रदाय को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की समग्रता मे विवेचित करने का प्रयास किया गया है। यदि सामाजिक एव भौतिक परिस्थितियॉ धर्म को प्रभावित करती है तो धर्म भी इनके साथ अन्त क्रियात्मक सम्बन्धो के द्वारा अपना प्रभाव छोडता है। राधाकृष्ण तत्व का एक सम्प्रदाय के रूप मे अस्तित्ववान होना देशकाल की सापेक्षता मे सामाजिक पृष्ठभूमि के भौतिक धरातल का ज्ञान अपेक्षित रखता है, वही राधाकृष्ण तत्व ने कैसे इन भौतिक पक्षो को प्रभावित किया, इसका विश्लेषण भी आवश्यक है। साहित्य एव कला प्रत्यक्षत राधाकृष्ण तत्व से प्रभावित है किन्तु जिस धरातल मे इनका सृजन हुआ, उनके कारक तत्व क्या थे? इनके विश्लेषण एव अनुसन्धान के बिना धर्म का अध्ययन एकागी और अपूर्ण रहता है।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि मे राधाकृष्ण तत्व की समीक्षा करने पर यह स्पष्ट होता है कि इस युगल स्वरूप ने भारतीय संस्कृति के मूर्त एव अमूर्त दोनो पक्षो को कितनी गम्भीरता से प्रभावित किया है।

यहॉ यह उल्लेखनीय है कि राधा शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या के आधार पर अनेक विद्वान यह मानते हैं कि राधा केवल एक भाव है, एक अनुभूति है– अत उसका ऐतिहासिक अध्ययन सम्भव नही है। यह सत्य है कि राधा एक 'भाव' भी है उसी प्रकार जैसे 'ईश्वर', 'आत्मा' आदि एक भाव है। परन्तु इस भाव ने देश और काल की सापेक्षता मे किसी समाज को कैसे उद्वेलित किया, कैसे अनुप्राणित किया, कैसे इसे व्यक्तिगत एव समष्टिगत चेतना द्वारा रूपायित किया गया– इन गम्भीर प्रश्नो की अनदेखी कोई भी ऐतिहासिक अध्ययन नही कर सकता है। भाव शून्य मे नही उत्पन्न होते; उनका विकास, उनकी गति, उनकी अभिव्यक्ति ठोस भौतिक धरातल पर ठोस

प्रतीको के माध्यम से होती है। अत राधा भाव की ऐतिहासिक अभिव्यक्ति इस शोध प्रबन्ध का प्रमुख विषय है।

राधा और कृष्ण दोनो एक ही तत्व की युगलमूर्ति माने जाते है। श्रीकृष्ण रासेश्वर है, राधिका रासेश्वरी। ये नित्य रासेश्वरी भगवान् के रास की नित्य स्वामिनी है। इसके बिना भगवान नही रह सकते। राधा कोई मृण्मयी मूर्ति न होकर वह चिन्मय विग्रहवती है। वह पार्थिव प्रतिमा न होकर पराशक्ति का प्राकट्य है। राधा भारतीय वाड्मय के सरोवर मे प्रस्फुटित होने वाली सर्वश्रेष्ठ कनक कज–कलिका है। वह काव्य की अधिष्ठात्री, भक्ति की निर्झरिणी, कला की उत्स और प्रेम की प्रतिमा है। राधा मे तारूण्य, कारूण्य एव लावण्य तीनो का समावेश है। राधा एक अनुभूति, एक भावना, एक कल्पना, एक चिन्तना, एक माधुरी है। राधा भारतीय भक्ति और अनुरक्ति की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। वास्तव मे भारतीय साधना और अराधना की परिणति का नाम है– राधा। अतएव विभिन्न कालो मे राधा और कृष्ण के स्वरूप एव उनमे होने वाले परिवर्तनो के साथ एक स्वतत्र एव महत्वपूर्ण सम्प्रदाय के केन्द्रीय देवता के रूप मे उनकी प्रतिष्ठा आदि गम्भीर चिन्तन एव ऐतिहासिक शोध का विषय प्रतीत होते है। इसके अतिरिक्त वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे राधाकृष्ण सम्प्रदाय ने न केवल लोकप्रियता प्राप्त की है अपितु सहज ही वैश्विक स्तर पर भी प्रतिष्ठित हो चुका है। ये दो प्रधान कारण है, जो प्रस्तुत शोध विषय को महत्वपूर्ण और प्रासंगिक बनाते है।

वर्तमान मे समस्त हिन्दू–समाज मे राधा और कृष्ण की उपासना विशेष रूप से प्रचलित दिखाई देती है। इसका ज्वलन्त प्रमाण उससे सम्बन्धित विविध व्रत, पर्व एव उत्सव आदि है जो वर्तमान मे इसकी जीवतता को बनाये हुए है। कृष्णाष्टमी, राधाष्टमी आदि जैसे व्रतोत्सव इस बात के द्योतक है। वैसे राधा एव कृष्ण का नामोल्लेख विविध साहित्यिक ग्रथो में प्राप्त होता है किन्तु राधाकृष्ण की उपासना का स्वतंत्र विकास

पूर्वमध्यकाल मे दिखाई पडता है। पद्मपुराण (६वी शती से लेकर १४वी शती के मध्य), देवीभागवत (११वी या १२वी शती के लगभग), ब्रह्मवैवर्तपुराण (१०वी–१६वी शती के मध्य) के अतिरिक्त जयदेवकृत गीतगोविन्द (१२वी शती के अतिम चरण) निम्बार्क सम्प्रदाय (१२वी शती) के साथ–साथ परमारवशीय धारनरेश मुज के अभिलेख (६७४), मडोर से प्राप्त अभिलेख (८–६वी शती के लगभग) आदि, से राधाकृष्ण से सम्बन्धित जो भी अध्ययन–कार्य हुआ, वह मात्र धार्मिक दृष्टि से था किन्तु ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे इन दोनो के युगल रूप मे क्या विकासानुक्रम रहा अथवा कला (मूर्तिकला) के विशेष सदर्भ मे कब से दोनो का अकन प्रारम्भ हुआ, अथवा राधा और कृष्ण के प्रतिमाशास्त्रीय स्वरूप को निर्धारित करने मे कौन–कौन से लक्षण मानक रूप मे निर्धारित हुए है, और वे कौन सी परिस्थितियॉ थी, जब राधाकृष्ण सम्प्रदाय का उद्भव एव विकास हुआ, आदि का विशद् अध्ययन अपेक्षित है, जो इस शोध प्रबन्ध का प्रमुख उद्देश्य है।

भारतीय धर्म के इतिहास लेखन–विशेषकर पौराणिक एव वैष्णव धर्म सबधी लेखन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि विविध विद्वानो, चिंतको एव इतिहासकारों ने अनेक प्रारूपों, प्रतिमानो एव पद्धतियो के आलोक मे धर्म की व्याख्या करने का प्रयास किया है। इसी दृष्टिकोण के अन्तर्गत राधा कृष्ण तत्व की भी विवेचना की जा सकती है। राधा कृष्ण का धार्मिक देवी–देवता के रूप मे विकास पुराणो मे दिखाई पडता है। दूसरे शब्दो मे यदि इन्हे पौराणिक देवता कहा जाय, तो इसमे कोई अतिश्योक्ति नही होगी। पौराणिक धर्म पर वृहद् अध्ययन १६४६ के लगभग एच०एच० विल्सन ने किया था जिसमे उन्होने हिन्दुओ के विविध धार्मिक सम्प्रदायो के ऊपर भी प्रकाश डाला है। उन्होने दो महान साम्प्रदायिक दैवी–शक्तियो विष्णु और शिव का भी उल्लेख किया है जिसका वैदिक काल से लेकर पुराणो के समय तक अस्तित्व विद्यमान रहा है। इसके अतिरिक्त बार्थ के 'रिलीजन्स ऑव इडिया' (१८८२), मोनियर विलियम्स

के 'रिलीजस थॉट्स एण्ड लाइफ इन इडिया' (१८६५), चार्ल्स इलियट के 'हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म' (१६२१) मे भी पौराणिक सम्प्रदायो के विषय मे विस्तार से उल्लेख प्राप्त होता है। १६१३ मे आर० जी० भडारकर की पुस्तक 'वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर सेक्ट्स' मे पौराणिक धर्म के इतिहास को एक सुनिश्चित आधार प्राप्त हुआ है। एच० सी० रायचौधरी ने 'मैटीरियल फॉर द स्टडी ऑफ दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णविज्म' (१६२०), जेन गोडा ने 'अर्ली विष्णुइज्म' (१६५४), सुकुमारी भट्टाचार्य ने १६७८ मे विष्णु एव शिव के विकासात्मक ऐतिहासिक स्वरूप का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है जिसका निबध रूप मे सग्रह ए० ऐसच्मेन द्वारा सपादित 'जगन्नाथ कल्ट एण्ड द रीजनल ट्रेडीशन ऑफ उडीसा' मे किया है। उर्मिला भगोवालिया ने 'वैष्णविज्म इन अर्ली मैडिवल नार्थ इडिया' मे विस्तार से पौराणिक वैष्णव सम्प्रदाय पर अध्ययन–कार्य किया है। स्पष्ट है कि पौराणिक धर्म व तत्सम्बधी प्रमुख देवता पर अनेक ग्रन्थ रचित हुए।

भारतीय धर्म के आधुनिकतम इतिहास लेखन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि स्वतत्र रूप से राधा एव कृष्ण सम्प्रदाय पर गम्भीर शोध एव लेखन–कार्य बहुत कम हुआ है। जिन प्रमुख विद्वानो ने राधा एव कृष्ण को अपने अध्ययन का विषय बनाकर स्वतंत्र/सयुक्त रूप से लेखन किया है उनमे से निम्नलिखित कुछ प्रमुख नाम धार्मिक इतिहास लेखन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है– सुनील कुमार भट्टाचार्य की कृति 'कृष्ण–कल्ट', के०एम० मुशी, की रचना 'कृष्णावतार' खड I, आशा गोस्वामी, के 'कृष्ण–कथा एण्ड एलाइट मैटर्स', बी०बी० मजूमदार के, 'कृष्ण इन हिस्ट्री एण्ड लीजेड', मिल्टर सिंगर (स), 'कृष्ण' मीथस् राइट्स एण्ड एटीट्यूट', डेविड आर० किन्सले, 'दि डिवाइन प्लेयर : ए स्टडी ऑव कृष्ण–लीला', बलदेव उपाध्याय, 'भारतीय वाङ्मय मे श्रीराधा', शशिभूषण दासगुप्त, के 'श्रीराधा' का क्रम–विकास–दर्शन और साहित्य मे, कल्याणमल लोढ़ा, के 'भारतीय साहित्य में राधा', विजयेन्द्र स्नातक, के 'राधावल्लभ

सम्प्रदाय–सिद्धात एव साहित्य' जॉन स्ट्रेटन हावले एण्ड डोना मेरी वुल्फ, के दि डिवाइन कन्सोर्ट राधा एण्ड दि गॉड्ेस ऑव इडिया, इत्यादि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है।

इसके अतिरिक्त वैष्णव धर्म से सम्बन्धित सभी प्रमुख एव महत्वपूर्ण लेखनो मे भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से राधा एव कृष्ण सबधी सामग्री प्राप्त होती है। ऐसे लेखनो मे– सुवीरा जायसवाल, कृत 'वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास', एस० सी० मुकर्जी, के 'ए स्टडी ऑव वैष्णविज्म इन एन्शियन्ट एण्ड मैडिवल बगाल', पी० बनर्जी, के 'दि ब्लू गॉड', व 'कृष्ण दि लिविग गॉड ऑव ब्रज', आर० चम्पकलक्ष्मी के 'वैष्णव आइकनोग्राफी इन दि तमिल कन्ट्री', रतन परिमो, के 'वैष्णविज्म इन इडियन आर्टस् एण्ड कल्चर', इत्यादि प्रमुख है।

भारतीय धर्म में इतने सम्प्रदाय, उपसम्प्रदाय, प्रवृत्तियॉ एव वर्गीकरण है कि उन्हे एक–दूसरे से पूर्णतः भिन्न कर के देखना असम्भव हो जाता है। उदाहरणस्वरूप भक्ति एवं तत्र दो इसी प्रकार की धार्मिक प्रवृत्तियॉ है जिन्होने भारत के समस्त सम्प्रदायो को गम्भीरता से प्रभावित किया है। विशेषकर शैव, शाक्त एव वैष्णव धर्मो पर इन प्रवृत्तियो का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देता है। ऐसी कृतियो से भी राधा–कृष्ण सम्प्रदाय के ऊपर सामग्री प्राप्त होती है। इनमे– सुस्मिता पाडे, की रचना 'बर्थ ऑव भक्ति इन इडियन रिलीजन्स एण्ड आर्ट', कृष्णवल्लभ द्विवेदी, के 'हिन्दू धर्म का गौरव ग्रथ', ए०एन० चटर्जी, के 'श्रीकृष्ण चैतन्य– ए हिस्टोरिकल स्टडी ऑन गौडीय वैष्णविज्म', एस०सी० बनर्जी, 'तत्र इन बंगाल– ए स्टडी इन इट्स ओरिजिन डेवलपमेन्ट एण्ड इन्फ्लूएन्स' इत्यादि की प्रमुख रूप से गणना की जाती है।

इसके अतिरिक्त शोध–पत्रिकाओं, समाचारपत्रो आदि मे प्रकाशित सामग्री से भी राधाकृष्ण सम्प्रदाय को समझने मे सहायता प्राप्त होती है, इनमे से कुछ प्रमुख इस

प्रकार है– ए०के० मजूमदार, के 'ए नोट ऑन दि डेवलपमेन्ट ऑव राधा कल्ट' (एनल्स ऑव दि भडारकर ओरियन्टल रिसर्च इस्टीट्यूट, खण्ड XXXVI, १९५५), जे०एन० बनर्जी, के प्रकाशित लेख 'दि पचवीराज् ऑव दि वृष्णिस्' (जर्नल ऑव इण्डियन सोसाइटी ऑव ओरियन्टल आर्ट, खण्ड X), डी० आर० भडारकर, के लेख 'दि टेम्पुल्स ऑव ओसियॉ' (आर्किलाजिकल सर्वे ऑव इडिया, एनुअल रिपोर्ट, १९०८–०९), सग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, उ०प्र० लखनऊ, (अक नवम्बर, जून ७८–दिसम्बर ७९), समाचारपत्र, आज (साप्ताहिक विशेषाक, २९ अगस्त, १९७१) इत्यादि है।

धर्म के उपर्युक्त आधुनिकतम इतिहास लेखन के सक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि राधाकृष्ण तत्व के एक सम्प्रदाय के रूप मे विकसित होने की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा प्रक्रिया पर कार्य नही हुआ है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इसी दिशा मे किया गया एक लघु प्रयास है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लिए जिन साक्ष्यो की विवेचना की गई है, उन्हे मुख्यत दो वर्ग में रख सकते है। प्रथमत· साहित्यिक साक्ष्य एवं द्वितीयत पुरातात्विक साक्ष्य। जहाँ तक साहित्यिक साक्ष्यो का प्रश्न है, प्राचीन भारतीय साहित्य की एक दीर्घ एव समृद्ध विरासत इतिहासकारो को उपलब्ध है जिनमे मुख्यत सस्कृत, पालि–प्राकृत एव तमिल इत्यादि भाषा के साक्ष्यों को रखा जाता है।

विशेषत· सस्कृत साहित्य के अन्तर्गत आने वाले प्रमुख धार्मिक एव लौकिक ग्रथो को प्रमुख अध्ययन स्रोत के रूप मे विशेष स्थान दिया गया है। इनमे वैदिक वाङ्मय (जैसे ऋग्वेद, छान्दोग्योपनिषद् इत्यादि), महाकाव्य (महाभारत), पुराण (भागवत, पद्म, ब्रह्मवैवर्त इत्यादि), अमरकोष, पचतत्र, वेणीसहार, दशावतारचरितम्, गीत गोविन्द इत्यादि प्रमुख है। इसी प्रकार प्राकृत, तमिल भाषा संबधी ग्रथो को भी राधाकृष्ण सबधी साक्ष्य को विवेचित करने के लिए साक्ष्य के रूप में प्रयोग किया है।

पुरातात्विक साक्ष्यो मे मुख्यत कलागत साक्ष्यो की भी विवेचना की गई है। कलागत साक्ष्यो मे मुख्यत स्थापत्य, मूर्तिकला एव चित्रकला के प्रमुख उदाहरण अध्ययन के विषय के रूप मे लिये गये है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध मे विविध साहित्य साक्ष्यो एव कलागत साक्ष्यो के आधार पर राधाकृष्ण सम्प्रदाय के स्वरूप पर प्रकाश डालने का यथावत प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध को सात अध्यायो मे विभाजित करके अध्ययन किया गया है–

प्रथम अध्याय मे धर्म शब्द का सकीर्ण एव विस्तृत अर्थ, स्वरूप एव विविध आधुनिक सिद्धान्त के अन्तर्गत धर्म की उत्पत्ति एवं विकास का अध्ययन करने का सक्षिप्त रूप से प्रयास किया गया है। धर्म यह चिरन्तन मूल्य है जिससे मानवता धारण की जाती है, सभ्यताएँ एव सस्कृतियॉ इसी के आधार पर विकसित एव प्रसारित होती हैं तथा इसी से सामाजिक जीवन सबलित होता है। वस्तुत धर्म मनुष्य के अन्त करण एव इन्द्रियो को औचित्य–बोध कराने व उसके सम्पूर्ण व्यवस्था को सुचारू रूप से गतिशील रखने का सर्वोत्तम साधन है। इस प्रकार धर्म का आयाम अत्यन्त विस्तृत है। धार्मिक अनुभूति के पश्चात् ही पथ, सम्प्रदाय, धार्मिक समुदाय आदि उद्भूत होते है। अतः इसी सदर्भ मे सेक्ट व कल्ट जैसे शब्दो पर भी सक्षेप मे चर्चा–परिचर्चा करने का प्रयास किया गया है। **द्वितीय अध्याय** मे राधा कृष्ण तत्व की प्राचीनता, साहित्यिक, कलागत, मौद्रिक एव आभिलेखिक साक्ष्यो के सदर्भ मे उल्लेख एव उसके क्रमिक विकास का ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। **तृतीय अध्याय** मे राधाकृष्ण का भारतीय कला मे क्या स्वरूप है?, का अध्ययन है। इस अध्याय को अध्ययन की सुविधा दृष्टि से तीन भागो मे विभक्त किया गया है– (१) मदिर एव मूर्तिकला मे राधाकृष्ण, (२) चित्रकला मे राधाकृष्ण का रूपाकन और (३) प्रतिमा लक्षण राधा एव

कृष्ण। मूर्तिशिल्प के अन्तर्गत कृष्ण के विविध मूर्ति उत्कीर्णन् के साथ–साथ राधा विषयक सभावित एकाकी व कृष्ण के साथ युगल रूप सबधी मूर्तिशिल्प के सदर्भ मे अध्ययन किया गया है। इसके साथ ही साथ इस तथ्य पर भी विवेचना की गई है कि कृष्ण की प्रारम्भिक काल (यद्यपि स्वतत्र मूर्ति रूप मे नही) से प्रचुर मात्रा मे मूर्तियॉ प्राप्त होती है, किन्तु राधा के सदर्भ मे ऐसा क्यो नही मिलता। चित्रकला मे राधा कृष्ण का अकन पूर्वमध्यकाल के परवर्ती युग मे विकसित होने वाली राजस्थानी एव पहाडी चित्रकला के अन्तर्गत प्राप्त होता है। यद्यपि राजस्थानी एव पहाडी चित्रकला की कई शैलियॉ एव उपशैलियॉ है, और सभी मे प्रचुर व अल्प मात्रा मे राधाकृष्ण के स्वरूप का अकन हुआ है किन्तु इस शोध प्रबन्ध मे इसको एक उप अध्याय के रूप मे सम्मिलित करने के कारण एक झलक स्वरूप राजस्थानी चित्रकला के अन्तर्गत आने वाली मारवाड शैली की मात्र किशनगढ शैली व पहाडी चित्रकला की कागडा शैली पर सक्षेप मे विचार प्रस्तुत किये गये हैं। प्रतिमा लक्षण के अन्तर्गत कृष्ण एव राधा के पृथक्–पृथक् स्वरूप की चर्चा की गई है तथा प्राप्त साहित्यिक/शिल्पशास्त्रीय ग्रथो के आधार पर उनके प्रतिमा–निर्माण सबधी निर्देशो को विवेचित किया गया है। **चतुर्थ अध्याय** मे प्राचीन सस्कृत साहित्य के अन्तर्गत आने वाले धार्मिक एव लौकिक साहित्य सम्बन्धी विविध ग्रन्थो मे राधाकृष्ण का क्या स्वरूप वर्णित है? का अध्ययन है। **पचम अध्याय** मे धर्म एव दर्शन मे राधा तत्व की विवेचना की गई है। धर्म के अन्तर्गत राधा एव कृष्ण से सम्बन्धित व्रत, उत्सव, पूजा–अर्चन तीर्थ एव उनसे प्राप्त पुण्यफलो को वर्णित किया गया है तथा दर्शन के क्षेत्र मे राधाकृष्ण से जुडे अनेक सम्प्रदायो जैसे निम्बार्क, चैतन्य, राधावल्लभ हरिदासी पर सक्षिप्त रूप से अनुशीलन किया गया है। इसके अतिरिक्त साख्य के प्रकृति–पुरुष से राधा–कृष्ण का अतिसक्षिप्त सबध स्थापित करने का भी प्रयास किया गया है। **षष्ठम् अध्याय** मे राधाकृष्ण सम्प्रदाय के उद्‌भव एव

विकास के समय पूर्वमध्यकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि किस प्रकार की थी तथा इस पृष्ठभूमि के किन तत्वो ने राधाकृष्ण को प्रतिष्ठित करने मे सहयोग प्रदान किया गया का अध्ययन करने का यथावत प्रयास किया गया है। उपसहार के रूप मे **सप्तम् अध्याय** को विवेचित किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के समस्त अध्यायो मे राधाकृष्ण तत्व एव उसको सम्प्रदाय के रूप मे प्रतिष्ठित करने वाले प्रमुख तत्वो की ओर ध्यान आकृष्ट करवाने का प्रयास किया गया है।

परिशिष्ट मे 'राधा एव नारीवादी विमर्श' के सदर्भ मे कुछ विचार सक्षेप मे अभिव्यक्त किया गया है।

आभार

प्रस्तुत शोध–कार्य की पूर्णता के लिए अपने श्रद्धेय गुरुजनो विद्वत्‌जनो परिजनो, मित्रो एव शुभेच्छुओ के प्रति आभार के दो शब्द व्यक्त करना मै अपना परम कर्त्तव्य समझती हूँ, जिनके बहुविध सहयोग के बिना यह कार्य अत्यन्त दुष्कर हो जाता। सर्वप्रथम मै उस अलौकिक, दिव्य एव सर्वव्याप्त महत् सत्ता के प्रति अपना नमन अर्पित करती हूँ जिसने मुझे न केवल इस विषय पर कार्य की प्रेरणा प्रदान की, अपितु सदैव अपने 'राधा कृष्ण' रूपी स्नेहमय सरक्षण मे रखा। गुरू–शिष्य परपरा, भारतीय सनातन परपरा है। पृथ्वी पर जब दिव्य शक्तियो (राम व कृष्ण) का प्रादुर्भाव हुआ, तो वे भी गुरू की शरण मे गये। ज्ञान की प्राप्ति असहज है लेकिन गुरू उसको सहज बना देता है। गुरू ही वह रस्सी है, जिसको पकडकर ज्ञान की गगा मे गोते लगाये जा सकते है और उसी रस्सी को पकडकर भवसागर से पार हुआ जा सकता है। जैसा कि सर्वविदित है कि–

गुरूर्ब्रह्मा गुरूर्विष्णु, गुरूर्देवो महेश्वर ।
गुरू साक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्री गुरूवे नम ।।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के विषय–चयन से लेकर पूर्णाहुति तक निरन्तर डॉ० पुष्पा तिवारी, (वरिष्ठ प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, सस्कृति एव पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) से जो प्रेरणा, प्रोत्साहन एव उचित मार्गदर्शन मुझे प्राप्त हुआ, उसके अभाव मे उक्त अध्ययन सम्भव नही था। विश्वविद्यालय के कार्यों मे अत्यधिक व्यस्त

रहते हुए भी पूजनीय गुरूवर ने शोध–प्रबन्ध सम्बन्धित जो अमूल्य सुझाव एव स्पष्ट निर्देशन प्रदान किये उसके लिए श्रद्धा से मैं उनको कोटिश नमन करती हूँ।

शोध–प्रबन्ध कार्य मे विभाग के वर्तमान अध्यक्ष प्रो० आर०पी० त्रिपाठी के प्रति मै किन शब्दो मे कृतज्ञता ज्ञापित करूँ जिन्होने इस कार्य को करने मे न केवल उत्साहवर्द्धन ही किया, अपितु सदैव अपने स्नेह व आशीर्वाद की छत्र–छाया भी प्रदान की। शोध–प्रबन्ध कार्य मे सहायक उन समस्त श्रद्धेय, पूजनीय, सम्माननीय इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास सस्कृति एव पुरातत्व विभाग के भूतपूर्व विभागाध्यक्ष गुरुवरो प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, प्रो० बी०एन०एस० यादव, प्रो० यू०एन० राय प्रो० एस०एन० राय, प्रो० एस०सी० भट्टाचार्य, प्रो० वी०डी० मिश्र एव प्रो० ओ०पी० यादव के प्रति मै अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिनकी प्रेरणा मुझे सतत् प्रोत्साहित करती रही है। प्रेरणा के अजस्र–स्रोत आदरणीय गुरुजनो डॉ० जी०के० राय डॉ० जे०एन० पाण्डेय, डॉ० जे०एन० पाल, डॉ० एच०एन० दुबे, डॉ० उमेश चन्द्र चट्टोपाध्याय डॉ० डी०पी० दुबे एव समस्त शिक्षकगण के प्रति मै विशेष आभारी हूँ, जिन्होने समय–समय पर मुझे महत्वपूर्ण सुझाव दिये तथा इस दुष्कर–कार्य को पूर्ण करने के लिए प्रेरित किया।

शोध–प्रबध कार्य को उत्साहित करने भूतपूर्व गुरुवर डॉ० आशा गुप्ता (हिन्दी विभाग, इलाहाबाद), प्रो० सत्यप्रकाश मिश्र (हिन्दी विभाग, इलाहाबाद), डॉ० मृदुला त्रिपाठी (सस्कृत विभाग, इलाहाबाद) के प्रति भी मै अपना आभार ज्ञापित करती हूँ। डॉ० उदयशकर तिवारी, निदेशक इलाहाबाद सग्रहालय, डॉ० गयाचरण त्रिपाठी, पूर्व प्राचार्य, गगानाथ झा केन्द्रीय सस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, श्री गोपराजू रामा, वर्तमान प्राचार्य, गगानाथ झा केन्द्रीय सस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद श्री हरिमोहन मालवीय, अध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, श्रीमती साधना चतुर्वेदी, सग्रहालय अध्यक्ष,

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, श्रीरजन शुक्ल (इलाहाबाद सग्रहालय) के प्रति भी मै विशेष कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

प्राचीन इतिहास सस्कृति एव पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद मे आयोजित अनेक राष्ट्रीय सगोष्ठियो मे आने वाले महत्वपूर्ण विद्वानो से मुझे परिचर्चा का सुयोग सहज ही प्राप्त होता रहा है। विशेषकर प्रो० रमानाथ मिश्र (भारतीय उच्च अध्ययन सस्थान, शिमला), प्रो० डी०एन० त्रिपाठी (भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास विभाग, गोरखपुर), प्रो० मस्तराम सिह (उज्जैन), प्रो० सीताराम दुबे (उज्जैन), प्रो० यू० पी० अरोरा (प्राचीन इतिहास विभाग, रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय बरेली), प्रो० अतुल कुमार सिन्हा (प्राचीन इतिहास विभाग, रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली), प्रो० पुरूषोत्तम सिह (भूतपूर्व विभागाध्यक्ष प्राचीन इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), प्रो० विभा त्रिपाठी (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), प्रो० अच्छे लाल यादव (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) इत्यादि ने मुझे उचित प्रेरणा व दिशा–निर्देशन प्रदान किया।

मेरे मित्रो एव शुभेच्छुओ, जिन्होने मेरे इस शोध–प्रबन्ध की कार्यावधि मे न मुझे केवल प्रोत्साहित किया, अपितु समय–समय पर अपने उचित सुझावो द्वारा मुझे सहयोग भी प्रदान किया। अशु गोयल, शालिनी सक्सेना, दीपा त्रिपाठी, डॉ० सतोष चतुर्वेदी (प्रवक्ता, मऊ, चित्रकूट), जय प्रकाश शुक्ला को ह्रदय से मैं धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ।

विभागीय पुस्तकालय के श्री सतीश चन्द्र और इलाहाबाद सग्रहालय के पुस्तकालय के श्री धीरेश जोशी के प्रति भी मैं आभारी हूँ। आवश्यकता के समय उन लोगो ने अनेक पुस्तके उपलब्ध कराकर मेरे इस कार्य मे सहयोग प्रदान किया। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय पुस्तकालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, गगानाथ झा केन्द्रीय शोध

सस्थान इलाहाबाद के पुस्तकालय, इलाहाबाद सग्रहालय के पुस्तकालय हिन्दुस्तानी एकेडेमी के पुस्तकालय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पुस्तकालय से भी मुझे शोध कार्य करने मे सहयोग मिला। साथ ही तीर्थराज प्रयाग क्षेत्र मे स्थित राधाकृष्ण सम्प्रदाय से सम्बन्धित मठो एव सस्थाओ के महतो से व्यक्तिगत साक्षात्कार द्वारा जो जानकारी मुझे प्राप्त हुई, उससे भी शोध प्रबध कार्य को एक सबल आधार प्राप्त हुआ। त्रिदण्डी स्वामी भक्तिाचार्य अवधूत महाराज, महत, रूपगौडीयमठ, तुलारामबाग, इलाहाबाद, सूर्यपतिदास प्रधान पुरोहित, स्कॉन (ISKCON) काशीराज नगर बलुआघाट इलाहाबाद के प्रति भी मै आभार प्रकट करती हूँ। छायाचित्रो के लिए मथुरा सग्रहालय, इलाहाबाद सग्रहालय इलाहाबाद के निदेशको व इलाहाबाद सग्रहालय के फोटोग्राफी विभाग के श्री प्रदीप श्रीवास्तव को मै धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ, जिन्होने चित्र सग्रह करने मे मुझे अभूतपूर्व सहयोग प्रदान किया।

शोध सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य मे मेरे परिजनो के सतत् सहयोग एव आशीर्वाद के अनुभव को भूल पाना, असम्भव है। परम पूज्यनीय पिता श्री राजेन्द्र प्रकाश अग्रवाल व माता श्रीमती ब्रजेश अग्रवाल को कोटिश प्रणाम करती हूँ जिन्होने इस कार्य को करने मे जहाँ एक मुझे निरन्तर प्रेरणा प्रदान की, वही, अध्ययन हेतु समय व अर्थ सम्बन्धी सुविधाएँ भी प्रदान की। आदरणीय चाचा जी, श्री रमेशचन्द्र अग्रवाल व चाची श्रीमती सुमन अग्रवाल की भी मै बहुत आभारी हूँ। उन्होने शोध–कार्य करने मे मुझे जो सतत् सहयोग एव उत्साहवर्द्धन किया, वह अकथनीय है। मै अपने छोटे भाई–बहनो के सराहनीय सहयोग को भी विस्मरण नही कर सकती हूँ। शोध–कार्य करने मे हुई कठिनाइयो के समय मे भी उनके प्रेम, व्यवहार व सहयोग ने मुझे सदैव आत्मीयता का एहसास कराया। प्रस्तुत शोध–प्रबध को वर्तमान रूप प्रदान करने का कार्य–भार वहन

श्री राकेश तिवारी राका प्रकाशन ने किया है जिसके लिये वे मेरे द्वारा धन्यवाद के पात्र है।

शोधार्थी ने बडे परिश्रम के साथ अधुनातम शोधो के सदर्भ मे इस शोध प्रबध का आद्योपात अध्ययन किया है तथा अध्यायो के साथ कुछ नवीन तथ्यो को सन्निविष्ट करने का प्रयास किया है। यदि शीघ्रता मे अध्ययन सबधी लेखन–कार्य मे कोई त्रुटि हो गई हो, तो इसके लिए शोधकर्त्री क्षमा प्रार्थिनी है।

लिली अग्रवाल
लिली अग्रवाल

श्रीशुभ सवत् २०६०
आषाढ शुक्ल पक्ष, विष्णुशयनी एकादशी
गुरूवार १० जुलाई इलाहाबाद

संस्तुत एवं अग्रसारित

Deptt OF Anc Hist
Cul & Arch
University OF Allahabad
29.7.03

प्रथम अध्याय

धर्म : अवधारणा, अर्थ एवं स्वरूप

प्रथम अध्याय

धर्म . अवधारणा, अर्थ एव स्वरूप

धर्म की अवधारणा, अर्थ एव स्वरूप स्पष्ट करते समय अनेक समस्याये सामने आती है। प्रथमत धर्म की तात्विक (Ontological) एव ज्ञानमीमासीय (Epistemological) विवेचना, द्वितीयत धर्म के ऐतिहासिक विकास मे सामूहिक। सामुदायिक चेतना द्वारा गढी गई ऐसी परिभाषाओ की विवेचना जो सीधे तौर पर सस्कृति–सापेक्ष और देश–काल की सीमाओ मे बँधी होती है। तात्विक एव ज्ञान–मीमासीय विवेचना धर्म की सार्वभौम, निरपेक्ष तथा सर्वग्राह्य अवधारणा प्रस्तुत करती है। इसके विपरीत ऐतिहासिक विकासानुक्रम की पृष्ठभूमि मे की जाने वाली धर्म की विवेचना अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है, जिसमे अन्तर्विषयक दृष्टिबोध के साथ–साथ प्रणाली विज्ञान/प्रणाली विश्लेषण (Methodology/Methods analysis) एक अनिवार्य तत्व के रूप मे सामने आता है। धर्म के अध्ययन मे सबसे बडी बाधा भाषा–विमर्श के क्षेत्र से आती है। भाषा विज्ञान एव भाषा दर्शन सस्कृति–सापेक्ष शब्दो के अर्थान्वयन की मूलभूत समस्याओ को चिन्हित करते है। ये समस्याये मुख्यत दो तथ्यो का सकेत करती है। प्रथमत भाषा की स्वायत्त, सार्वभौम, सरचना का तथ्य, द्वितीयत भाषा की निहायत वैयक्तिक सस्कृति–सापेक्ष सरचना का तथ्य। प्रथम समस्या हमे यह बताती है कि विश्व की सम्पूर्ण भाषाओ मे कुछ ऐसे सामान्य, आधारभूत सरचनात्मक नियम है जो उन्हे परस्पर जोडते है। ऐतिहासिक एव सास्कृतिक अध्ययन के क्षेत्र मे उपर्युक्त निष्कर्ष से सहायता प्राप्त होती है, क्योकि भाषा के सार्वभौम सिद्धान्त, विविध भाषाओ मे अन्तर्निहित जीवन के मूलभूत

पक्षो को उद्घाटित करने वाले शब्दो की समानता के आधार पर उनका अर्थान्वयन सम्भव बनाते है। किन्तु दूसरी समस्या भाषा की सार्वभौम अर्थान्वयन प्रक्रिया के समक्ष अनेक तर्कसगत प्रश्न उपस्थित करती है। भाषा एक कृत्रिम सरचना है, जो देश—काल की सीमाओ मे विविध समुदायो द्वारा अपने सास्कृतिक परिवेश मे गढी जाती है। अत सस्कृति विशेष से जुडे शब्दो का पर्याय दूसरी भाषाओ मे मिलना कठिन कार्य है। ऐसी स्थिति मे सस्कृतियो का ऐतिहासिक अनुशीलन असम्भव हो जायेगा क्योकि भाषा अपने ऐतिहासिक विकासक्रम मे न केवल नये शब्द गढती है, अपितु पुराने शब्दो के नवीन अर्थ भी सृजित करती है। अर्थात् एक ही भाषा अपने विकास क्रम के विविध कालखण्डो मे तुलनात्मक दृष्टि से देखे जाने पर भिन्न—भिन्न अर्थबोध, भावबोध एव सरचना के नियमो का उद्घाटन करती है जो सामान्यीकृत सास्कृतिक विश्लेषण को अवैज्ञानिक बनाने के लिये पर्याप्त है। ऐसी स्थिति मे अलग—अलग भाषाओ के आधार पर शब्दो के पर्यायवाची अर्थ का सधान तत्वत असम्भव प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचना का उद्देश्य मात्र यह बताना है कि धर्म का अध्ययन करते समय 'धर्म' शब्द की भाषा—विमर्शात्मक स्थिति का सज्ञान आवश्यक है। 'धर्म' सस्कृत भाषा का शब्द है। आधुनिक भाषाओ मे जो सस्कृत से नि सृत या प्रभावित है धर्म शब्द की जो अवधारणा/अर्थबोध/भावबोध दृष्टिगत होता है वह सस्कृत के मूल शब्द से अत्यन्त भिन्न है। 'ऋत' एव 'धर्म' दो ऐसे शब्द है जिनका अनुवाद असम्भव है। तथापि सास्कृतिक अध्ययन की ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय (Sociological) पद्धति ने अग्रेजी भाषा के 'रिलीजन' शब्द को धर्म का समानार्थी बना दिया है जो प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन मे विविध धार्मिक सम्प्रदायो की विवेचना करते समय अनेक कठिनाइयो और विरोधाभासो को जन्म देता है। यदि इस पृष्ठभूमि के सज्ञान मे 'धर्म' के अर्थ और स्वरूप की विवेचना करने का प्रयास किया जाय तो धर्म की

तात्विक/दार्शनिक अवधारणा के साथ–साथ उसकी सस्कृति–सापेक्ष अवधारणा भी स्पष्ट हो सकती है।

धर्म शब्द एक ऐसा परिचित शब्द है जिसका प्रयोग हम प्राय अपने दैनिक जीवन मे करते है। यही कारण हैं कि साधारण व्यक्ति भी धर्म शब्द के अर्थ को समझने मे किसी विशेष कठिनाई का अनुभव नही करता। जब सामान्य व्यक्ति से यह प्रश्न किया जाता है कि धर्म क्या है, तो वह इसका उत्तर हिन्दू, बौद्ध, इस्लाम ईसाई यहूदी इत्यादि धर्मों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए स्पष्ट शब्दो मे कहेगा कि मदिर मस्जिद, गिरजाघर आदि उपासना–स्थलो मे जाकर विशेष प्रकार से प्रार्थना या पूजा–पाठ करना ही धर्म है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी साधारण व्यक्ति के समक्ष धर्म शब्द का प्रयोग किया जाय तो उसके मन मे प्राय किसी विशेष उपासना–स्थल, उसमे विशेष प्रकार से पूजा करने वाले व्यक्तियो, जन्म, नामकरण, विवाह, मृत्यु आदि महत्वपूर्ण अवसरो पर सम्पन्न किये जाने वाले विशेष कृत्यो या अनुष्ठानो तथा विशेष प्रकार के वस्त्र पहने हुए ऐसे व्यक्तियो की छवि या चित्र सामने उभर कर आते है जिसे हम साधु या सत कहते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि, सामान्य व्यक्ति धर्म शब्द का तात्पर्य कुछ विशेष बाह्य वस्तुओ, भवनो, वस्त्रो पुस्तको व्यक्तियो एव प्रार्थना या पूजा–पाठ सम्बन्धी कर्मकाड से लगाते है।

धर्म शब्द का उपरोक्त सामान्य अर्थ व्यावहारिक रूप से सत्य प्रतीत होता है किन्तु यदि दार्शनिक दृष्टि से इस पर विचार किया जाय तो यह बहुत सतोषप्रद नही है। विशेष उपासना–स्थल, पवित्र–ग्रन्थ प्रार्थना अथवा पूजा–पाठ सम्बन्धी कर्मकाड एव अन्य धार्मिक अनुष्ठान धर्म के महत्वपूर्ण अग है जिन्हे हम धर्म का बाह्य पक्ष मान सकते हैं और जनसाधारण भी धर्म के इस बाह्‌य पक्ष को अत्यधिक महत्व देता है। अत धर्म

के अर्थ को स्पष्ट करने मे बाह्य पक्ष की महत्वपूर्ण भूमिका है।[1] सभी धर्मों मे धर्म का यह बाह्य पक्ष अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है जिसके द्वारा एक धर्म को दूसरे धर्म से पृथक किया जाता है। यद्यपि धर्मों मे भिन्नता है फिर सभी धर्मों के लिये एक ही शब्द धर्म का प्रयोग किया जाता है, जिससे स्पष्ट होता है कि सभी धर्मों मे कोई न कोई ऐसा तत्व अवश्य है जो उन्हे आपस मे एक–दूसरे से जोडता है।

यदि धर्म के व्यावहारिक पक्ष के साथ–साथ उसके सैद्धातिक या बौद्धिक पक्ष का भी अध्ययन किया जाय तो वह दार्शनिक दृष्टि से कुछ हद तक खरा उतरने मे सहायक सिद्ध हो सकता है। अत इसके लिए धर्म के मूल तत्वो पर विचार करना अति आवश्यक है जो किसी न किसी रूप मे सभी धर्मों मे विद्यमान है। सर्वप्रथम यह कहा जाय कि किसी अलौकिक या अतिमानवीय शक्ति अथवा सत्ता मे विश्वास करना धर्म का आधारभूत अनिवार्य तत्व है, तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी क्योकि यह तत्व सभी धर्मों मे किसी न किसी रूप मे अवश्य पाया जाता है,[2] चाहे वे प्राचीन युग के आदिम धर्म हो अथवा आधुनिक युग के विकसित धर्म। धर्म का दूसरा मूल तत्व उस अलौकिक शक्ति या सत्ता की पूजा अथवा उपासना है जो प्रत्येक धर्म मे अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है और इसके बिना किसी धर्म की कल्पना नही की जा सकती।[3] धर्म का तीसरा आधारभूत तत्व उन समस्त व्यक्तियो, स्थानो, पुस्तको एव वस्तुओ को अति पावन मानने से है जिसका सम्बन्ध इस अलौकिक शक्ति अथवा सत्ता से है।[4] यह तत्व भी सभी धर्मों मे अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है। धर्म का चौथा मूल तत्व जो प्रत्येक धर्म मे किसी न किसी रूप मे अवश्य निहित रहता है– वह मनुष्य के लिए दुख

---

१ वर्मा वेद प्रकाश धर्मदर्शन की मूल समस्याएँ दिल्ली १९९५, पृ० १

२ पूर्वोक्त पृ० २

३ पूर्वोक्त वही पृ०

४ पूर्वोक्त वही पृ०

से मुक्ति का आश्वासन माना जाता है।[1] यदि इस तत्व पर चिन्तन करे तो स्पष्ट होता है कि सभी धर्म मनुष्य को किसी न किसी रूप मे भवबन्धन रूपी दु ख से मुक्ति दिलाने का मार्ग बताते है।

इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से धर्म को समझने के लिए वही विचार सतोषजनक एव युक्तिसगत माने जा सकते है जिसमे विश्व के सभी धर्मों के मूल तत्व सम्मिलित हो।

भारतीय सस्कृति मे धर्म का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। अग्रेजी मे प्रयुक्त 'रिलीजन' शब्द से धर्म का सामान्य अर्थ बाह्य कर्मकाण्डो व धार्मिक क्रिया–विधियो से लगाया जाता है। इस प्रकार अग्रेजी भाषा का 'रिलीजन शब्द सीमित अर्थ का बोधक है जबकि धर्म शब्द बाह्य कर्मकाण्डो के लिए नही, अपितु सास्कृतिक सगठन व आध्यात्मिकता के लिए भी प्रयुक्त होता है।[2] पाश्चात्य सस्कृति मे रिलीजन' को परिभाषित करते हुए उसे एक पराशक्ति और उसके अधिकार एव कृपा से जोडा है जिसको प्रत्यक्ष रूप से केवल उसकी प्रार्थना द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। पाश्चात्य सभ्यता मे मनुष्य अपने अतिम ध्येय की प्राप्ति मात्र ईश्वर की कृपा एव अनुदान पर ही कर सकता है किन्तु भारतीय चिन्तनधारा मे मनुष्य धर्म के द्वारा स्वय प्रयत्न करके उसे प्राप्त कर सकता है।[3] स्पष्ट है कि भारतीय सस्कृति मे धर्म शब्द की अभिव्यक्ति अत्यन्त व्यापक रूप मे हुई है। धर्म मे ब्रह्म, देवी–देवता, धार्मिक–विधियॉ, कर्मकाण्ड, स्वर्ग–नरक तथा अन्य धार्मिक सिद्धान्त का समावेश तो रहता है साथ ही ऐसे अनेक

---

१ वर्मा वेदप्रकाश पूर्वोद्धृत वही पृ०

२ नायक जी०सी० ऋत् धर्म एण्ड सनातन धर्म इन इडियन कल्चर– ए क्रिटिकल एप्रैसल नेशनल सेमिनार ऑन हिस्ट्रोरियोग्राफी ऑव इडियन कल्चर (६–११ अक्टूबर २००२) इडियन इन्स्टीटयूट ऑव एडवास स्टडी राष्ट्रपति निवास शिमला पृ० १ ओझा अजु महाभारत के शैवधर्म जोधपुर २००० पृ० २

३ (स०) विशप डोनाल्ड एच० इडियन थॉट्स एन इन्ट्रोडक्शन नई दिल्ली १६७५, पृ० १६८

नियम एव विधि–विधान भी सम्मिलित है जिनसे व्यक्ति के अभ्युदय के साथ–साथ समाज की आध्यात्मिक एव भौतिक प्रगति भी हो सके।[१] स्वधर्म वर्णधर्म आश्रमधर्म कुलधर्म, राज देश, काल, नित्य, नैमित्तिक और आपद्धर्म आदि शब्द धर्म की प्रधानता के द्योतक है। इस रूप मे धर्म का एक अर्थ है–कर्त्तव्य। अत धर्म के माध्यम से व्यक्ति अपना सर्वांगीण विकास करके समाज के सदस्य के रूप मे अपने दायित्वो का न केवल निर्वाह करता है अपितु अन्ततोगत्वा जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है।[२]

धर्म शब्द धृ (धारणे) धातु मे मन् प्रत्यय लगने से उत्पन्न हुआ है[३]– जिसका अर्थ धारण करना है। *महाभारतकार* ने भी स्पष्ट उद्घोष किया है कि धारण करने वाले को धर्म कहते है।[४] धर्म मे निहित सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थो और जीवन पर धर्म के चिरस्थायी प्रभाव को भारतीय मनीषियो ने अत्यन्त पुराकाल मे ही परिलक्षित कर लिया था। इस तथ्य की पुष्टि **वृहदारण्यक उपनिषद** से भी होती है। इसमे उल्लिखित है कि ब्राह्मणादि चार वर्णो की उत्पत्ति करके भी विभूतियुक्त कार्यो मे समर्थ नही होने के कारण श्रेयोरूप धर्म की रचना की गई।[५] **श्रीमद्भागवत** मे धर्म को भगवत्प्रणीत कहा गया है।[६]

सर्वप्रथम धर्म शब्द का प्रयोग **ऋग्वेद** मे विशेषण या सज्ञा रूप मे हुआ है। अधिकाशत इसका प्रयोग धर्मन् इस रूप मे नपुसक लिग मे ही हुआ है, किन्तु कुछ ऋग्वेदीय ऋचाओ मे धर्म शब्द पुल्लिग मे भी प्रयुक्त हुआ है।[७] **ऋग्वेद** मे धर्म शब्द

---

१ (स०) विशप डोनाल्ड एच० पूर्वोद्धृत वही पृ०, ओझा अजु पूर्वोद्धृत पृ० २

२ पूर्वोक्त, ओझा अजु, पूर्वोद्धृत वही पृ०

३ आप्टे वामन शिवराम सस्कृत–हिन्दी कोश दिल्ली १९६६ पृ० ४८९ ओझा अजु पूर्वोद्धृत वही पृ०

४ महाभारत कर्णपर्व १०६ ५८

५ वृहदारण्यक उपनिषद् १४ १४ – स नैव व्यभक्तच्छ्रेयोरूपमत्य सृजत धर्म तदेतत्।

६ श्रीमद्भागवत, ६ ३ १९ – धर्म तु साक्षात् भगवत्प्रणीतम्।

७ ऋग्वेद ११८७१ १०९२२ १०२१३

धार्मिक विधियो या क्रिया–सस्कार के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है।[१] **ऋग्वेद** मे उल्लिखित ऋत शब्द को धर्म का पूर्वगामी माना जाता है।[२] ऋत का उल्लेख पूर्ववैदिक काल मे सृष्टि के मूल नियामक तत्व के रूप मे हुआ माना जाता है और देवता ऋत–सूत्र से जुडी–चित शक्तियॉ थी।[३] ऋत' की व्युत्पत्ति ऋ धातु से मानी जा सकती है जो गत्यर्थक बताई गई है।[४] इस प्रकार ऋत का मूल अर्थ होगा गति और गति का मार्ग हेतु एव लक्ष्य, लक्षणा से गति का नियम ठीक या सही प्रकार की गति। ऋत का सत्य के साथ सम्बन्ध प्रारम्भ से ही माना जाता है। अत 'ऋत' सत्य एव अविनाशी सत्ता है जो जगत की रचना के पूर्व मे ही विद्यमान थी और विश्व के विविध रूपो और कार्यों के बीच समन्वय स्थापित करने मे सहायता करती थी।[५] इस प्रकार इस विश्व मे प्रतिष्ठा, नियमन, व्यवस्था और रचना का आधार तत्व ऋत ही है। 'ऋत से ही सोम उद्भूत और सम्बन्धित है। 'ऋत' का विस्तार सूर्य से होता है और 'ऋत' से सरिताऍ प्रवाहमान होती है। इस तरह 'ऋत का अर्थ है– कारण सत्ता जो सत्यभूत ब्रह्म है। यह ऋत जगत् का एकमात्र नियामक है जो शक्ति सम्पन्न नियन्ता है।[६] इस प्रकार ऋत, सत्य और देवता एक ही तत्व के तीन आयाम थे। परवर्ती वैदिक युग मे देवताओ का ब्रह्म ने तथा ऋत का धर्म ने स्थान ले लिया।[७]

---

१ ऋग्वेद १२२१८ ५२६६ ७४३२४ ६६४१

२ पाडे गोविन्द चन्द्र वैदिक सस्कृति इलाहाबाद २००१ पृ० ६५, नायक जी०सी० ऋत धर्म एण्ड सनातन धर्म इन इडियन कल्चर– एक क्रिटिकल एप्रैसल नेशनल सेमिनार ऑन हिस्ट्रोरियोग्राफी ऑव इडियन कल्चर पूर्वोद्धृत पृ० १–२

३ पाडे गोविन्द चन्द्र पूर्वोद्धृत वही पृ०

४ पूर्वोक्त पृ० ६६

५ पूर्वोक्त पृ० ६६, कुमारी किरण वैदिक साहित्य और सस्कृति (प्रथम भाग) दिल्ली २००१ पृ० १६८ नायक जी०सी० पूर्वोद्धृत, पृ० २

६ पाडे गोविन्द चन्द्र पूर्वोद्धृत, पृ० ६६ कुमारी किरण पूर्वोद्धृत पृ० १६८, नायक जी०सी० पूर्वोद्धृत पृ० २

७ पाडे गोविन्द चन्द्र पूर्वोद्धृत, वही पृ०

उत्तरवैदिक काल मे भी धर्म शब्द का प्रयोग मिलता है। **अथर्ववेद** (६ ६ १७) व **वाजसनेयी सहिता** (२३ ५ २७) आदि साहित्य मे धर्म शब्द का उल्लेख मिलता है। इनमे धर्म का अर्थ धार्मिक विधि, क्रिया शाश्वत–नियम व आचरण–नियम से है। सहिताओ के परवर्ती काल मे वर्णाश्रम की विधियो के लिये धर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है। उपनिषदो मे धर्म का अर्थ स्पष्टत वर्ण व आश्रमो के आचार व सस्कार से ही था। **तैत्तिरीयोपनिषद्** मे धर्म शब्द इस रूप मे प्रयुक्त हुआ है– सत्य बोलो धर्म का आचरण करो।[1] **छान्दोग्योपनिषद्** मे धर्म के महत्वपूर्ण अर्थ की व्याख्या की गई है। धर्म के तीन स्कन्ध व विभाग या आधार स्तम्भ है। यज्ञ अध्ययन, या स्वाध्याय और दान यह पहला स्कन्ध है। तप ही दूसरा स्कन्ध है। आचार्यकुल मे रहने वाला ब्रह्मचारी जो आचार्यकुल मे अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण कर लेता है, यह तीसरा स्कन्ध है।[2] ये सभी स्कन्ध पुण्यलोक के भागी होते है और ब्रह्म मे सम्यक् प्रकार से स्थित अमरत्व को प्राप्त होते है।

अत धर्म शब्द मानवीय विशेषाधिकार, कर्त्तव्य, बन्धन, आचार–विधि और वर्णाश्रम का द्योतक है।[3] धर्म शब्द की कतिपय परिभाषाएँ इस तथ्य को और प्रकाशित करती है–मीमासक *जैमिनी* के अनुसार वेदयुक्त अनुशासनो के अनुसार चलना ही धर्म है।[4] अर्थात् वेदमन्त्र जो विधि–निषेध स्थापित करते है, उनके अनुसार अपने जीवनमूल्यो का निर्धारण करना तथा उनको व्यवहार मे लाना धर्म है। धर्म केवल विशिष्ट दिशा मे प्रेरणा देता है। वैशेषिक सूत्रकार *कणाद* ने धर्म का लक्षण इस प्रकार वर्णित किया है–

---

१ तैत्तिरीय उपनिषद, १११ – सत्य वद धर्म चर।

२ छान्दोग्योपनिषद् २२३१
त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययन दानमिति प्रथमस्तप
एवेति द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्य कुलवासी तृतीयो अत्यन्तमात्मानमाचार्य कुलेऽवसादयन्।

३ दासगुप्त शशिभूषण आब्सक्योर रेलीजस् कल्टस १९६२ कलकत्ता पृ० २६८

४ पूर्वमीमासासूत्र ११२

जिससे इहलोक और परलोक मे परम कल्याण की प्राप्ति हो वही धर्म है।[1] *कणाद* द्वारा परिभाषित धर्म की व्याख्या को *बलदेव उपाध्याय*[2] ने और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मानव जीवन का स्वारस्य धर्म के आचरण मे है जो सकाम से सपादित होने पर ऐहिक फलो को देता है और निष्काम भाव से आहत होने पर जो फल प्राप्त होते है वह मोक्ष की उपलब्धि मे सहायक होते है। *दुर्गादत्त पाण्डेय* ने भी धर्म के विषय मे लिखा है कि सबके कल्याण की बात सोचना और अह का निर्गलन करके ईश्वर की शरण मे जाना ही धर्म है।[3] धर्मसूत्रो मे वेदो स्मृतियो एव शीलगत व्यवहार को धर्म का मूल स्वीकार किया गया है।[4] निश्चय ही धर्म नैतिक आचरणो को अधिक महत्व देता है और साथ ही परपरागत धर्मशास्त्रीय व्यवस्था को भी स्वीकार करता है। इस प्रकार वेदो एव स्मृतियो मे मनुष्य के लिए जो कर्त्तव्य उल्लिखित है, उनका निष्ठापूर्वक पालन करना ही धर्म है। *याज्ञवल्क्य* ने श्रुति, स्मृति, सदाचार के साथ सम्यक् वाछा का भी निर्देश दिया है।[5] सदाचार के अन्तर्गत सत्यता, हितकर प्रथाएँ, आचरण और नैतिक--व्यवहार का सन्निवेश होता है। **महाभारत** मे आचार को धर्म का प्रमुख लक्षण बताया गया है।[6] **मनुस्मृति** से धर्म के विषय मे स्पष्ट प्रकाश पडता है। **मनुस्मृति** मे एक स्थल पर उल्लिखित है-- कि वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मप्रियता धर्म के चार लक्षण है।[7] अन्यत्र इसी स्मृति मे धर्म के दस लक्षणो का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिसमे धैर्य क्षमा, दम, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रिय--निग्रह, बुद्धि विद्या, सत्य एव अक्रोध

---

१ वैशेषिक दर्शन १२

२ उपाध्याय बलदेव भारतीय धर्म और दर्शन पृ० ८४

३ पाण्डेय दुर्गादत्त धर्म--दर्शन सिद्धान्त और समीक्षा पृ० २२

४ गौतम धर्मसूत्र ११२

५ याज्ञवल्क्य स्मृति १७ -- श्रुति स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन।
सम्यक् सकल्पज कामो धर्ममूलमिद स्मृतम।।

६ महाभारत अनुशासनपर्व ५४ ६

७ मनुस्मृति २१२ -- वेद स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन।
एतच्चतुर्विध प्राहु साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।

सम्मिलित है।[1] **मनुस्मृति** मे इसका पालन करना चारो आश्रमो मे स्थित द्विजो के लिए अनिवार्य बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि *मनु* ने पहले धर्म के चार लक्षण बताकर धर्म के सकुचित स्वरूप को पुन धर्म के दस लक्षण बताकर धर्म के व्यापक उदात्त एव व्यवहारपरक रूप को स्पष्ट किया है जो समग्र जीवन–दृष्टि से व्याप्त है। इस प्रकार धर्म का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और प्रशस्त है जिसमे शुचिता सत्यता दया अनुसूया, शुभ के प्रति प्रवृत्ति, दानशीलता, सम्यक् श्रम लोभहीनता आदि स्वभावत निहित रहती है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि धर्म 'स्व और पर का भेद मिटाने वाला विशुद्ध कल्याणकारी तत्व है जो मानव के आत्मिक व पारमार्थिक उत्कर्ष का द्योतक है। सामान्य रूप से धर्म एक ऐसा नीति–नियामक तत्व है जो व्यक्ति का ईश्वर से सच्चा सम्बन्ध स्थापित करने मे सहायक होता है। इस सम्बन्ध मे *जी० गैलोवे*[2] ने भारतीय परम्परा से साम्य रखते हुए धर्म के विषय मे अपने विचार प्रस्तुत किये है– "कि धर्म वह है जिसमे अपने से परे किसी शक्ति के प्रति मानव श्रद्धा के द्वारा अपनी सवेगात्मक आवश्यकताओ की पूर्ति करके जीवन मे स्थिरता प्राप्त करता है और उस स्थिरता को वह उपासना एव सेवा मे अभिव्यक्त करता है।' धर्म मानव जीवन के सभी पक्षो को प्रभावित करने वाली एक व्यापक अभिवृत्ति है, जो सर्वाधिक मूल्यवान पवित्र सर्वज्ञ तथा शक्तिशाली समझे जाने वाले आदर्श और अलौकिक उपास्य विषय के प्रति अखड आस्था एव पूर्ण प्रतिबद्धता के फलस्वरूप उत्पन्न होती है, जो मनुष्य के दैनिक आचरण तथा प्रार्थना, पूजा–पाठ, जप–तप आदि बाह्य कर्मकाण्ड मे अभिव्यक्त होती है।[3] स्पष्ट है कि धर्म वह सर्वांगपूर्ण अभिवृत्ति है, जो किसी समाज द्वारा समादृत आदर्शपूर्ण विषय के प्रति आत्मसमर्पण एव अन्तर्बद्धता हेतु व्यक्ति को सपूर्ण जगत् के प्रति अभिमुख

---

१ मनुस्मृति ६ ९२ – धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यक्रोधो दशक धर्मलक्षणम्।

२ गैलोवे जी० द फिलोसॉफी ऑफ रेलीजन पृ० १८४

३ वर्मा, वेदप्रकाश पूर्वोद्धृत, पृ० ३

करती है। यह मनुष्य के अभ्युदय निःश्रेयस और कर्त्तव्य भावना को जाग्रत करने मे सहायक है जिससे उसकी कार्यक्षमता मानसिक योग्यता और आचारगत क्रिया विकसित हो सके। अत धर्म एक व्यापक एव सतत् चलने वाली ऐसी जीवन पद्धति है जिसमे रिलीजन के अर्थ मे लिया जाने वाला धर्म का अर्थ भी समाहित है किन्तु एक अग के रूप मे।

धर्म के उद्भव एव विकास सबधी प्रश्न जटिल प्रतीत होता है। किन्तु इस सबध मे इतना अवश्य स्पष्ट है कि मानव को अपने जीवन के प्रारम्भिक काल मे जिसे पाषाण–युग के नाम से भी जाना जाता है किसी प्राकृतिक नियमो का ज्ञान नही था और इसी कारण वह पूर्ण रूप से प्राकृतिक शक्तियो पर आश्रित रहता था। मनुष्य को जब कभी भी भूख, रोग बाढ, तूफान भूकम्प आदि परिस्थिति से जूझने मे असमर्थ पाकर अत्यधिक भयग्रस्त हो उठता रहा होगा, और सभवत ऐसी स्थिति मे उसने अपने को ऐसे दु ख एव भय से मुक्ति दिलाने के लिए एक ऐसी शक्ति की सहायता की अपेक्षा की होगी, जो उससे अधिक शक्तिसपन्न हो। अत मनुष्य की इसी परावलम्बन सबधी मनोवृत्ति को धर्म के उद्भव एव विकास का कारण माना जा सकता है।[१] किन्तु इतने से धर्म की उत्पत्ति एव विकास सबधी ज्ञान अधूरा प्रतीत होता है इसके लिए धर्म से सबधित कुछ सिद्धान्तो का अध्ययन आवश्यक है, जो निम्न प्रकार से है–

१ मानवीय विवेक का सिद्धान्त–

मानवीय विवेक के सिद्धान्त के अनुसार धर्म का प्रादुर्भाव प्रकृति की वैचित्र्यता को समझने के लिए जो बौद्धिक प्रयास किये गये, उसी के परिणास्वरूप हुआ है।[२] इसमे धर्म का प्रमुख आधार मानव–मस्तिष्क के बौद्धिक एव तार्किक गणना को माना गया है।[३] इसके अन्तर्गत कई अन्य सिद्धान्तो का अध्ययन किया जाता है–

१ वर्मा वेदप्रकाश पूर्वोद्धृत पृ० ३६

२ स्पेन्सर आनन्द अण्डरस्टैडिग रेलीजन थ्योरीज एण्ड मेथाडियोलॉजी पटियाला नई दिल्ली १९९६ पृ० ११

३ पूर्वोक्त वही, पृ०

(अ) जीववादी सिद्धान्त जीववादी सिद्धान्त का प्रतिपादन *एडवर्ड बर्नेट टायलर* महोदय ने किया।[1] उन्होने आदिम मानव की बुद्धि और स्वभाव का वैज्ञानिक अध्ययन करके जीववादी सिद्धान्त को प्रस्तुत किया और इसी सिद्धान्त के आधार पर ही उन्होने धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या भी की।[2] जीववादी सिद्धान्त के अनुसार विश्व की सभी वस्तुओ मे आत्मा या जीव का निवास है। मानव सस्कृति के विशेष स्तर पर जाकर अपनी ही चेतना का आरोपण विश्व की सभी वस्तुओ मे करने लगता है। *टायलर* का मत है कि सस्कृति के जिस स्तर पर जीववादी दृष्टिकोण का उद्भव होता है उसी समय धर्म की उत्पत्ति भी उसी स्तर पर होती है। ऐसी अवस्था मे मानव अपने तथा जगत मे प्राप्त जीवो के बीच सामजस्य स्थापित करने की इच्छा रखता है और साथ ही वह कुछ शक्तिशाली जीवो की अराधना अपनी सुरक्षा एव कल्याण के लिए करना प्रारम्भ कर देता है। अत इसी धारणा से प्रेरित होकर आदिम मानव मे धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। यद्यपि आधुनिक विचारको ने जीववाद के पूर्व की आदिम अवस्था से धर्म की उत्पत्ति को स्वीकार किया है, अत जीववाद को आदिम नही कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त जीववाद मे ऐसी किसी पराशक्ति का बोध नही प्राप्त होता है जो मनुष्य के लिए भाग्य विधाता हो। अत धर्म की उत्पत्ति एव विकास के सबध मे यह सिद्धान्त पूर्णत दोषमुक्त नही है।

(ब) प्रेत सिद्धान्त[3] प्रेत सिद्धान्त के प्रतिपादक *स्पेन्सर* महोदय है। इनका मत है कि आदिम मानव प्रारम्भ मे अपने पूर्वजो की पूजा प्रेतात्मा के रूप मे करता था और इसी से धर्म की उत्पत्ति हुई।[4] आदिम मनुष्य की यह मान्यता थी कि उनके पूर्वजो का

---

१ स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत वही पृ० १२–१६

२ पूर्वोक्त, पृ० १३, मिश्र हृदयनारायण धर्म दर्शन परिचय इलाहाबाद १९६७ पृ० ५२

३ सिल्स डेविड एल० इण्टरनेशनल इनसाइकलोपीडिया ऑव द सोशल साइन्सेज खड १३ व १४ न्यूयार्क पृ० ४३८

४ मिश्र हृदयनारायण पूर्वोद्धृत, पृ० ५३

अस्तित्व मृत्योपरात भी प्रेतात्मा के रूप मे विद्यमान रहता है और प्रेत के रूप मे वे निवास करते है। उनका यह मानना भी था कि वे प्रेतात्मा के रूप मे शक्तिसम्पन्न हो जाते है, अत अप्रसन्न होने पर क्षति भी पहुँचा सकते है। इसलिए उनको प्रसन्न रखने के लिए आदिम मानव ने यज्ञ बलि तथा पूजा आदि क्रियाओ की सहायता ली जिसने धर्म के उद्भव मे सहयोग प्रदान किया। इस प्रकार स्पेन्सर प्रेतात्माओ की पूजा–उपासना को धर्म का प्राचीनतम रूप मानता है। प्रेत–सिद्धान्त धर्म का सकीर्ण आधार प्रस्तुत करने के कारण धर्म की उत्पत्ति के सबध मे पूर्णत खरा नही उतरता।

(स) जादू का सिद्धान्त[1] *जेम्स जार्ज फ्रेजर* (१८५४–१६४१) एक प्रसिद्ध बुद्धिवादी थे। उनका मानना है कि धर्म की उत्पत्ति मानवीय मस्तिष्क के बौद्धिक शक्ति के विकास से हुई है जिसके अतर्गत व्यक्ति अज्ञानता को त्यागता है और तर्क व ज्ञान को सर्वोच्च समझकर ग्रहण करता है।[2] *फ्रेजर* का विचार है कि बौद्धिक शक्ति के विकास मे मनुष्य समाज से जुडे तीन स्तरो से गुजरता है– जादू, धर्म और विज्ञान।[3] *फ्रेजर* का विचार है कि धर्म जादू की असफलता का परिणाम है। अत जादू से धर्म की उत्पत्ति होना सिद्ध होता है किन्तु इसके विपरीत कुछ अन्य सिद्धान्तो के अनुसार यह माना गया है कि धर्म से ही जादू का विकास हुआ। परन्तु यह कथन पूर्णत तर्कसगत नही प्रतीत होता, क्योकि धर्म और जादू मे आरम्भ से ही इतना घनिष्ठ सबध रहा है कि उनके बीच कोई विभाजक रेखा नही खीची जा सकती है। धर्म और जादू दोनो ही एक रहस्यमयी शक्ति मे विश्वास करते है तथा मनुष्य उस शक्ति द्वारा जीवन के क्षेत्र मे काम करने के लिए उसकी पूजा प्रार्थना मत्र आदि का प्रयोग करते है।[4] इसी

---

१ सिल्स डेविड एल० इण्टरनेशनल इनसाइकलोपीडिया ऑव द सोशल साइन्सेज पूर्वोद्धृत पृ० ४३८ स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० २०–२५

२ स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धत पृ० २०

३ फ्रेजर जेम्स जार्ज द गोल्डेन बाउ ए स्टडी ऑव मैजिक एण्ड रिलीजन भाग I, खण्ड I, लदन तृतीय सस्करण १६११ पृ० xxı, स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० २२–२४ मिश्र हृदयनारायण पूर्वोद्धृत पृ० ५७

४ स्पेन्सर आनन्द, पूर्वोद्धृत पृ० २२

समानता को देखकर यह नही कहा जा सकता है कि धर्म और जादू एक–दूसरे से अलग है किन्तु इतनी समानता के आधार पर कुछ सिद्धान्तो ने भ्रमवश धर्म से जादू का विकास मान लिया, वह भी उचित नही प्रतीत होता।[1] इसी प्रकार *फ्रेजर* महोदय ने धर्म की उत्पत्ति जादू से हुई का यह सिद्धान्त मान्य नही है क्योकि जादू धर्म के प्रेरक शक्ति की व्याख्या नही कर सकता और साथ ही जादू मे असामाजिकता एव अनैतिकता का समावेश होने के कारण धर्म मे व्याप्त सामाजिकता एव नैतिकता के गुण की प्राप्ति नही की जा सकती।[2]

(द) माना सिद्धान्त[3] माना वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार माना एक अवैयक्तिक, अभौतिक तथा रहस्यमयी असाधारण शक्ति है जो कुछ विशेष व्यक्तियो, वस्तुओ एव प्राणियो मे पाई जाती है।[4] कुछ विद्वानो ने इसे अतीन्द्रिय तथा आध्यात्मिक शक्ति माना है तथा इसकी शक्ति के कारण उस वस्तु के वाछनीय गुणो मे अत्यधिक वृद्धि हो जाती है जिसमे यह रहती है। इस शक्ति को मानने वालो का विचार है कि ये अतीन्द्रिय होने के कारण दिखाई नही देती है, किन्तु इसका प्रभाव अवश्य परिलक्षित होता है। *आर०आर० मैरेट* (१८६६–१६४३) ने भी माना को परम शक्ति रूप मे वर्णित किया है।[5] इस सबध मे उनके द्वारा किये गये कार्यो का उल्लेख 'द थ्रेस होल्ड ऑव रिलीजन' (१६०६) मे प्राप्त होता है।[6] स्पष्ट है कि माना ऐसी अमूल्य वस्तु है जो मनुष्य को जीवनदायिनी शक्ति, सफलता एव सुख प्रदान करती है। अत यह अराधना एव उपासना का विषय है। इसके अतिरिक्त एक और बात की पुष्टि होती है कि आदिम

---

१ स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धत पृ० २२–२४ मिश्र हृदयनारायण पूर्वोद्धृत पृ० ५७

२ स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० २४–२५

३ पूर्वोक्त पृ० १२०–२१ मिश्र हृदयनारायण पूर्वोद्धृत पृ० ५८–५६ वर्मा वेदप्रकाश पूर्वोद्धृत पृ० ४४

४ स्पेन्सर, आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० १२०–२१ मिश्र हृदयनारायण पूर्वोद्धृत पृ० ५८–५६ वर्मा वेदप्रकाश पूर्वोद्धृत, पृ० ४४

५ स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० १२१

६ पूर्वोक्त वही पृ०

मानव इस व्यक्तित्वहीन शक्ति मे विश्वास करता है तो मानावाद जीववाद से प्राचीन माना जा सकता है क्योकि आरम्भ मे मानव शक्ति–पूजा एव सर्वात्मवाद मे विश्वास रखता था। इसलिये इस सिद्धान्त को पूर्वजीववादी सिद्धान्त भी कहा जाता है और इसे ही धर्म की उत्पत्ति का कारण भी माना गया है।[1]

मानावाद मे धर्म का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व विद्यमान है जिसके कारण इसे धर्म के इतिहास मे प्रमुख स्थान प्राप्त है। वह तत्त्व है– शक्ति की पूजा।[2] भारत मे ही नही अपितु सपूर्ण विश्व मे आदिकाल से धर्म के इतिहास मे शक्ति–पूजा को महत्त्व दिया जाता है और मानव इसी शक्ति के कारण विभिन्न देवी–देवताओ की पूजा–उपासना को करता रहा है जो उसकी मूल भौतिक आवश्यकताओ के साथ–साथ उसे विपत्तियो एव सकट से भी मुक्ति दिला सके। स्पष्ट है कि शक्ति–पूजा की दृष्टि से धर्म के इतिहास मे मानावाद का विशेष महत्त्व है।

२ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त[3]–

धर्म की उत्पत्ति के सबध मे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की विवेचना अति आवश्यक है। यदि देखा जाय तो धार्मिक–व्यवहारो के लिए अलग से कोई मानसिक शक्ति नही है जिसके कारण मनुष्य धार्मिक–क्रियाएँ करता है। मनुष्य जिस मानसिक तत्त्वो द्वारा जीवन के अन्य व्यवहारो को सम्पादित करता है, उन्ही तत्त्वो द्वारा वह धार्मिक व्यवहार भी करता है।[4] मनोवैज्ञानिको ने ऐसे ही तीन तत्वो ज्ञान (बुद्धि), भाव एव क्रिया को प्रमुख माना है जिनसे मानव–चेतना का गठन हुआ।[5] इस मानव चेतना के विकास मे

---

१ स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० १२१–२२ मिश्र, ह्रदयनारायण पूर्वोद्धृत पृ० ५८–५६

२ पूर्वोक्त पृ० १२०–२१ वर्मा वेदप्रकाश पूर्वोक्त पृ० ४४–४५,

३ सिल्स डेविड एल० इण्टरनेशनल इनसाइकलोपीडिया ऑव द सोशल साइन्सेज खण्ड १३ व १४ न्यूयार्क पृ० ४४५, स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० ६६

४ स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० ६६, मिश्र ह्रदयनारायण पूर्वोद्धृत पृ० ६८

५ मिश्र ह्रदयनारायण पूर्वोद्धृत पृ० ६८–६६

ज्ञान एव क्रिया की अपेक्षा भाव का विशेष स्थान है। यदि दूसरो शब्दो मे यह कहा जाय कि धार्मिक चेतना का विकास धार्मिक भावना के कारण हुआ तो कोई अतिश्योक्ति न होगी। स्पष्ट है कि धार्मिक अनुभूति मे भाव ही प्रकट होते है और इसलिये लोगो ने भाव से ही धर्म की उत्पत्ति मानी है। यद्यपि यह तथ्य पूर्णत तर्कसगत नही प्रतीत होता क्योकि भाव या भावना अनिश्चित एव अवर्णनीय होती है और इसको सार्वलौकिक एव सामाजिक स्तर पर नही लाया जा सकता।

धर्म की उत्पत्ति एव विकास सबधी मनोवैज्ञानिक सिद्धात के अन्तर्गत प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक *सिगमण्ड फ्रायड* (१८५६–१९३६) के विचारो का उल्लेख किया जा सकता है।[1] *फ्रायड* ने धर्म को एक मानव–व्यवहार के रूप मे वर्णित किया है जिसके उद्‌भव का आधार मानव की अचेतन धारणा है।[2] इसमे अचेतन का अर्थ चेतन–हीनता से नही माना गया है। *फ्रायड* का इस सबध मे मत है कि हमारी बहुत सी ऐसी प्रतिक्षेपात्मक क्रियाएँ जैसे रूधिर–सचालन, पाचन आदि होती है, जिसकी चेतना तो हमे नही होती है, परन्तु उनकी क्रियाएँ एक लक्ष्य के अनुरूप होती है। स्पष्ट है कि अचेतन का स्वरूप चेतन के समान होता है और चेतन की तरह लक्ष्यात्मक भी होता है। *फ्रायड* ने इसी अचेतन को अपने मनोविश्लेषण की विधि से जानने का प्रयास किया है।

फ्रायड ने धर्म के सम्बन्ध मे मानव द्वारा की जाने वाली जितनी चेतन क्रियाएँ है, उसका आधार अचेतन को ही माना है। यहॉ तक कि ईश्वर सबधी आस्था पूजा कर्मकाण्ड आदि समस्त क्रियाओ का विश्लेषण *फ्रायड* ने अपने अचेतनवादी मत के आधार पर व्यक्त किया है।[3] *फ्रायड* के अनुसार धर्म एक सामूहिक भ्रम है और धर्म के

---

१ स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० ७०

२ मिश्र, हृदयनारायण पूर्वोद्धृत पृ० ७३

३ पूर्वोक्त पृ० ७४, स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० ७०–७१

द्वारा ही मानव अपने अचेतन की अतृप्त इच्छाओ की तृप्ति करता है।[1] *फ्रायड* ने यहॉ भ्रम से तात्पर्य एक विशेष अर्थ मे लगाया है। उनका मानना है कि प्रत्येक धार्मिक विश्वास भ्रम है क्योकि वह मनुष्य की किसी प्रबल इच्छा से ही अभिप्रेरित होता है और जब कोई विश्वास मुख्यत इच्छा–पूर्ति से अभिप्रेरित होता है और वास्तविकता के साथ उसका कोई सबध नही होता तो हम उस विश्वास को भ्रम कहते है।[2] *फ्रायड* से कुछ भिन्न *युग*[3] ने भी विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान सिद्धात के द्वारा धर्म की उत्पत्ति एव विकास पर प्रकाश डाला है। युग ने फ्रायड द्वारा वर्णित अचेतन की व्याख्या को सीमित माना है। *युग* के अनुसार अचेतन इतना व्यापक है कि उसे पूर्ण रूप से नही जाना जा सकता। *युग* सामूहिक अचेतन पर बल देता है और उसी को धर्म की उत्पत्ति का मूलाधार भी माना है। यह सामूहिक अचेतन प्रत्येक व्यक्ति मे निहित है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति धार्मिक हो सकता है।

फ्रायड ईश्वर विषयक विश्वास के उद्गम पर प्रकाश डालते हुए कहता है कि ईश्वर की कल्पना मनुष्य के जीवन मे असह्य दु खो से मुक्ति पाने की तीव्र इच्छा के कारण हुई।[4] इन दु खो मे प्राकृतिक आपदाओ के अतिरिक्त अनेक शारीरिक एव मानसिक दु ख पहुॅचाने वाले तत्व भी निहित है फिर भी मनुष्य सभ्यता के कारण इन सभी बलवती इच्छाओ– विशेषत कामेच्छा तथा दूसरो पर आक्रमण करने की इच्छा का दमन करता है, जो उसके लिए कष्टदायक सिद्ध होती है। इन सभी दु खो के परिणामस्वरूप उसे अपना जीवन दुष्कर प्रतीत होने लगा और वह इस ससार मे अपने आपको नितात अकेला, असहाय एव असुरक्षित अनुभव करने लगा और ऐसी स्थिति मे वह एक ऐसे सहारे की खोज करने लगा, जो उसको आश्वासन सहायता एव सुरक्षा

---

१ फ्रायड सिगमन्ड द फ्यूचर ऑव एन इल्यूजन (अनु०) स्कॉट डी० राबसन न्यूयार्क १६६४ पृ० ५४–५५

२ फ्रायड सिगमण्ड पूर्वोद्धृत वही पृ०

३ (स०) थापर रोमिला रीसेन्ट पर्सपेक्टिव ऑव अर्ली इडियन हिस्ट्री पापुलर प्रकाशन बाम्बे प्रथम सस्करण, १६६५, पृ० १७७ मिश्र हृदयनारायण पूर्वोद्धृत पृ० ७६–८०

४ वर्मा वेद प्रकाश, पूर्वोद्धृत, पृ० ४४६

प्रदान कर सके और जिस पर वह पूर्णत निर्भर रह सके।[1] ऐसा सहारा उसे सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ, अत्यन्त दयालु तथा प्रेममय ईश्वर के रूप मे प्राप्त हो सकता था और वह एक बालक के समान उसे अपना परमपिता मान ले। कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर की कल्पना के फलस्वरूप मनुष्य अपने आपको उसी प्रकार सुरक्षित समझता है जिस प्रकार कोई बालक बाल्यकाल मे पिता को अपने आपके लिए सुरक्षित समझता है।[2] इस प्रकार *फ्रायड* के अनुसार ईश्वर कोई वस्तुपरक सत्ता न होकर मनुष्य के जीवन मे अनेक प्रकार के दुखो के कारण उसकी नितात असहाय तथा दयनीय अवस्था से उत्पन्न होने वाला काल्पनिक विचार मात्र है जो उसकी सुरक्षा सबधी आवश्यकता की पूर्ति का भ्रम उत्पन्न करता है।[3]

फ्रायड ने मानव–समाज मे धर्म की उत्पत्ति का कारण पितृ प्रतिरूप के अतिरिक्त टोटम–पूजा को भी माना है। टोटमवादी धर्म की उत्पत्ति का मनोवैज्ञानिक कारण फ्रायड के अनुसार अपराध–बोध है।[4] आदिम काल मे टोटम को लोग अपना पूर्वज मानते थे, इसलिए टोटम–पशु की पूजा होती थी।[5] इसकी हत्या निषिद्ध थी किन्तु समय–समय पर उसकी बलि दी जाती थी। बलि–पशु का मास भक्षण इसलिये किया जता था कि लोगो मे शक्ति का सचार हो। इसी से धर्म का सूत्रपात माना जाता था।

फ्रायड का धर्म सबधी मनोवैज्ञानिक सिद्धात पूर्णत दोषमुक्त नही है। *फ्रायड* धर्म को सामान्य भ्रम कहता है, वह उचित नही है क्योकि धर्म एक वास्तविकता है जो मानव–जीवन मे प्रधान रूप से सक्रिय होती है। *फ्रायड* ने धर्म मे ईश्वर को पितृ–प्रतिरूप माना है जो समीचीन नही प्रतीत होता। यदि देखा जाय तो हिन्दू–धर्म

---

१ सिल्स डेविड एल० इण्टरनेशनल इनसाइकलोपीडिया ऑव द सोशल साइन्सेज पूर्वोद्धृत पृ० ४४६ आनन्द स्पेन्सर पूर्वोद्धृत पृ० ७० वर्मा वेद प्रकाश पूर्वोद्धृत पृ० ४४६–४७

२ फ्रायड सिगमण्ड पूर्वोद्धृत पृ० ४७ स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० ७१

३ वर्मा, वेद प्रकाश पूर्वोद्धृत पृ० ४४७

४ फ्रायड सिगमण्ड, टोटेम एण्ड टैबू इन द ओरिजिन टॉव रिलीजन खण्ड १३ १९८५, पृ० २०५–०६ स्पेन्सर आनन्द, पूर्वोद्धृत पृ० ७२–७४ (स०) थापर रोमिला रिसेन्ट पर्सपैक्टिवस् ऑव अर्ली इडियन हिस्ट्री बबई १९९५, पृ० १७८

५ स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० ७७

तथा बहुत से ऐसे धर्म भी है जिनमे ईश्वर और भक्त का सम्बन्ध पिता के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धो से भी प्राप्त होता है। बौद्ध एव जैन धर्म मे तो ईश्वर की कल्पना तक भी नही की गई है।[1] इसके अतिरिक्त *फ्रायड* ने टोटमवाद को धर्म का प्राचीन रूप माना है और उसी से ईश्वरवादी धर्म की व्याख्या की है परन्तु धर्म के इतिहास को देखने से स्पष्ट होता है कि टोटमवाद के पहले जीववाद मानावाद आदि बहुत से धार्मिक सिद्धान्त प्रचलित थे। अत *फ्रायड* की धर्म सबधी व्याख्या पूर्णत मान्य नही प्रतीत होती।

३ समाजशास्त्रीय सिद्धान्त[2]–

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार धर्म की उत्पत्ति एव विकास मे सामाजिक कारक सहायक होते है।[3] मनुष्य के जीवन एव उसके अस्तित्व के लिए दो बाते अति आवश्यक प्रतीत होती है– (१) मनुष्य समाज मे रहता है और (२) वह उन भौतिक परिस्थितियो से घिरा रहता है जो उसके कार्यों एव चिन्तन करने वाली समस्त शक्तियो को प्रभावित करता है। मनुष्य के इस समूहात्मक जीवन मे एक ऐसी परमशक्ति की आवश्यकता हुई, जो सभी मनुष्यो के विचारो एव कार्यों को निश्चित कर सके।[4] समाजशास्त्रियो के अनुसार लोगो के इस सामूहिक जीवन के कुछ अनुभवो एव भावनाओ ने ही धार्मिक विचारो एव विश्वासो की कल्पना को जन्म दिया होगा।[5] धर्म के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के अध्ययन के सदर्भ मे *एमिले दुर्खीम* (१८५८–१९१७) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह एक प्रसिद्ध फ्रासीसी समाजशास्त्री थे।[6] *दुर्खीम* का विचार है कि मनुष्य के सामाजिक जीवन से ही धर्म की उत्पत्ति होती है और उन्होने

---

१ मिश्र हृदयनारायण पूर्वोद्धृत पृ० ७७

२ सिल्स डेविड एल० इण्टरनेशनल इनसाइकलोपीडिया ऑव द सोशल साइन्सेज पूर्वोद्धृत पृ० ४४४–४५, स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० ५५–५६

३ स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० ५५

४ पूर्वोक्त वही पृ०

५ पूर्वोक्त वही पृ०

६ पूर्वोक्त, पृ० ५६, सिह, जे पी सामाजिक परिवर्तन स्वरूप एव सिद्धान्त नई दिल्ली १९९६ पृ० ३४–३५

समाज मे ही धर्म के उद्‌भव को ढूँढने का प्रयास भी किया है।[1] उनका विश्वास है कि समाज ही मनुष्य जीवन के लिए समस्त आवश्यक कारको की पूर्ति करता है। मनुष्य बिना समाज के नही रह सकता। *दुर्खीम* का मानना है कि मनुष्य समाज की आज्ञा एव इच्छा का पालन करता है न कि किसी भी प्रकार के शारीरिक या बलात् दबाव को। मनुष्य सामाजिक आज्ञा के उल्लघन मे स्वय को असुरक्षित एव असहाय महसूस करता है।[2] उनका कथन है कि धर्म की उत्पत्ति अति प्राचीन जाति से हुई है। यह प्राचीन धर्म अत्यधिक साधारण एव धर्म के विषय मे निश्चित तथ्य और आकडा खोजने मे सहायक होते है, जबकि धर्म का नया रूप अत्यधिक जटिल एव विविध रगो से युक्त होता है जिससे धार्मिक जीवन के आधारभूत सिद्धान्त निकालने मे कठिनाई होती है। ये विभिन्न सम्प्रदायो के समूहो एव उसके रूपो मे भ्रम उत्पन्न करता है और जिसके आधार पर सामान्य रूप से कुछ भी निश्चित नही किया जा सकता। उनके विचार मे प्राचीन समाज की धार्मिक–रीति इसकी अपेक्षा अधिक एकरूप व समान होती है।[3] *दुर्खीम* का मानना है कि समाज मे धार्मिक जीवन के लिए प्रमुख आधारभूत तत्व– उसके विश्वासो एव विचारो का पवित्र वस्तुओ से सबधित होना है।[4] यही विश्वास विचार एव व्यवहार मिलकर एक नैतिक समुदाय का गठन करते है जिसे चर्च के नाम जाता है और ये सभी को अपने से जोडता है।[5] (धर्म का अर्थ विशेषत आस्ट्रेलियन जाति के प्राचीन धर्म के सदर्भ मे स्पष्ट किया गया है)।[6]

दुर्खीम ने प्राचीन धर्म के अध्ययन के सदर्भ मे टोटमवाद पर भी प्रकाश डाला है। उन्होने टोटमवाद को धर्म का प्राचीन रूप माना है जिससे धार्मिक विश्वासो एव

---

१ स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत वही पृ०
२ पूर्वोक्त वही पृ०
३ पूर्वोक्त पृ० ५६–५७, (स०) थापर रोमिला पूर्वोद्धृत पृ० १७७
४ पूर्वोक्त पृ० ५७
५ दुर्खीम, एमिले द इलेमेन्ट्री फॉर्मस् ऑव रेलीजस् लाइफ न्यूयार्क १६१५, पृ० १६
६ स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० ५७

व्यवहारो के कई रूप उत्पन्न हुए है।[1] टोटमवाद से तात्पर्य उस आदिम धर्म से है जिसमे आदिम जातियॉ, अनेक प्रकार के पशुओ पेडो–पौधो और अनेक जड–वस्तुओ को समस्त जाति का जनक मानती है।[2] टोटम पशु या वृक्ष की जाति माना जाता था और उसके साथ आदिम मानव अपना सम्बन्ध स्थापित करता था। आदिम मनुष्य का टोटम के प्रति अपार आदर एव श्रद्धा का भाव था। यहॉ तक कि वे मानते थे कि उनका स्वय का विकास टोटम से ही हुआ है और वे टोटम को अपने पूर्वजो से सबधित मानते थे। अत टोटम का बोध व्यक्ति न होकर जाति से था। *दुर्खीम* का विचार है[3] कि लोगो के समूहात्मक जीवन मे टोटम शक्ति एव बल का द्योतक माना जाता था जिसे समाज ने अपनी रक्षा के प्रतीक रूप मे स्वीकार कर लिया था और लोगो ने इसको देवता रूप प्रदान करके उसकी पूजा एक सम्प्रदाय विशेष के रूप मे करने लगे। इसी आधार पर टोटमवाद को आदिम धर्म माना जाता है जिससे धर्म की उत्पत्ति हुई है और सभी धर्मों को टोटमवाद की स्थिति से गुजरना पडता है। *ए०एस० प्रिगल पेटिसन महोदय*[4] ने टोटम को प्राचीन अथवा आधुनिक अर्थ मे ईश्वर नही माना है और इसी कारण वह पूजा का विषय नही माना जा सकता। परन्तु इस मत के विरूद्ध यह आपत्ति की जाती है कि जब टोटम पूजा का विषय नही है, तो टोटमवाद को धर्म का एक रूप नही माना जा सकता। अत इसी कठिनाई को देखते हुए अधिकाशत विद्वान टोटम को पूजा का विषय मानते है।

समाजशास्त्रीय सिद्धात का उसके आर्थिक पहलू के रूप मे भी अध्ययन किया जा सकता है। इस सबध मे *कार्ल मार्क्स* (१८१८–१८८३) नामक समाजशास्त्री का

---

१ स्पेन्सर आनन्द, पूर्वोद्धृत वही पृ० (स०) थापर रोमिला पूर्वोद्धृत पृ० १७७

२ पूर्वोक्त पृ० ५८–५६, वर्मा वेद प्रकाश पूर्वोद्धृत, पृ० ४६–४७, मिश्र हृदयनारायण पूर्वोद्धृत पृ० ५४–५५

३ स्पेन्सर, आनन्द, पूर्वोद्धृत, पृ० ५८

४ पूर्वोक्त वही पृ०

उल्लेख किया जा सकता है। उनका मानना है कि समस्त सामाजिक जीवन एव मानवीय क्रिया–कलाप का आधार समाज की भौतिक परिस्थितियाँ होती है।[1] समस्त धार्मिक विचार एव उसकी रीति जीवन के भौतिक परिस्थितियो के आधार पर निश्चित होती है। धर्म–भवन के वास्तुशास्त्रीय रूप के पीछे प्रमुख कारक आर्थिक बल का ही होता है।[2] ये एक शक्तिशाली कारक होता है जो सभी मानवीय विचारो एव व्यवहारो को प्रभावित करता है। *मार्क्स* ने धर्म एव समस्त धार्मिक विचारो का आधार अर्थव्यवस्था एव भौतिकवादी वस्तुओ को माना है।[3]

मार्क्स का विचार है कि धर्म जीवन के कष्टमय परिस्थितियो मे प्रसन्नतापूर्वक रहने की कल्पना का अभिव्यक्तिकरण है।[4] धर्म मनुष्य को धैर्य एव सुख प्रदान करता है और मनुष्य को दु खमय जीवन मे भी प्रसन्न करता है। मार्क्स कहता है 'कि धर्म इस हृदयहीन विश्व के दमित जीवो के लिए एक राहत भरी श्वास के समान है।[5] मार्क्स धर्म के उस रूप को सम्मान देता है जो विश्व–चेतना के भ्रम को विपरीत कर देता है। धर्म मनुष्य को आध्यात्मिक प्रसन्नता प्रदान करता है। यह मनुष्य को इस सुन्दर ससार मे ऐसे रूप मे प्रस्तुत करता है जहाँ वह परम मानव एव स्वर्ग का आभास करता है जबकि वास्तव मे यह उसके सुखी जीवन की प्राप्ति के लिए विचारमात्र है। विश्व की यही विचारधारा मनुष्य को जीवन के कडवे सत्य से बचने एव अन्य सहारा लेने को प्रेरित करती है। *मार्क्स* का विचार है कि धर्म मनुष्य को कायर विनम्र एव कमजोर बनाता है, वही दूसरी ओर धर्म, निर्दयी, क्रूर, स्वार्थी शासको मे आदेश पालन जैसे विचारो को डालता है।

---

१ स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० ६२
२ पूर्वोक्त वही पृ०
३ पूर्वोक्त वही पृ०
४ पूर्वोक्त वही पृ०
५ मार्क्स कार्ल कान्ट्रीब्यूशन टू द क्रिटिक ऑफ हेगेलस् फिलोसॉफी ऑफ लॉ इन मार्क्स एजिल्स ऑन रेलीजन मास्को १९७५, पृ० ३९

स्पष्ट है कि *मार्क्स* ने मानवीय जीवन के आर्थिक एव भौतिक परिस्थितियो को धर्म की उत्पत्ति मे सहायक माना है। उनका विचार है कि यदि प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल पर दृष्टि डाले तो मनुष्य अपने भोजन एव अन्य जीवन की आवश्यकताओ के लिए प्रकृति पर निर्भर रहता था और इसी पूर्ति की भावना ने मानव को प्रकृति पर नि"र रहने के लिए प्रतिबद्ध कर दिया और इसी कारण मानव ने भी प्रकृति से सबध बनाने के लिए निश्चित विचारो एव चेतना का विकास किया। मार्क्स कहता है कि इसलिये धर्म के इतिहास के प्रारम्भ मे प्रकृति–पूजा सर्वमान्य दिखाई पडती है।[1] धर्म के प्रारम्भ मे की जाने वाली प्रकृति–पूजा के विकास ने आधुनिक युग मे भौतिक परिस्थितियो के परिवर्तन को महत्व दिया, जिससे एक ऐसी शीघ्र चेतना का विकास हुआ जो न केवल इस ससार से मुक्ति दिला सके अपितु एक शुद्ध सिद्धान्त ईश्वर–ज्ञान, नैतिकता आदि की ओर ले जा सके।[2] इस प्रकार धर्म, जीवन की भौतिक परिस्थितियो मे उत्पन्न होता है और धार्मिक–प्रथाओ का उद्भव एव विकास आर्थिक कारको के परिवर्तन के अनुसार चलता रहता है।

४. कार्यात्मक एव सरचनात्मक सिद्धान्त[3]–

कार्यात्मक एव सरचनात्मक सिद्धान्त के अनुसार धर्म की अभिरूचि इस तथ्य को खोजने मे रही है कि समाज मे धर्म के क्या कार्य है? इस सबध मे प्रकार्यवादियो (Functionalists) का मानना है कि अच्छे चरित्र के प्रतीक रूप मे कहानी, धार्मिक–कृत्य, विश्वास और पवित्र वस्तुएँ धार्मिक सतुष्टि प्रदान करते है। विश्व धर्म का प्रमुख कार्य मनुष्य के वास्तविक जीवन का उसके धार्मिक कारको से अर्थपूर्ण सबध

---

१ स्पेन्सर, आनन्द पूर्वोद्धृत पृ० ६४

२ मार्क्स, कार्ल, 'जर्मन आइडोलॉजी' एजिल्स ऑन रेलिजन पूर्वोद्धृत पृ० ६८

३ स्पेन्सर, आनन्द, पूर्वोद्धृत, पृ० ८१

स्थापित कराने मे है।[1] धर्म की विषय–सूची के अन्तर्गत आने वाले सस्कार कहानी इत्यादि न केवल धार्मिक रीति–रिवाजो की अवधारणा को स्पष्ट करती है अपितु मनुष्य के सामाजिक जीवन के प्रमुख उद्देश्य को भी निर्धारित करती है।[2] प्रकार्यवादियो ने इस बात पर भी महत्व दिया है कि धर्म की व्यावहारिक उपयोगिता क्या है?[3] धर्म सामाजिक नियमो, निषेधो कानूनो एव कहावतो को उचित ठहराने मे सहायक होता है और उन सबकी उत्पत्ति कैसे हुई तथा वे किस प्रकार से अपने अस्तित्व को बनाये रखते है, को भी स्पष्ट करता है।[4] धर्म मानवीय जीवन के अनेक प्रश्नो एव समस्याओ को सुलझाता है। ये मनुष्य के सामाजिक जीवन से जुडे मूल्यो को निर्धारित करता है। इस प्रकार धर्म के प्रकार्यात्मक एव सरचात्मक सिद्धात के महत्व के कारण धर्म का अध्ययन अति आवश्यक है। *बी० मालिनॉफस्की*[5], *आर० पेट्टाजोनी*[6], *मर्सिया इलियट*[7] आदि विद्वानो ने अपने–अपने अनुसार धर्म के प्रकार्यात्मक एव सरचनात्मक सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है।

५ ऐतिहासिक प्रणाली पर आधारित सिद्धान्त[8]–

मानव–सस्कृति के उत्थान मे धर्म का प्रमुख स्थान रहा है। अत इसे जानने के लिये धर्म के ऐतिहासिक विकास पर आधारित सिद्धान्त को जानना अति आवश्यक है। धर्म क्या है? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिये भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी देखना आवश्यक है क्योकि धर्म का क्या स्वरूप है, यह तभी ज्ञात हो सकता है जब

---

१ स्पेन्सर आनन्द पूर्वोद्धृत वही पृ०
२ पूर्वोक्त वही पृ०
३ पूर्वोक्त, वही पृ०
४ पूर्वोक्त, पृ० ८१–८२
५ पूर्वोक्त पृ० ८२–८७
६ पूर्वोक्त पृ० ८८–९३
७ पूर्वोक्त, पृ० ९४–१००
८ मिश्र हृदयनारायण पूर्वोद्धृत पृ० ८२

मानव–जीवन की सफलताओ एव असफलताओ के बीच धर्म की भूमिका का अध्ययन किया जाय। विद्वानो ने अपने–अपने अनुसार धर्म की अवस्थाओ का वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। *गैलवे महोदय*[1] ने धर्म की तीन अवस्थाओ को इस प्रकार वर्गीकृत किया है– (१) जातीय धर्म (२) राष्ट्रीय धर्म तथा (३) विश्वव्यापी धर्म।

(१) जातीय धर्म– जातीय धर्म आदिम काल के मनुष्यो की धार्मिक भावना को व्यक्त करता है। इसे प्रारम्भिक धर्म की सज्ञा भी दी जाती है। प्रारम्भिक धर्म का अर्थ है– असभ्यकालीन मनुष्य का धर्म। प्राचीन धर्म को जातीय धर्म कहा जाता है।[2] आदिम युग मे मनुष्य जातीय सम्बन्ध से सगठित रहता था। जातीय सम्बन्ध के कारण व्यक्ति को उतना महत्व नही दिया जाता था जितना समुदाय या जाति को प्राप्त था। इस प्रकार समाज सर्वोपरि समझा जाता था। सुख–दु ख निराशा, आशा, कर्मठता आदि व्यक्तिगत न होकर सामुदायिक होते थे। इसके अतिरिक्त समाज के समस्त क्रिया–कलाप एक पीढी से दूसरी पीढी तक पहुँचते रहते है और सामाजिक नियम ही उनके नैतिक नियम माने जाते है। अत धर्म, समाज एव नैतिकता तीनो का समिश्रित रूप जातीय धर्म मे देखने को मिलता है।

यद्यपि प्राचीन धर्म मे समाज को अत्यधिक महत्व दिया जाता था किन्तु फिर भी व्यक्ति पराशक्ति मे विश्वास रखता था। वह पराशक्ति भी अदृश्य रूप से मानव चेतना मे निहित रहती थी और इसी को धर्म के मूल रूप मे विद्यमान भी माना जाता था।[3] कालातर मे इस जातीय धर्म का विकास जीववाद प्राणीवाद, फीटिशवाद मानावाद तथा

---

१ गैलवे फिलोसफी ऑफ रिलीजन १६५१, मिश्र ह्रदयनारायण पूर्वोद्धृत पृ० ८३

२ मिश्र ह्रदयनारायण पूर्वोद्धृत पृ० ८३

३ पूर्वोक्त पृ० ८६

टोटमवाद आदि विभिन्न रूपो मे होते हुए निरन्तर विकास की प्रक्रिया मे चलता रहा।[1] यद्यपि यह धर्म जादू, अन्धविश्वास एव रूढिवाद के प्रभाव से परिपूर्ण था किन्तु सामाजिक आचारो एव रीति–रिवाजो के प्रति एकनिष्ठता के भाव एव आध्यात्मिक भावो के विकास को इस धर्म की महत्वपूर्ण देन माना जा सकता है।

(२) राष्ट्रीय धर्म– धर्म के विकास मे जातीय धर्म के पश्चात राष्ट्रीय धर्म का भी अपना अलग स्वरूप है। जातीय धर्म मे विकसित छोटी–छोटी जनजातियो की अपनी विभिन्न टोलियॉ होती थी जो अपने–अपने धर्म का पालन करती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर मे ये टोलियॉ आपस मे सघर्ष अथवा मित्रता के कारण जब एकता के सूत्र मे बॅध गयी तो वे सगठित होकर राष्ट्र के रूप मे प्रकट हुई होगी।[2] राष्ट्रीय भावना के विकास के साथ–साथ सामाजिक चेतना एव धार्मिक चेतना का भी विकास हुआ। विकास की इस प्रक्रिया मे व्यावहारिक आवश्यकताओ पर विशेष बल दिया गया क्योकि सामाजिक सगठन और राष्ट्रीय चेतना के कारण मनुष्य को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये एक–दूसरे पर निर्भर होना पडता था। इसलिये प्रत्येक क्षेत्र मे एकता की आवश्यकता पडी और यही एकता की भावना ने धर्म के क्षेत्र को भी प्रभावित किया। फलस्वरूप विभिन्न जनजातीय टोलियो मे बॅटा हुआ धर्म एक राष्ट्र धर्म के रूप विकसित हुआ।[3]

राष्ट्रीय धर्म की अपनी कुछ विशेषताऍ थी जिसके आधार पर इसे प्राचीन धर्म से अलग किया जा सकता है। राष्ट्रीय धर्म मे अनेक देवताओ के रूप मे शक्ति की कल्पना की गई और यही शक्ति ही सृष्टि का आधार मानी गई है।[4] इसके साथ ही

---

१ मिश्र हृदयनारायण पूर्वोद्धृत वही पृ०
२ पूर्वोक्त पृ० ८८–८६ वर्मा वेद प्रकाश पूर्वोद्धृत पृ० ६३–६४
३ पूर्वोक्त वर्मा वेद प्रकाश पूर्वोक्त
४ मिश्र हृदयनारायण पूर्वोक्त

राष्ट्रीय धर्म के अन्तर्गत देवताओ मे निहित शक्ति के साथ–साथ नैतिक गुणो का भी आरोपण किया गया और यही नैतिक उत्कृष्टता उनकी उपासना का एक महत्वपूर्ण कारण भी मानी गई है।[1] उपासकगण इन देवताओ मे न्याय उदारता दयालुता आदि नैतिक गुणो के विद्यमान होने की कल्पना करते थे और इसी कारण वे इन्हे समस्त नैतिक मूल्यो का सरक्षक मानते थे। राष्ट्रीय धर्म के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रो के लिए भिन्न–भिन्न देवताओ की भी कल्पना की गई।[2] दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि विभिन्न व्यवसायो को समुचित रूप से सम्पन्न करने के लिए भिन्न–भिन्न देवताओ की कल्पना की गई और इनमे सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से मनुष्य ने उनकी पूजा–उपासना प्रारम्भ की। इद्र को वर्षा का देवता और सरस्वती को ज्ञान की देवी के रूप मे स्वीकार करके उनकी उपासना करना इसका ज्वलन्त उदाहरण माना जा सकता है। सामाजिक सगठन मे विकसित एकतत्रीय शासन–पद्धति का प्रभाव राष्ट्रीय धर्म पर भी पडा। इसके प्रभाव के फलस्वरूप इस धर्म मे बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद का जन्म हुआ।[3] इसके अन्तर्गत राजा के समान एक सर्वोच्च देवता की कल्पना की गई जो अन्य सभी देवताओ का शासक समझा जाता था तथा यही सर्वोच्च देवता अन्य सभी देवताओ के कार्यों मे समन्वय स्थापित करता था। वैदिक धर्म मे एकेश्वरवाद का विकास इसका ज्वलन्त उदाहरण है। ये समस्त विशेषताएँ अनेक राष्ट्रो मे विकसित होने वाले विभिन्न धर्मों मे पाई जाती है तथा इन राष्ट्रो के नागरिको को उसी के अनुरूप आचरण करना अनिवार्य माना जाता है। इसी कारण इन धर्मों को राष्ट्रीय धर्म कहा जाता है।

---

१ मिश्र हृदयनारायण पूर्वोक्त, वर्मा वेद प्रकाश पूर्वोद्धृत पृ० ६४
२ वर्मा वेद प्रकाश पूर्वोद्धृत, पृ० ६५
३ पूर्वोक्त

राष्ट्रीय धर्म मे राष्ट्र को महत्व देने के कारण व्यक्तिवादी धार्मिक चेतना का विकास नही हो सका, किन्तु राष्ट्रीय धर्म के अधिक विकसित एव उत्कृष्ट प्रभाव को नकारा नही जा सकता।

(३) विश्वव्यापी धर्म– विश्वव्यापी धर्म को धर्म के इतिहास मे सबसे नवीनतम रूप माना जाता है। यह धर्म किसी जाति अथवा राष्ट्र की सीमा मे आबद्ध न होकर कुछ ऐसे धर्मों मे विकसित हुआ है जिन्हे विश्वव्यापी धर्म कहा जाता है।[१] धर्म के बाह्य आडम्बरो से मुक्त होकर यह धार्मिक चेतना के आन्तरिक पक्ष को विशेष महत्व देता है।[२] इसमे आध्यात्मिकता का स्थान सर्वोपरि है। इसलिए विश्वव्यापी धर्म को आध्यात्मिक धर्म की भी सज्ञा प्रदान की जाती है।[३] विश्वव्यापी धर्म मे कुछ ऐसे विशेष तत्व जैसे सीमाओ के बन्धन से मुक्त होना, मानव–स्वभाव मे निहित सामान्य तत्वो पर आधारित होना, व्यापकता, आध्यात्मिक भावना की प्रगाढता, मानवीय मूल्यो का महत्व, व्यक्तिगत स्वतत्रता आदि है जो राष्ट्रीय धर्म और विश्वव्यापी धर्म के बीच अन्तर स्पष्ट करते है।[४]

बौद्ध एव जैन धर्म को छोडकर अन्य विश्वव्यापी धर्मों मे ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, अत्यन्त दयालु, सर्वव्यापक, पूर्ण, शाश्वत तथा असीम मानने के साथ–साथ उसे विश्व का रचयिता माना जाता है और इसी रूप मे उसकी उपासना की जाती है।[५] ईश्वर को ही विश्व की एकमात्र परमसत्ता मानने के कारण ये धर्म वास्तविक अर्थ मे एकेश्वरवाद को स्वीकार करते है। वर्तमान मे भी ईश्वर की इसी अवधारणा को स्वीकार किया जाता है, किन्तु यह अवधारणा राष्ट्रीय धर्मों के ईश्वर मे नही उपलब्ध होती है। स्पष्टत कहा जा सकता है कि धर्म के विकास के दीर्घकालीन इतिहास मे ईश्वर की

---

१ वर्मा वेद प्रकाश पूर्वोद्धृत पृ० ६६ मिश्र हृदयनारायण पूर्वोद्धृत पृ० ६३
२ वर्मा वेद प्रकाश पूर्वोक्त, मिश्र हृदयनारायण पूर्वोक्त
३ मिश्र हृदयनारायण पूर्वोक्त
४ पूर्वोक्त
५ वर्मा वेद प्रकाश पूर्वोद्धृत पृ० ६६–६७

वर्तमान अवधारणा का विकास बहुत बाद मे हुआ। अत इस अवधारणा को धर्म का अनिवार्य तत्व तो नही किन्तु धर्म के लिए विशेष तत्व माना जा सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्म के प्रकाशन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। धार्मिक अनुभवो के द्वारा वैयक्तिक एव सामाजिक अभिव्यक्तिकरण के आधार पर धार्मिक विश्वासो मार्ग पथ समाज एव सम्प्रदाय मे विभिन्नता दिखाई पडती है।[1] वास्तव मे धर्म का वास्तविक सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से होता है और सस्थाएँ एव सम्प्रदाय इसके पश्चात् ही आविर्भूत होते है।[2]

धर्म के अध्ययन से जुडी भाषा–विमर्शात्मक समस्याओ का उल्लेख इस अध्याय के प्रारम्भ मे ही किया गया है। यहॉ पर उन समस्याओ का इस शोध प्रबन्ध से जुडे कुछ पक्षो के साथ प्रसगत उल्लेख किया जा रहा है। जिस प्रकार धर्म एव रिलीजन के समानार्थक प्रयोग से भ्रान्तियॉ उत्पन्न होती है तथा धर्म का एक सामान्यीकृत स्वरूप ही उभर कर सामने आ पाता है, उसी प्रकार अग्रेजी भाषा के अन्य बहुसख्यक शब्द है जो भारतीय धार्मिक अध्ययन मे सस्कृत शब्दो के समानार्थी रूप मे ग्रहण किये जाते है। इनमे सेक्ट्स (Sects) एव कल्ट्स (Cults) ऐसे शब्द है जिन्हे सम्प्रदाय एव पथ के रूप मे सामान्यत ग्रहण किया जाता है। अत सेक्ट्स एव कल्टस के इस रूपान्तरण या भारतीय धर्मो पर अध्यारोपण पर कुछ चिन्तन आवश्यक है।

सेक्ट का सामान्यत अर्थ धार्मिक सम्प्रदाय, धार्मिक श्रेणी, धर्म सम्प्रदाय, धार्मिक समुदाय, किसी विशेष दार्शनिक, दर्शनशास्त्र या मत के अनुयायी मतावलम्बी, समर्थक, भक्त, सम्प्रदाय, पन्थ, मार्ग, मत, शाखा, फिरका छेदन, निदर आदि से लिया जाता है।[3]

---

१ (स०) विशप डोनाल्ट एच० पूर्वोद्धृत पृ० १६६

२ मिश्र हृदयनारायण विश्व धर्म, इलाहाबाद १६६० पृ० १३

३ वृहत् अग्रेजी–हिन्दी कोश भाग–२ वाराणसी १६६६ पृ० १६७२

वस्तुत सेक्ट शब्द का प्रयोग धर्म के समाजशास्त्रीय पहलू के सदर्भ मे एक विशेष प्रकार के धार्मिक समुदाय के रूप मे किया जाता है।[1] शब्दोत्पत्ति की दृष्टि से यदि इस शब्द को लैटिन भाषा के सेकुई (Sequi) से जोडा जाय तो इसका अर्थ अनुसरण करने से लगाया जाता है। यदि उसका इसी भाषा के सेकेयर (Secare) से अर्थ निकाला जाय तो इसका अर्थ विभाजन करना या तिरस्कार करने से लगाया जा सकता है किन्तु सेक्ट मे ऐसे धर्म विभेद भाव को कही भी स्थान नही दिया गया और न ही ऐसे निषेधात्मक लक्षणार्थों का प्रयोग किया गया है।[2] विशेषत ऐसी स्थिति मे जब समाज मे शासन का प्रभुत्व हो या चर्च का प्रभुत्व स्थापित हो, तो ऐसी स्थिति मे सेक्ट लेबिल के रूप मे सभी धर्मों के सगठन को निर्दिष्ट करता है।[3] चर्च जैसी सस्था के सदर्भ मे सेक्ट्स को उस समूहात्मक 'लेबिल से सम्बोधित किया जाता है जिसमे प्रचलित मतविरोधी समुदाय, समाज, ईसाई मत मे दीक्षित समूह और एक क्रिस्तानी पथ सम्मिलित हो।[4]

भारतीय धर्म भी अनेक सम्प्रदायो को लेकर चलता है। प्रत्येक सेक्ट या सम्प्रदाय एक ऐसे अनगिनत उपासको का समूह होता है जो एक निश्चित देवी–देवता या उसके एक निश्चित स्वरूप को मानता है और जिसके अपने ही धार्मिक अनुदेश होते है।[5] उदाहरणस्वरूप यदि हम हिन्दू धर्मानुयायियो को देखे, तो इन मतानुयायियो मे किचित् अतर के साथ शैवमतानुयायियो या वैष्णवानुयायियो का समूह दिखाई देता है।[6] शैवमत

---

१ (स०) सिल्स डेविड एल० इण्टरनेशनल इनसाइकलोपीडिया ऑफ द सोशल साइन्सेज पूर्वोद्धृत पृ० १३० (स०) इलियट मर्सिया द इनसाइकलोपीडिया ऑफ रेलीजन न्यूयार्क १९८७ खण्ड १३ पृ० १५४

२ (स०) इलियट मर्सिया पूर्वोद्धृत पृ० १५४

३ पूर्वोक्त वही पृ०

४ पूर्वोक्त, पृ० १५५

५ (स०) हेस्टिंग्स जेम्स इनसाइकलोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स १९७४ खड १० पृ० ७१६

६ पूर्वोक्त पृ० ७१६ नायक जी०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १५

मे अपने इष्टदेव शिव या भैरव और वैष्णव मत मे विष्णु या विष्णु के अवतार की उपासना करने वाले अनुयायियो का एक समूह होता है।

सेक्ट्स का सामाजिक एव आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। यह समाज मे व्याप्त जटिल कार्यों को प्रकट करता है। यह समाज मे उपेक्षित निम्नवर्ण के लोगो को ऊपर उठने के लिए द्वार खोलता है और साथ ही आर्थिक दृष्टि से पैतृक अधिकार से वचित लोगो को भी प्रतिष्ठा प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करता है।[1] इस अर्थपूर्ण समुदाय का महत्व इसलिए और भी है कि यह वैयक्तिक रूप से पुर्नसगठित हुए सदस्यो को समाज मे रहने के अतिरिक्त परस्पर सहयोग एव सद्भाव बनाये रखने पर बल देता है।[2]

कल्ट शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द कुल्ट्स (Cultus) से मानी गई है जिसका अर्थ कृषि करना, जमीन जोतना सुधारना परिमार्जन आदि से लिया जाता है।[3] इसके अतिरिक्त कल्ट शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट प्रकार की धार्मिक पूजा, जो किसी सस्कार व देवता के सदर्भ मे हो, एक ऐसा सम्प्रदाय जो किसी निश्चित धर्म या अन्य पथ के सम्बन्ध मे विश्वास के परिप्रेक्ष्य मे भी किया जाता है।[4] कल्ट शब्द के अन्यत्र भी विभिन्न अर्थ प्राप्त होते है जिनमे धर्मसम्प्रदाय, धार्मिकमत, धर्मदूत, चिकित्साशास्त्र–विशेष तथा अवैज्ञानिक रोग, निदानाधिष्ठित चिकित्सा–पथ दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान सम्प्रदाय, पथ, उपासना, विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[5] कल्ट शब्द से तात्पर्य–धार्मिक उपासना पद्धति किसी विशेष सदर्भ मे किये गये धार्मिक अनुष्ठान एव समारोह, एक पथ से जुडे हुए सामान्य सिद्धान्त या मतवादी या नेतृत्व या भक्ति के

---

१ (स०) सिल्स डेविड इण्टरनेशनल इनसाइकलोपीडिया ऑफ द सोशल साइन्सेज पूर्वोद्धृत पृ० १३२
२ पूर्वोक्त वही पृ०
३ कोलिन्स इगलिश डिक्शनरी ग्लासगो लदन पृ० ३६३
४ पूर्वोक्त, वही पृ०
५ वृहत् अग्रेजी–हिन्दी कोश वाराणसी १९६६ भाग–१ पृ० ४५२

आधारस्वरूप मे दृढ विश्वास या हठधर्मी एक निश्चितता की प्राप्ति किसी व्यक्ति या वस्तु मे प्राय धार्मिक श्रद्धा होना आदि से लगाया जाता है।[1]

कल्ट को स्पष्ट रूप से परिभाषित करना कठिन है किन्तु साहित्य के धरातल पर इसकी जो रूपरेखा खीची गई है उससे तात्पर्य एक ऐसे स्वतत्र सगठन और अपेक्षाकृत कुछ ऐसे अधिक वैयक्तिक समूह से है जो आपस मे उपासना सबधी धार्मिक कृत्यो पर विचार–विमर्श करते है।[2] वैयक्तिक रूप से सम्बन्धित एव अनुभवजन्य आधार होने के कारण कल्ट प्राय क्षणिक सा मालूम होता है क्योकि इसके सदस्यो मे कभी–कभी अधिक उतार–चढाव आ जाता है। प्राय कल्ट के सदस्य सामान्य अनुशासन को स्वीकार नही करते और न ही अन्य दूसरे धार्मिक समूहो की सदस्यता को स्वीकार करने की आवश्यकता समझते है।[3] आध्यात्मिक विद्या और नये विचार दोनो के आधार पर कल्ट का वर्गीकरण किया जा सकता है।[4] *विल्सन महोदय* ने भी कल्ट को एक ज्ञान सम्पन्न सम्प्रदाय के रूप मे वर्णित किया है।[5] स्पष्ट है कि कल्ट का अर्थ किसी धर्म सम्प्रदाय एव विशेष उपासना पद्धति से लगाया जा सकता है।

सम्प्रदाय शब्द की उत्पत्ति सस्कृत–व्याकरण के अन्तर्गत इस प्रकार की गई है– सम् + प्र + दा + घञ्।[6] इसका भिन्न–भिन्न अर्थ बताया गया है[7]– (१) परम्परा, परम्परा प्राप्त सिद्धान्त या ज्ञान, परम्परा प्राप्त शिक्षा (उत्तररामचरितम् ५.१५), (२) धर्म–शिक्षा की विशेष पद्धति, धार्मिक सिद्धान्त जिसके द्वारा किसी देवता विशेष की

---

१ न्यू बेबर्स डिक्शनरी ऑफ द इगलिश लैगवेज १६८५, पृ० २४५
२ (स०) हेस्टिग्स जेम्स पूर्वोद्धृत पृ० १३४
३ पूर्वोक्त
४ पूर्वोक्त
५ पूर्वोक्त
६ आप्टे, वामन शिवराम सस्कृत–हिन्दी कोश दिल्ली १६६६ पृ० १०८३
७ पूर्वोक्त

पूजा बताई जाय, (३) प्रचलित प्रथा प्रचलन। अन्यत्र भी सम्प्रदाय के विभिन्न अर्थ बताये गये हैं[1]– (१) परम्परा से चला आया हुआ ज्ञान मत या सिद्धान्त (२) परम्परा से चली आई परिपाटी प्रथा या रीति, (३) गुरु–परम्परा से मिलने वाला उपदेश या मत्र (४) किसी धर्म के अन्तर्गत कोई विशिष्ट मत या सिद्धान्त (५) उक्त प्रकार का मत या सिद्धान्त मानने वालो का वर्ग या समूह जैसे– वैष्णव या शैव सम्प्रदाय, फिरका। (६) कोई विशिष्ट धार्मिक मत या सिद्धान्त जैसे– भारत मे अनेक मतो एव सम्प्रदायो के लोग रहते है। (७) किसी विचार, विषय या सिद्धान्त के सम्बन्ध मे एक ही तरह के विचार या मत रखने वाले लोगो का वर्ग (८) मार्ग।

इस प्रकार सम्प्रदाय एक ऐसा धार्मिक समुदाय है जो चारो ओर से हठधर्मिता के सिद्धान्त द्वारा सगठित होता है।[2] सम्प्रदाय शब्द के उपरोक्त अर्थ से साम्य रखता हुआ प्रषडनि शब्द का प्रयोग मौर्यकाल मे अशोक के लेखो मे मिलता है। अशोक ने अपने बारहवे शिलालेख मे स्पष्ट कहा है कि सभी धार्मिक सम्प्रदायो का सम्मान किया जाना चाहिये तथा सभी सम्प्रदायो की सारवृद्धि की कामना की है। एक–दूसरे के सम्प्रदाय की निन्दा छोडकर उन्नति की कामना करने का उपदेश दिया है।[3] यहॉ प्रषडनि का प्रयोग ऐसे लोगो के अर्थ मे किया गया है जो किसी एक निश्चित सिद्धान्त का अनुसरण करते हो या भिन्न–भिन्न धार्मिक सम्प्रदायो से माना गया है, शाब्दिक रूप मे पार्षद का अर्थ भी एक समाज या सभा के सदस्य से माना है।[4]

---

१ (स०) वर्मा रामचन्द्र मानक हिन्दी कोश प्रयाग १९६६ खण्ड V पृ० २२५

२ (स०) विशप डोनाल्ड एच० पूर्वोद्धृत पृ० १६६

३ सरकार डी०सी० सेलेक्ट इन्स्क्रपशस बियरिंग ऑन इडिया हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन कलकत्ता १९६५ खड I पृ० ३२ –
देवानप्रियो प्रियद्रशि रय सव्र–प्रषडनि प्रव्रजित (नि) ग्रहथनि च पुजेति दनेन विविधये च पुजये (१) नो चु तथ (द) न व पुज व।

४ पूर्वोक्त

इस प्रकार सेक्ट, कल्ट सम्प्रदाय, पन्थ आदि शब्द अपने मे एक विशेष तकनीकी अर्थ को प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि इनकी एक निश्चित परिभाषा देना कुछ कठिन है किन्तु सामान्यत इसका अर्थ धर्म सम्प्रदाय पथ या किसी धर्म के अन्तर्गत कोई विशिष्ट मत या सिद्धान्त से लगाना उचित प्रतीत होता है। ये धार्मिक सस्थाएँ और सम्प्रदाय धार्मिक अनुभूति के पश्चात् ही आविर्भूत होते है। वैष्णव सम्प्रदाय मे राधा–कृष्ण भक्ति का प्रचार–प्रसार करने मे अनेक सम्प्रदायो ने अपना अभूतपूर्व योगदान दिया जिसमे निम्बार्क सम्प्रदाय गौडीय सम्प्रदाय वल्लभ सम्प्रदाय राधावल्लभ सम्प्रदाय का विशेष स्थान है। इनके प्रयासो द्वारा ही धर्म–जगत मे एक अलग सम्प्रदाय की स्थापना हुई जिसे राधाकृष्ण सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है।

द्वितीय अध्याय

राधाकृष्ण सम्प्रदाय : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विकासात्मक स्वरूप

द्वितीय–अध्याय

राधाकृष्ण सम्प्रदाय : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे विकासात्मक स्वरूप

अतिप्राचीन काल से भारतीय चिन्तनधारा धर्मगत उत्कण्ठा से अनुप्राणित होती रही है जिसमे नैतिक मूल्यो आचारगत अभिव्यक्तियो एव जगन्नियन्ता के प्रति समर्पण की भावना का सन्निवेश मिलता है। पुराणो मे अनेकानेक देवी–देवताओ का उल्लेख मिलता है, जिसमे पञ्चदेवताओ की आराधना प्रधान मानी जाती है।[1] पञ्चदेवो मे विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश एव सूर्य को सम्मिलित किया गया है और यही देवता परवर्ती काल मे आकर प्रधान हो गये।[2] कालान्तर मे इन देवताओ से सम्बन्धित पृथक्–पृथक् वर्ग हो गये, जो हिन्दू धर्म मे स्वतत्र सम्प्रदाय एव उपसम्प्रदायो के रूप मे विकसित हुए। विष्णु से वैष्णव धर्म, शिव से शैव धर्म, शक्ति से शाक्त धर्म, गणेश से गाणपत्य धर्म एव सूर्य से सौर धर्म का उत्कर्ष हुआ, जिसमे अपने देवी–देवता के स्वरूपगत दर्शन एव पद्धतियो के आधार पर भिन्नता दिखाई देती थी।

वैष्णव धर्म मे विष्णु एव उनके विविध रूपो का अध्ययन किया जाता है। विष्णु के कृष्णावतार रूप को वैष्णव धर्म के वासुदेव सम्प्रदाय,[3] नारायण सम्प्रदाय[4] एव

---

१ जायसवाल सुवीरा, वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास नई दिल्ली १९९६ पृ० ६१

२ मिश्र, जयशकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, दिल्ली १९९२ पृ० ७१५

३ फ्लीट, कार्पस इस्क्रिप्शनम् इडिकोरम, वाराणसी, भाग–३ पृ० ५४

४ गुप्ता सुमन्त, गुप्तवशीय अभिलेखो का धार्मिक अध्ययन नई दिल्ली, १९८१, पृ० ७७

भागवत–सम्प्रदाय[1] से किसी न किसी रूप मे सबद्ध किया जाता है। इस प्रकार जब कृष्ण मे विष्णु की भावना मिल गई तो राधा को शक्ति के अवतार रूप मे उनके साथ जोडा गया जिससे कालातर मे राधाकृष्ण सम्प्रदाय के स्वतत्र रूप को विकसित होने मे सहायता मिली और इसी राधाकृष्ण सम्प्रदाय ने एक नवीन वैष्णववाद को जन्म दिया।[2]

राधा–कृष्ण तत्व भारतीय जीवन मे अति प्राचीनकाल से विद्यमान है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष का विकास, वर्द्धन एव परिवर्तन अवस्थानुकूल होता रहता है, उसी प्रकार राधा और कृष्ण की भावना का बीज भी वेदो, ब्राह्मणो एव उपनिषदो मे विद्यमान रहा है किन्तु उसका स्फुटन, विकास, वर्द्धन एव परिवर्तन आगामी युगो मे क्रमश सामयिक परिस्थितियो के अनुरूप होता रहा। राधाकृष्ण सम्प्रदाय के विकासात्मक स्वरूप का सम्यक् रूप से ऐतिहासिक अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि राधा और कृष्ण तत्व की पृथक्–पृथक् समीक्षा की जाय। तदोपरात इसमे इस तथ्य का विश्लेषण किया जाय कि कब और कैसे यह दोनो तत्व (राधा एव कृष्ण) युगल रूप मे एक सम्प्रदाय विशेष मे केन्द्रीय देवता के रूप मे प्रतिष्ठित हुए।

राधा तत्व का विकास ऐतिहासिक अनुशीलन

वैष्णव भक्तिधारा मे राधा के आविर्भाव का प्रश्न ऐतिहासिक दृष्टि से पर्याप्त गवेषणा का विषय रहा है। कृष्णभक्ति शाखा के प्रत्येक वैष्णव–सम्प्रदायो ने अपनी–अपनी मान्यता के अनुरूप राधा के स्वरूप एव शक्ति की कल्पना करके उसे किसी न किसी रूप मे स्वीकार किया है।[3] वैष्णव धर्म के प्रतिष्ठाता ग्रथ **श्रीमद्भागवत** मे राधा नाम की अप्राप्ति ने राधा के आविर्भाव के प्रश्न को और भी जटिल बना दिया

---

१ गुप्ता सुमन्त, पूर्वोद्धृत, वही पृ०

२ मिश्रा, के०सी०, द कल्ट ऑव जगन्नाथ कलकत्ता, १९७१ पृ० ५७

३ स्नातक, विजयेन्द्र, राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य दिल्ली स० २०१४ वि० पृ० १७३

है। कुछ विद्वानो ने ऐतिहासिक आधार पर तथ्य निर्णय करते हुए राधा को लोकमानस की सृष्टि कहकर उसे ऐतिह्य से विलग करने का प्रयास किया है। यदि राधा को लोक मानस की सृष्टि मान लिया जाय, तो प्रश्न यह उठता है कि किस काल मे लोकमानस ने इस राधा की सृष्टि की और इस सर्जना का देश–कालगत का क्या आधार था? इसके अतिरिक्त यदि राधा को मात्र एक लौकिक नायिका माना जाय तो कृष्ण को भी एक लौकिक नायक मात्र स्वीकार करना पडेगा। यह दृष्टिकोण वैदिक परम्परा के धर्म प्रतिष्ठाता कृष्ण एव पौराणिक विष्णु के पूर्णावतार कृष्ण की ऐतिहासिकता दोनो को मूल्यहीन बना देता है।[१] वास्तव मे वैष्णव सम्प्रदायो मे राधा का अस्तित्व उसी प्रकार अनादि और अनन्त है, जिस प्रकार कृष्ण का। अत विविध साहित्यिक आभिलेखिक कलागत एव अन्य साक्ष्यो के आधार पर भारतीय सस्कृति मे राधा तत्व के विकासानुक्रम पर प्रकाश डाला जा सकता है।

साहित्यिक साक्ष्यो के अन्तर्गत प्राचीनता के आधार पर सर्वप्रथम वैदिक वाडमय को लिया जाता है। कुछ विद्वानो ने वैदिक वाड्मय मे राधा की उत्पत्ति सबधी विचार को ढूँढने का प्रयास किया है।[२] वेदो मे कई स्थलो पर राधस् शब्द का प्रयोग हुआ है। **ऋग्वेद** मे 'स्तोत्रराधानापते गिवाहो वीरयस्तते' पद का प्रयोग हुआ है[३] जिसके आधार पर कुछ विद्वानो ने इसका अर्थ राधा से मानने का प्रयास किया है किन्तु यहॉ राधा शब्द नामवाचक सज्ञा के रूप मे न होकर इद्र के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त हुआ है।[४] राधा शब्द का प्रयोग यहॉ धन, अन्न पूजा, नक्षत्र आदि अर्थों मे किया गया है न कि किसी आराध्य देवी के रूप मे।[५]

---

१ स्नातक विजयेन्द्र पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ

२ मुकर्जी एस०सी० ए स्टडी ऑव वैष्णविज्म इन एन्शियन्ट एण्ड मैडिवल बगाल कलकत्ता १९६६ पृ० १८४

३ ऋग्वेद १३०५

४ स्नातक विजयेन्द्र पूर्वोद्धृत पृ० १७४ लोढा कल्याणमल भारतीय साहित्य मे राधा दिल्ली १९८८ पृ ४

५ स्नातक विजयेन्द्र पूर्वोद्धृत, लोढा कल्याणमल पूर्वोद्धृत

बलदेव उपाध्याय ने वैदिक वाङ्मय मे प्रयुक्त राधा शब्द के अर्थ की विवेचना करते हुए अपना मत प्रस्तुत किया है। *बलदेव उपाध्याय* का कथन है कि राधा शब्द की उत्पत्ति राध्[1] पद के वृद्धौ धातु से है जिसमे आ उपसर्ग जोडने पर आराधयति धातुपद बनता है जिसका अर्थ अराधना, अर्चना से लिया जाता है। राधा अराधना की प्रतीक है और अराधना की उदात्तता उसके प्रेमपूर्ण होने मे है अर्थात् जो अराधना उदात्त प्रेम के साथ सम्पन्न नही की जाती है वह सही अर्थों मे अराधना नही कहलाती। इस प्रकार राधा शब्द के साथ प्रेम के प्राचुर्य एव भक्ति की विपुलता का भाव जुडता गया जिसे कालातर मे उसके (राधा के साथ) स्वाभाविक गुण के रूप मे स्वीकार करते हुए उदात्त प्रेम की साकार प्रतिमा के रूप मे साहित्य और धर्म मे राधा को प्रतिष्ठित किया गया।[2] अत परवर्ती राधा को वैदिक राधा का व्यक्तिकरण माना जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि यदि 'राधाना पतये' शब्द को ऋग्वैदिककाल मे इद्र के लिए प्रयुक्त मान भी लिया जाय, तो इतना निश्चित है कि कालातर मे जब इद्र का महत्व कम होने लगा और विष्णु की प्रधानता बढने लगी[3] तो पूर्व प्रचलित इन्द्र से सबधित कथाएँ भी विष्णु से सबद्ध होने लगी और विष्णु ही भुवनस्य राजा और 'राधानापति हो गये।[4] **ऐतरेय ब्राह्मण** के अनुसार विष्णु सब देवताओ मे श्रेष्ठ माने जाने

---

१ (स) आप्टे वामनशिवराम–सस्कृत–हिन्दी कोश–१९९७ पृ० ८५४ राध् पद से विभिन्न अर्थ प्राप्त किये जाते है– अनुकूल या दयार्द्र होना सम्पन्न होना या पूर्ण होना सफल होना समृद्ध होना तैयार होना मार डालना नष्ट करना। राध् मे आ उपसर्ग जोडने पर आराधना जिसका अर्थ आराधना अर्चना से लिया जाता है अनु० उपसर्ग जोडने पर अनुराधा– जिसका अर्थ मनाने अनुनय–विनय से लिया जाता है और अप उपसर्ग जोडने पर अपराध जैसे शब्दो की रचना होती है जिसका अर्थ रूष्ट करना ठेस पहुँचाना आदि से है। राधा शब्द का प्रयोग वैशाख के महीने विशाखा नामक नक्षत्र बिजली (विद्युत) के सदर्भ मे मिलता है।

२ उपाध्याय बलदेव भारतीय वाडमय मे श्रीराधा पटना १९६३ पृ० ३१ (स) इलियड मर्शिया द इनसाइकलोपीडिया ऑव रिलीजन खण्ड–१२ पृ० १९५–९६

३ शतपथ ब्राह्मण–१९ ३ १०

४ (स०) अग्रवाल वासुदेवशरण पोद्दार अभिनदन ग्रथ मथुरा सवत् २०१० पृ० २६५

लगे थे।[1] आगे चलकर जब कृष्ण का विष्णु के साथ सामजस्य स्थापित किया गया तो कृष्ण का 'राधानापति' होना स्वाभाविक था।[2]

इस आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल मे राधा शब्द का प्रयोग भले ही व्यक्तिवाची आराध्या राधा के लिए प्रयुक्त न हुआ हो किन्तु कालातर मे सभवत इसका सबध राधा देवी से कर दिया गया होगा। इसी प्रकार **कृष्णचरित** पर अनुसधान करते हुए **महाभारत** के टीकाकार *नीलकठ चतुर्धर* ने अपने प्रसिद्ध ग्रथ **मत्रभागवत मे ऋग्वेद** मे वर्णित एक मत्र को राधा विषयक सूचना प्रदान करने वाला बताया है। इस श्लोक को *नीलकठ चतुर्धर* ने व्याख्यायित करते हुए कहा है कि नदी समुद्र के ब्याज से विश्वामित्र गोपियो को कृष्ण के प्रति अभिसार करने के लिए प्रेरित करते है। जिस प्रकार नदियॉ समुद्र के पास जाकर अपने को पूर्ण करती है और जीवन को चरितार्थ करती है उसी प्रकार गोपियॉ भी जिनमे राधा प्रमुख गोपी है, कृष्ण से मिलकर अपने जीवन को पूर्ण बनाती है।[3] यहॉ सुराधा शब्द राधा की महत्वपूर्ण स्थिति होने के कारण गोपियो के लिए तथा शीभ शब्द कृष्ण के लिए प्रयुक्त किया गया है।[4] इस ग्रथ का रचनाकाल १७वी शती का उत्तरार्द्ध एव लगभग १८वी शती का आरम्भ माना गया है और इस समय तक वैष्णव धर्म एव राधा सम्प्रदाय का पूर्ण रूप से अभ्युदय हो चुका था। इसके अतिरिक्त इस धर्म से सबधित सिद्धान्तो को वेद से खोजने की परपरा का विकास हो चुका था।[5] अत इस ग्रथ को धार्मिक दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व न रखने के

---

१ मुशी के०एम० गुजरात एण्ड इटस लिटरेचर बम्बई १९३५, पृ० १२६–२७

२ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० ३१

३ ऋग्वेद–३ ३३ १२ – अतारिषुर्भरता गव्यव समभक्त विप्र सुमति नदीनाम।
प्रपिन्वध्वमिषयन्ती सुराधा आवक्षाणा पृणध्व यात शीभम।।

४ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० २२

५ पूर्वोक्त पृ० २१

कारण इसे राधा तत्व के विकासानुक्रम की प्रामाणिकता के लिए उचित नही ठहराया जा सकता।

वेदो की भॉति उपनिषदो मे भी राधा शब्द का प्रयोग यत्र–तत्र प्राप्त होता है। इसी सदर्भ मे **राधोपनिषद** एव **राधिकातापनीयोपनिषद्** का उल्लेख किया जा सकता है।[1] **राधोपनिषद्** मे राधा को कृष्ण की परम अन्तरगभूता एव आह्लादिनी शक्ति मे रूप मे वर्णित किया है।[2] **राधिकातापनीयोपनिषद्** मे राधा को कृष्ण की सर्वश्रेष्ठ नायिका कहा गया है तथा श्रीकृष्ण का उत्कृष्ट प्रेम केवल राधा के निमित्त है। इस उपनिषद् मे राधा की स्तुति करते हुए कहा गया है कि श्रीकृष्ण जिनके प्रेम मे निमग्न होकर उनकी पद–धूलि को अपने मस्तक पर धारण करते है तथा उनके ध्यान मे डूबे रहने के कारण उन्हे न तो अपने हाथ से गिरी वशी का पता चलता है और न ही उन्हे अपनी बिखरी अलको का ही स्मरण हो पाता, ऐसे श्रीकृष्ण क्रीतदास बने जिनके वश मे रहते है उन राधिका को नमस्कार है।[3]

यद्यपि उपरोक्त उपनिषद् राधा सबधी वर्णन करने मे स्पष्टत समर्थ है किन्तु इन उपनिषदो का आविर्भाव काल १७वी शती के बाद का माना जाने के कारण इन्हे राधा की विकास सबधी प्राचीन सूचनाये प्रदान करने मे, ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नही ठहराया जा सकता। इस मत का समर्थन करते हुए *बलदेव उपाध्याय* ने उचित ही कहा है कि ये उपनिषद् परवर्ती काल के है। यदि ये पूर्ववर्ती काल के होते, तो गौडीय गोस्वामियो द्वारा रचित ग्रथो मे इन उपनिषदीय उद्धरणो का उल्लेख अवश्य होता। अत इनकी अर्वाचीन स्थिति राधा के विकास क्रम के अध्ययन मे स्पष्ट है।[4]

---

१ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ०२०

२ पूर्वोक्त वही पृ०

३ राधिकातापनीयोपनिषद श्लोक न० ७– यस्या रेणु पादयोर्विश्वभर्तो धरते मूर्ध्निरहसि प्रेमयुक्त।
स्रस्तवेणु कबरी न स्मरेद्य तल्लीन कृष्ण क्रीतवत्ता नमाम।।

४ उपाध्याय, बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० २१

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि वेद और उपनिषदो मे प्राप्त राधा सबधी मत्रो के आधार पर कृष्ण की प्रिया राधा के (सज्ञावाचक रूप मे) उद्‌भव एव विकास की प्रामाणिकता सिद्ध नही की जा सकती है।

दक्षिणी अचल के सबसे प्राचीन तमिल–साहित्य मे राधा सबधी सकेत प्राप्त होते है। तमिल साहित्य का प्राचीनतम व्याकरण ग्रथ **तोलकाप्पियम्** माना जाता है। इस ग्रथ का रचनाकाल ई०पू० चतुर्थ शती के लगभग अथवा ई०पू० दूसरी शती के आस–पास निश्चित किया जाता है।[1] इस ग्रथ मे मुल्लै (वनभूमि) के आराध्य देव के लिए मायोन शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ नीलमेघ के समान द्युतिवाले भगवान अर्थात् विष्णु से लगाया जाता है।[2] इस वनभूमि मे गोचारण का व्यवसाय करने वाले लोग आयर (अहीर) कहलाते थे और इन्ही अहीर का प्रिय देवता विष्णु के अवतार रूप मे कृष्ण हुए जिनकी बाल–लीलाओ का सबध वनभूमि से था।[3] तमिलवासी कृष्ण को कण्णन् नाम से प्रेमवश सम्बोधित करते थे और यही कृण्णन् ब्रजभाषा के कान्ह या कन्हैया के समानार्थक प्रतीत होता है।[4] *सुवीरा जायसवाल* ने विविध तमिल ग्रन्थो मे वर्णित कविताओ के आधार पर कृष्ण को पशुपालक देवता रूप माना है जिन्होने ब्रज मे अनेक लीलाएँ की थी।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि ई०पू० की शताब्दियो मे भागवत धर्म एव अवतारवाद की प्रतिष्ठा स्थापित हो चुकी थी तथा विष्णु–नारायण–वासुदेव–कृष्ण का एकीकरण निश्चित हो गया था। *बलदेव उपाध्याय* ने इस बात की पुष्टि के लिए लगभग द्वितीय शती ई० के अन्य प्रमुख तमिल ग्रन्थो जैसे **शिलप्पदिकारम्, मणिमेकलै, परिपाडल्, जीवकचितामणि** आदि का उल्लेख किया है जिसमे कण्णन् (कृष्ण) की

---

१ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० ३६०

२ पूर्वोक्त पृ० ३६०–६१

३ पूर्वोक्त वही पृ०

४ पूर्वोक्त वही पृ०

५ दीक्षितार बी०आर०आर० द इडियन कल्चर ४ पृ० २६७–७१ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० ४२०

नायिका के रूप मे नैप्पिन्नै का वर्णन मिलता है।[1] *ए०के० मजूमदार* ने **शिलप्पदिकारम** मे वर्णित मायवन रूप मे कृष्ण तथा उनकी पत्नी के रूप मे नैप्पिन्नै का उल्लेख किया है।[2] इन ग्रथो मे वर्णित प्रसग से ज्ञात होता है कि कण्णन् ने नैप्पिन्नै के पाणिग्रहण की शर्त के अनुसार सात वृषभो (बैलो) को वश मे करके अपने प्रभूत पराक्रम का परिचय देकर उसके साथ विवाह किया। इस तमिल प्रथा को वृष–वशीकरण कहा जाता था।[3] यह नैप्पिन्नै आयर (गोप) कुल की कन्या थी।[4] यहाँ नैप्पिन्नै का तादात्म्य राधा से किया गया है,[5] जिसे उत्तर–भारत के साहित्य मे भी इसी नाम से जाना जाता है।[6] अन्यत्र उत्तर–भारतीय ग्रथो मे राधा को आभीर (अहीर) जाति की प्रेमदेवी के रूप मे वर्णित किया गया है जिसका सबध बालकृष्ण से रहा होगा।[7] इस आधार पर कहा जा सकता है कि तमिल–साहित्य मे लगभग ई०पू० चतुर्थ शती से लेकर द्वितीय शती ई० के बीच दक्षिण भारत मे कृष्ण सबधी कथाये प्रचलित हो गई थी और इसी बीच राधा का नैप्पिन्नै के रूप मे उद्भव हुआ होगा। कालातर मे वैष्णव आलवारो के समय लगभग सातवी से नवी शती ई० तक इसका कृष्ण–नैप्पिन्नै सम्प्रदाय के रूप मे विकास हुआ।[8]

---

१ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० ३६५, आयगर पी०टी० श्रीनिवासन् हिस्ट्री ऑफ द तमिलस नई दिल्ली १९८९ पृ० ४६५–५४२

२ मजूमदार ए०के० ए नोट ऑन द डेवलपमेट ऑफ राधा कल्ट एनल्स ऑफ दि भडारकर ओरियन्टल रिसर्च इस्टीटयूट १९५५, खण्ड ३६ पृ० २३१ एव आगे दीक्षितार वी०आर०आर० शिल्पदिकारम १९३९, पृ० २२९ २७७ एव २८२ मुकर्जी एस०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १८५–८६

३ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० ३६५, दासगुप्त शशिभूषण श्रीराधा का क्रम विकास–दर्शन और साहित्य मे वाराणसी १९५६ पृ० ११६–१७

४ उपाध्याय बलदेव पूर्वोक्त वही पृ०

५ पूर्वोक्त पृ० ३६४

६ बनर्जी पी० द लाइफ ऑव कृष्ण इन इडियन आर्ट दिल्ली १९७८ पृ० ११४

७ द्विवेदी हजारीप्रसाद सूर–साहित्य बबई १९५६ पृ० १६

८ चम्पकलक्ष्मी आर० वैष्णव आइकनोग्राफी इन द तमिल कन्ट्री नई दिल्ली १९८१ पृ० ४७ मुकर्जी एस०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १८४ हूपर जे०एस०एम० हिम्नस् ऑव द अलवारस, १९२१ पृ० ३१ दीक्षितार वी०वी० आर०, स्टडीज इन तमिल लिटरेचर एण्ड हिस्ट्री १९२८ पृ० १०३

स्पष्ट है कि राधा का कृष्ण की प्रिया नैप्पिन्नै के रूप मे दक्षिण भारतीय साहित्य मे विकास हुआ न कि राधा नाम से।

श्रीकृष्ण की प्रेयसी एव विशेष गोपी के रूप मे राधा नाम का सर्वप्रथम प्रयोग प्राकृत–साहित्य के विश्रुत काव्यग्रन्थ **गाथासप्तशती** मे हुआ ऐसा माना जाता है।[1] इस काव्यग्रन्थ की रचना सातवाहन नरेश हाल ने लगभग प्रथम शती ई० मे की थी।[2] *हालकृत* इस **गाथासप्तशती** का समय अन्यत्र द्वितीय शती ई० के लगभग भी माना गया है।[3]

गाथासप्तशती को श्रृगारिक भावो को प्रकट करने वाला अद्वितीय लोक–साहित्य माना जाता है।[4] इस कृति मे राधा–कृष्ण के श्रृगारिक रूपवर्णन मे राधा के नाम का उल्लेख प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है– हे कृष्ण! तुम अपने मुखमारूत अर्थात मुँह की फूँक से राधा के मुँह मे लगे गोरज (धूल) को दूर कर रहे हो। इस कार्य–व्यापार द्वारा तुम अन्य गोपियो का गौरव भी हरण कर रहे हो।[5] इस विवरण मे राधा के प्रति कृष्ण की विशिष्ट आसक्ति एव प्रेम का स्पष्ट सकेत प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण की प्रेयसी राधा का मासल रूप मे साहित्यिक आविर्भाव हो चुका था। एक आदर्श, भाव, प्रेम और भक्ति की साकार प्रतिमा के रूप मे प्रतिष्ठित राधा का एक स्थूल व्यक्तित्व मे रूपातरण कब और कैसे हुआ यदि इसकी समीक्षा की जायें तो यह स्पष्ट होता है कि इस प्रक्रिया का प्राचीनतम साक्ष्य उपरोक्त उद्धरण मे सदर्भित है। अत राधा की प्राचीनता प्रथम शती ई० के लगभग या इससे कुछ पूर्व मानी जा सकती

---

१ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० ३६० बसाक आर०जी०, गाथासप्तशती (बगाली अनुवाद) इन्ट्रोडक्शन १९५६ पृ० १९–२० मुकर्जी एस०सी० पूर्वोद्धत पृ० १८६–८७

२ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० २१७ चम्पकलक्ष्मी आर० पूर्वोद्धृत पृ० २१८

३ मुशी के०एम० कृष्णावतार खड I बबई १९७२ पृ० १०८

४ लोढा कल्याणमल, पूर्वोद्धृत पृ० १६

५ गाथासप्तशती १२९ – मुहमारूएण त कहण गोरअ राहिआएँ अवणेन्तो।
एताण वल्लवीण अण्णाण वि गोरअ हरसि।।

है। इस आधार पर राधा का प्रादुर्भाव स्थल उत्तर भारत मे लौकिक साहित्य के अन्तर्गत माना जा सकता है।[1]

गाथासप्तशती मे राधा का नाम प्राप्त होने से जहाँ एक ओर राधा के आविर्भाव की प्राचीनता निश्चित होती है वही दूसरी ओर यह प्रश्न भी उठता है कि जब प्रथम शती ई० मे राधा और कृष्ण की ये प्रेम–गाथाएँ प्रचलित थी तो अवश्य इनका प्रादुर्भाव ई० सन् के पूर्व मे हुआ होगा। इस सबध मे *आर०जी० भडारकर* का मत तर्कसगत प्रतीत होता है। *भडारकर* महोदय ने राधा को सीरिया से आये हुए अभीरो की ही जाति की इष्टदेवी तथा कृष्ण को आभीर जाति का बालदेवता माना है। यह आभीर देवता ही कालातर मे सभवत आर्यजाति के सात्वत् धर्म भगवान् कृष्ण के रूप मे सम्मिलित हो गये तथा आभीरो की देवी राधा को भी आर्यजाति के रूप मे स्वीकार कर लिया होगा।[2] कुछ विद्वानो जैसे *मुशीराम शर्मा* ने 'भारतीय साधना और सूर साहित्य मे आभीरो को *भडारकर* के मत के विरूद्ध भारत का मूल निवासी माना है।[3] आभीरो के विषय मे इतना स्पष्ट है कि वे ई० सन् के पूर्व भारत मे निवास कर रहे थे। काठियावाड से प्राप्त एक लिपि से पता चलता है कि शक १०२ मे आभीर राज्य कर रहे थे।[4] **वायुपुराण** जिसे प्राचीन पुराण माना जाता है, मे भी आभीर राजाओ की वशावली प्राप्त होती है।[5] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आभीर ईसवी सन् के पहले भारत मे आकर बस गये होगे। अत राधा की प्राचीनता को ई० सन् के पहले मानने का प्रयास किया जा सकता है।

---

१ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० ३६०

२ भडारकर आर०जी०, वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर रेलीजस सिस्टम्स पृ० ३८

३ स्नातक विजयेन्द्र पूर्वोद्धृत पृ० १७५

४ द्विवेदी हजारीप्रसाद पूर्वोद्धृत पृ० ५

५ पूर्वोक्त पृ० ५–६

सस्कृत–साहित्य के प्रसिद्ध कथा–ग्रन्थ **पचतत्र** मे कृष्ण की प्रेयसी के रूप मे राधा नाम का प्रथम बार प्रयोग मे मिलता है।[1] पचतत्र को *अल्टेकर* महोदय ने गुप्तकालीन रचना माना है।[2] इस ग्रथ मे राधा को गोपकुल मे उत्पन्न तथा नारायण (श्रीकृष्ण) की भार्या होने की लोक–प्रसिद्ध कथा उल्लिखित मिलती है।[3] इस ग्रथ का रचनाकाल पॉचवी–छठी शती ई० माना गया है।[4] इससे स्पष्ट होता है कि पॉचवी शती तक राधा ने सस्कृत–साहित्य मे स्थान प्राप्त कर लिया था।

पुराणो मे राधा के उद्‌भव एव विकास सबधी अनेक प्रसग प्राप्त होते है। **विष्णु पुराण, हरिवशपुराण, भागवत्पुराण** मे राधा का नामोल्लेख प्राप्त नही होता किन्तु **मत्स्यपुराण, पद्‌मपुराण, ब्रह्मवैवर्त** आदि पुराणो मे राधा विषयक उल्लेख प्राप्त होता है। **मत्स्यपुराण** मे राधा को वृदावन की अराध्य देवी के रूप मे वर्णित किया है किन्तु इसमे राधा–कृष्ण के प्रेम–प्रसगो का उल्लेख नही प्राप्त होता है।[5] **भागवतपुराण** जिसे वैष्णव साधना का मेरूदण्ड माना जाता है, मे राधा और कृष्ण सबधी अनेक ललित एव मधुर लीलाओ का तो वर्णन मिलता हैं, किन्तु सपूर्ण पुराण मे राधा का स्पष्टत नामोल्लेख प्राप्त नही होता है।[6] **भागवतपुराण** मे रासलीला का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि कृष्ण रासमडल मे से अपनी प्रियतमा गोपी को साथ लेकर अन्तर्निहित हो जाते है और तब अन्य गोपियॉ कृष्ण के साथ किसी ब्रजबाला का पदचिन्ह देखते हुए कहती है कि इस रमणी के द्वारा अवश्य ही भगवान कृष्ण आराधित हुए है क्योकि गोविन्द हमको

---

१ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० ३६०

२ राय उदयनारायण गुप्त राजवश तथा उसका युग इलाहाबाद १९६७ पृ० ४००

३ शर्मा विष्णु पचतत्रम प्रथम तत्रम–कथा–५, आप्टे एम०एस० पचतत्र ऑफ विष्णुशर्मन प्रथम तत्र पूना १८६४ पृ० ८०

४ स्नातक विजयेन्द्र पूर्वोद्धृत पृ० १८३ मुकर्जी एस०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १८७

५ मत्स्यपुराण १३ ३८

६ भटटाचार्य सुनील कुमार कृष्ण कल्ट दिल्ली १९७८ पृ० २०, मुशी के०एम० पूर्वोद्धृत पृ० १०८

छोडकर प्रसन्न होकर उसे एकान्त मे ले गये।[1] इस श्लोक मे आये अनयाराधिता पद का विद्वानो ने विभिन्न अर्थ निकालकर राधा के अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान होने का सकेत प्रदान किया है।

विश्वनाथ चक्रवर्ती ने **भागवतपुराण** के इस श्लोक की व्याख्या मे– नून हरिरय राधिताह राधा इतेह प्रतिपाह कहकर राधा से इसका सबध जोडा है।[2] इसी प्रकार निम्बार्क मत के अनुयायी टीकाकार *शुकदेव* ने अपने ग्रथ **सिद्धान्तप्रदीप** मे राधित पद की व्याख्या करते हुए लिखा है– कि राधित का अर्थ है– राधा से सयुक्त। अर्थात कृष्ण के विहार मे राधा ही हेतुभूत है। राधा और कृष्ण का निकुज विहार गोपनीय होता है। अत इसी कारण *शुकमुनि* ने न तो उस विशिष्ट गोपी का नाम ही उल्लिखित किया है और न ही स्पष्ट शब्दो मे कृष्ण के साथ उनके विहार करने का वर्णन किया है। स्पष्ट रूप से इस पद मे राधा का वर्णन हुआ माना जा सकता है।

श्रीमद्भागवत मे अन्यत्र भी राधा नाम प्रतिपादित किया गया है, किन्तु वह अस्पष्ट रूप मे है, जो इस प्रकार है–

नमो नमोऽस्त्वृषभाय सात्वता विदूरकाष्ठाय मुहु कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रस्यते नम ।।[3]

अर्थात् जो भक्तो के पालक है, हठपूर्वक भक्तिहीन साधन करने वाले लोग भी जिनकी छाया को छू नही सकते तथा जिनके समान किसी का ऐश्वर्य नही है तथा ऐसे ऐश्वर्य से युक्त होकर जो निरन्तर अपने ब्रह्मस्वरूप धाम मे विहार करते है ऐसे भगवान कृष्ण को बारम्बार प्रणाम है।

---

१ भागवत पुराण १० ३० २८– अनयाराधिता नून भगवान हरिरीश्वर ।
यन्नो विहाय गोविन्द प्रीतोयामनयद्रह ।।

२ स्नातक विजयेन्द्र पूर्वोद्धृत पृ० १८७

३ श्रीमद्भागवत पुराण, २ ४ १४

उपरोक्त पद्य मे राधसा शब्द शक्ति तथा ऐश्वर्य का द्योतक माना गया है।[1] यहाँ राधस् शब्द राध् धातु से सर्वधातुभ्योऽसन् के औणादिक सूत्र मे अस प्रत्यय लगने पर निर्मित हुआ है और इस शब्द का तृतीया विभक्ति राधसा है। अत इसी आधार पर राधा शब्द को भी राध् धातु से निष्पन्न माना जा सकता है। इस प्रकार राधस् एव राधा एक ही अर्थ के वाचक शब्द सिद्ध होते है।[2] इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि **श्रीमद्भागवत** मे प्रत्यक्ष रूप से राधा का नामोल्लेख अवश्य नही प्राप्त होता है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से राधा के सकेत सबधी उल्लेख को भी नकारा नही जा सकता।

भागवतपुराण का रचनाकाल *आर०सी० हाजरा* के अनुसार ६०० ई०–१००० ई० के मध्य निर्धारित किया जा सकता है या और अधिक इसकी सभावना ८०० ई० से १००० ई० के बीच भी निर्धारित की जा सकती है।[3] *के०एम० मुशी* ने भी **भागवतपुराण** को लगभग ८वी शती की रचना माना है।[4] श्रीकृष्ण–लीला का विशद् चित्रण करने वाले ग्रथ **श्रीमद्भागवत** मे राधा का स्पष्टत वर्णन न होने से विद्वानो ने राधा की प्राचीनता मे सदेह प्रकट किया है, लेकिन इतना अवश्य है कि ८वी से १०वी के बीच राधा और कृष्ण की नित्य क्रीडाओ का वर्णन वैष्णव ग्रथो मे अवश्य प्रचलित हो गया था।

ब्रह्मवैवर्तपुराण मे राधा शब्द और राधा–कृष्ण की अनेक लीलाओ का विशद् रूप से वर्णन हुआ है। इस पुराण मे राधा शब्दोत्पत्ति का स्पष्ट वर्णन मिलता है।[5] इसके अतिरिक्त **ब्रह्मवैवर्त पुराण** मे राधा को गोलोक मे रासपरायण श्रीकृष्ण के पार्श्वभाग से

---

१ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० १४

२ पूर्वोक्त

३ हाजरा आर०सी० स्टडीज इन द पौराणिक रिकार्डस ऑन हिन्दू राइटस एण्ड कस्टम्स दिल्ली १९८७ पृ० १८०

४ मुशी के०एम० पूर्वोद्धृत पृ० १०८

५ ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृतिखड ४८ ४०– राशब्दोच्चारणाद्भक्तो राति मुक्ति सुदुर्लभाम्।
धाशब्दोच्चारणाद्दुर्गे धावत्येव हरे पदम्।।

उत्पन्न बताया है और दौडकर भगवान के समीप जाने के कारण यह राधा कहलाई।[1] यही गोलोकोद्भवा राधा वृन्दावन धाम मे अवतीर्ण होकर समस्त ब्रजमडल के भक्तो की आराध्या बनी। **ब्रह्मवैवर्तपुराण** मे राधा को वराहकल्प मे गोकुल गॉव मे वृषभानु वैश्य (गोप) एव माता कलावती की पुत्री बताया है।[2] साथ ही राधा के विवाह सबधी उल्लेख भी प्राप्त होता है। इस पुराण मे राधा का विवाह रायाण नामक वैश्य के साथ हुआ उल्लिखित मिलता है।[3] **ब्रह्मवैवर्तपुराण** राधा के विकासात्मक स्वरूप पर स्पष्ट प्रकाश डालता है।

यद्यपि **ब्रह्मवैवर्तपुराण** मे राधा का अवलम्बन करके कृष्ण–लीला को अधिक रोचक बनाने का प्रयास किया गया है किन्तु इस पुराण की प्रामाणिकता पर सदेह व्यक्त किया गया है। इस सबध मे पहली बात यह कही जा सकती है कि वैष्णव गोस्वामियो ने इस पुराण की राधा–लीला का कोई उल्लेख अपने ग्रथो मे नही किया है।[4] दूसरी बात इस पुराण मे यह है कि इसमे राधा की उत्पत्ति अप्राकृतिक शैली मे वर्णित हुई है।[5] इसके साथ ही **ब्रह्मवैवर्तपुराण** का रचनाकाल अत्यधिक परवर्ती होने (लगभग १०वी से १६वी शती ई० के बीच)[6] के कारण इसमे वर्णित तथ्यो को ऐतिहासिकता की कसौटी पर परखना दुरूह प्रतीत होता है। फिर भी इतना स्पष्ट होता है कि १०वी शती के बाद राधा का वर्णन स्पष्ट रूप से वैष्णव पुराणो मे प्राप्त होने लगा था। इसके अतिरिक्त यह भी सभावना व्यक्त की जा सकती है, कि यदि राधा

---

१ ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्मखण्ड ५.२५–२६ नाम्बियार के० दामोदरम नारद–पुराण–ए क्रिटिकल स्टडी वाराणसी १६७६ पृ० १४१

२ ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृतिखड ४६.३७

३ ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृतिखड ४६.३६

४ दासगुप्त शशिभूषण पूर्वोद्धृत पृ० ११२

५ स्नातक विजयेन्द्र पूर्वोद्धृत पृ० १६०

६ हाजरा आर०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १८८

सबधी प्रसगो का **ब्रह्मवैवर्तपुराण** के रचनाकार ने इतना विशद वर्णन किया है तो जनमानस मे राधा के प्रादुर्भाव सबधी आख्यान पहले से अवश्य विद्यमान रहे होगे।

राधा के विकासात्मक स्वरूप के ऐतिहासिक अध्ययन के सदर्भ मे साहित्यिक साक्ष्यो के साथ–साथ अभिलेखिक साक्ष्यो का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इस सदर्भ मे धार के वाकपति मुज का ताम्रपत्र अभिलेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसे राधा के सबध मे प्रथम अभिलेखिक साक्ष्य माना जाता है। इस अभिलेख मे कृष्ण द्वारा राधा के प्रति किये गये उदात्त प्रेम की अभिव्यजना व्यक्त की गई है जो इस प्रकार है-लक्ष्मी के वदनेदु द्वारा जिसे सुख नही प्राप्त था और जिसे स्वय की नाभि से उत्पन्न कमल से परिपूर्ण सरोवर भी शात करने की शक्ति नही रखते। इसके अतिरिक्त जो शेषनाग के हजार फणो की मधुर सास से भी आश्वासित नही हुआ। ऐसे राधा–विरहातुर मुररिपु की कपित देह तुम्हारी रक्षा करे।[1] (देखिये चित्र स० १)। इस श्लोक मे आये राधा विरहातुर शब्द का प्रयोग राधा के वियोग मे कृष्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है। अभिलेख मे वर्णित राधा–कृष्ण सबधी विरह प्रसग से इस बात की सभावना व्यक्त की जा सकती है कि इस अभिलेख की तिथि से पूर्व लोकमानस मे राधाकृष्ण से जुडे अनेक प्रेम कथानक व्यापक रूप मे प्रचलित रहे होगे।

वाक्पति मुज के उपरोक्त वर्णित अभिलेख की तिथि विक्रम सवत् १०३१ या ९७४ ई० मानी गई है।[2] कालान्तर मे इसी अभिलेखिक पद्य को धार शासक के अन्य दूसरे अभिलेखो मे कुछ भिन्न–भिन्न परिवर्तित तिथि जैसे विक्रम सवत् १०३६ और

---

१ बर्गेस जे०ए०एस० इण्डियन एन्टिक्वैरी खड VI दिल्ली १८७७ पृ० ५१
यल्लक्ष्मीवदनेन्दुना न सुखित यन्नाऽऽर्द्रितम्वारिधेर्त्वारा यन्न निजेन नाभिसरसीपद्मेन शान्तिगत।
यच्छेषाहिफणासहस्रमधुरश्वासेन चाऽऽश्वासित तद्राधाविरहातुर मुररिपोर्व्वेल्लद्वपु पातु व ।।

२ बर्गेस जे०ए०एस० पूर्वोद्धृत पृ० ५१, मुकर्जी एस०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १८६

१०४६ (६८० ई० और ६८६ ई०) आदि मे वर्णित किया गया है।[1] इस बात की पुष्टि अनेक विद्वानो ने की है जिसमे *राजेन्द्र लाल मित्रा* (जनरल बगाल एशियाटिक सोसायटी खड XIX पृ० ४७५) *कीलहार्न* (इण्डियन एन्टिक्वैरी, खड XIV पृ० १५६–६१), *एफ०ई० हॉल* (जनरल बगाल एशियाटिक सोसाइटी खण्ड XXX पृ० १६५–२१०) और *के०एन० दीक्षित* (एपिग्राफिका इडिका खड XXIII पृ० १०८–१३) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[2] *के०एन० दीक्षित* के अनुसार वाकपति मुज के गनोरी ताम्रपत्र मे भी इस पद्याश का उल्लेख हुआ है जिसकी तिथि विक्रम सवत १०३८ और विक्रम सवत् १०४३ है। (देखिये क्रमश चित्र सख्या २ एव ३)।उपरोक्त वर्णन के आधार पर प्रस्तुत पद्य मे राधा नामोल्लेख की निश्चितता पर गहन प्रकाश पडता है।

मडोर (राजस्थान) से प्राप्त एक प्रतिहारकालीन शिलालेख का इसी सदर्भ मे उल्लेख किया जा सकता है। इसका समय ८वी–६वी शती के लगभग माना जाता है।[3] इसे राधा सबधी सूचना प्रदान करने वाला प्रमुख अभिलेख माना जाता है जो वर्तमान मे जोधपुर सग्रहालय मे सुरक्षित है। इस अभिलेख मे विष्णु के लिए प्रयुक्त अनेक विशेषणो जैसे– केशव हरि, वासुदेव शौरि के साथ–साथ उनके वामन और नृसिह अवतार का भी वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त कृष्ण की अनेक क्रीडाओ का राधा और उनकी अन्य गोपियो के साथ उल्लेख मिलता है।[4] इस अभिलेख की एक पक्ति मे कहा गया है–

गोपी गिरौ गोकुले श्रुत्वा (?) राधिकया स्वभूषण विधि शौरे

---

१ तिवारी एस०पी० अर्ली इन्स्क्रपशनल रिफरेन्सेज टू राधा' सग्रहालय पुरातत्त्व पत्रिका उ०प्र० लखनऊ जून ७८–दिसम्बर ७६ पृ० ८५।

२ पूर्वोक्त वही पृ०

३ बनर्जी पी० पूर्वोद्धृत पृ० १५६

४ अग्रवाल आर०सी० प्रोसीडिग ऑव हिस्ट्री ऑव काग्रेस १६५४ पृ० १६३ बनर्जी पी० पूर्वोद्धृत पृ० १५६

कृत रूप हरे पातुव।[1]

प्रस्तुत पक्ति राधा के अस्तित्व के लिए निश्चित रूप से महत्वपूर्ण है। इसमे प्रयुक्त शौरि शब्द कृष्ण तथा गोकुल उनके स्थान के लिए प्रयोग हुआ है किन्तु स्वभूषण विधि शब्द जैसे शब्दो का स्पष्टत अर्थ नही पता चलता है कि ये राधा के लिए प्रयुक्त किया गया है अथवा कृष्ण (शौरि) के लिए। किन्तु इतना स्पष्ट है कि अभिलेख की इस पक्ति मे राधा और कृष्ण के विरह का कही सकेत नही किया गया है, बल्कि उन दोनो के प्रेम और लीलाओ की अद्भुत झॉकी प्रस्तुत की गई है।[2]

उपरोक्त आभिलेखिक साक्ष्यो के आधार पर कहा जा सकता है कि ८वी–६वी शती से लेकर १०वी शती तक मे लोकमानस मे राधा और कृष्ण के प्रेम–कथानको के सयोग एव वियोग दोनो पक्षो का प्रचार–प्रसार हो गया था।[3] इससे राधा के उद्भव को और भी प्राचीन माना जा सकता है। *के०एम० मुशी* के अनुसार राधा की उत्पत्ति प्रेमा–भक्ति के कारण ८०० ई० के पूर्व मे ही हो चुकी थी।[4] किन्तु इतना अवश्य माना जा सकता है कि ८वी–६वी शती तक राधा एक श्रृगारिक नायिका के रूप मे आर्विभूत हो चुकी थी जिसके प्रभाव से साहित्य जगत एव कला भी अछूता नही रहा। कश्मीर के राजा अवतिवर्मन् (८५६ ई०–८८३ ई०) के समकालीन आनन्दवर्धन ने ८५० ई०[5] के लगभग अपने प्रसिद्ध सस्कृत काव्य ग्रथ **ध्वन्यालोक** मे राधा का उल्लेख किया है।[6] इसी प्रकार कला–जगल मे पहाडपुर से लगभग ८वी शती के पालवशीय शासक धर्मपाल द्वारा निर्मित बौद्धस्तूप के उत्खनन से प्राप्त सामग्री से मिले राधा–कृष्ण की

---

१ बनर्जी पी० पूर्वोद्धृत पृ० १५६ अग्रवाल आर०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १६३

२ तिवारी एस०पी० पूर्वोद्धृत सग्रहालय पुरातत्व पत्रिका उ०प्र० लखनऊ पृ० ८६

३ पूर्वोक्त वही पृ०

४ मुशी के०एम० पूर्वोद्धृत पृ० १२६–२७

५ लोढा कल्याणमल पूर्वोद्धृत पृ० १६ मुकर्जी एस०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १८।

६ ध्वन्यालोक द्वितीय उद्योत कारिका ५, पृ० १२६– तेषा गोपवधूविलाससुहृदा राधारहः साक्षिणाम्

युगल मूर्ति[1] एव लगभग इसी समय के पल्लववशीय शासक नरसिहवर्मन् प्रथम के कृष्ण–मडप मे कृष्ण के साथ नैप्पिन्नै (राधा) का उत्कीर्णन्[2] इस बात को द्योतित करता है कि राधा का कृष्ण के साथ अकन ८वी शती तक हो चुका था। इसी आधार पर ८००ई०–१००० ई० के बीच रचित ग्रन्थ **भागवतपुराण** मे राधाकृष्ण सबधित लीला वर्णन को भी नकारा नही जा सकता। यह बात अवश्य है कि इसमे राधा का स्पष्टत नाम नही मिलता है। इस सम्बन्ध मे विद्वानो ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि **श्रीमद्भागवत** मे किसी भी गोपी का नामोल्लेख नही किया गया है तो इससे *श्रीमद्भागवतकार* की शैली स्वय स्पष्ट होती है कि वे जान–बूझकर किसी गोपी या राधा का नाम नही लिखना चाहते थे। इसी कारण उन्होने राधा को 'विशेष गोपी' कहकर सम्बोधित किया है।[3] *जे०एन० फर्कुहर* ने भी **भागवतपुराण** मे राधा के उद्भव एव राधाभक्ति के प्रारभ को मानते हुए कहा है कि इसी समय से राधा का भक्ति मे प्रवेश हो गया था।[4] *सी०वी० वैद्य* ने भी अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ईसा की छठी–सातवी शताब्दी तक राधा–भक्ति का उदय भले ही नही हुआ था किन्तु इसके बाद ही प्रेमलक्षणा–भक्ति पद्धति के प्रचारित हो जाने के बाद राधा का भक्ति क्षेत्र मे प्रवेश अवश्य हुआ होगा।[5] इस आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ८वी शती ई० से लेकर लगभग १० शती ई० के बीच राधा–सम्प्रदाय का बीज भक्ति–क्षेत्र प्रस्फुटित होने लगा था। इसके साथ ही साथ उन्हे समस्त भारत मे इस समय तक कृष्ण की नायिका के रूप मे भी मान्यता प्राप्त होने लगी। कालातर मे रचित अनेक

---

१ मीतल प्रभुदयाल ब्रज की कलाओ का इतिहास मथुरा १९७५, पृ० २४४–४५, दासगुप्त चारूचद्र पहाडपुर एण्ड इटज मॉन्यूमेन्टस १९६१ पृ० २६ चित्रफलक VIII (b)

२ गोस्वामी ए० द आर्ट ऑव पल्लवस् पृ० १७–१८ चित्रफलक २२

३ भागवत–दर्शन–१ (श्रीमद्भागवत–महापुराण) बबई स० २०३७ पृ० ७५

४ फर्कुहर, जे०एन० एन आउटलाइन ऑव द रेलीजस् लिटरेचर ऑव इडिया लदन १९२० पृ २३०–५०

५ वैद्य सी०वी० हिस्ट्री ऑव मैडिवल हिन्दू इडिया खड III पूना १९२१–२६ पृ० ४१५

साहित्यिक–ग्रथो से इस बात की पुष्टि होती है कि तत्कालीन समाज मे राधा को कृष्ण की प्रधान प्रेयसी या नायिका के रूप मे मान्यता प्राप्त होने लगी थी।

क्षेमेन्द्र रचित **दशावतारचरित**[१] (१०६६ ई०) मे राधा का कृष्ण की प्रधान प्रेयसी के रूप मे वर्णन किया गया है। इसी प्रकार ऐतिहासिक कृति **विक्रमाकदेवचरित**[२] मे राधा का उल्लेख हुआ है। इस ग्रन्थ की रचना चालुक्यवशीय शासक विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६–११२७ ई०)[३] के राजकवि *विल्हणदेव* ने की थी। बगाल के सेनवशीय शासक लक्ष्मणसेन (११७६–१२०३ ई०)[४] के राजदरबारी कवि *जयदेव* की प्रसिद्ध रचना **गीतगोविन्द** मे राधा सबधी विवरण विस्तार से प्राप्त होता है।[५] राधा सबधी अनेक विवरण यद्यपि **गीतगोविन्द** से पूर्व अवश्य प्राप्त होते है किन्तु वह गोपी रूप को प्रस्तुत करता है। **गीतगोविन्द** मे राधा का कृष्ण की नायिका के रूप मे एक स्वतत्र चरित्र प्राप्त होता है।[६] अन्य विद्वानो ने भी राधा की प्राचीनता के विषय मे अध्ययन करते समय **गीतगोविन्द** की राधा को एक नायिका एव श्रीकृष्ण को एक नायक के रूप मे प्रस्तुत करने वाला प्रमुख साहित्यिक साक्ष्य माना है।[७] *जयदेव* ने तो अपने काव्य का श्रीगणेश ही राधा और कृष्ण की श्रृगारिक प्रेम–लीलाओ से प्रारम्भ किया है।[८] इस प्रकार बगाल मे वैष्णववाद के विकास मे कृष्ण के साथ राधा के स्वरूप ने भी सयुक्त रूप से महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया।[९]

---

१ दशावतारचरित श्लोक, ८३

२ विक्रमाकदेव चरित १५

३ शास्त्री नीलकठ दक्षिण भारत का इतिहास २००२ पृ० १७४

४ मुशी के०एम० पूर्वोद्धृत पृ० १०८, मुकर्जी एस०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १६१

५ पूर्वोक्त भट्टाचार्य सुनीलकुमार पूर्वोद्धृत पृ० २२, मुकर्जी एस०सी० पूर्वोद्धृत वही पृ०

६ (स०) वात्स्यायन कपिला गीतगोविन्द इलाहाबाद १६८३ पृ० १० भटटाचार्य सुनीलकुमार पूर्वोद्धृत पृ० २२ आर्चर डब्ल्यू जी० द लव्स ऑव कृष्ण इन इडियन पेन्टिग एण्ड पोएट्री लदन १६५७ पृ० ७६ दास आर०के० टेम्पुल्स ऑव वृन्दावन दिल्ली १६६० पृ० ३६

७ द्विवेदी प्रेमशकर गीतगोविन्द साहित्यिक एव कलागत अनुशीलन खड I वाराणसी १६८८ पृ० २८

८ गीतगोविन्दकाव्यम् प्रथम सर्ग श्लोक १

६ मुकर्जी एस०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १६१–६२

विविध साहित्यिक एव आभिलेखिक साक्ष्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राधा का साहित्यिक पटल पर आविर्भाव ८वी शती से पूर्व हो चुका था किन्तु आठवी शती ई० के पश्चात् प्राप्त अनेक साहित्यिक एव आभिलेखिक साक्ष्यो से राधा के अस्तित्व को एक सबल आधार प्राप्त हुआ जिसके आधार पर उसके विकासात्मक स्वरूप की ऐतिहासिकता मे सदेह नही किया जा सकता। यह बात अवश्य है कि दसवी शती ई० तक राधा को एक स्वतत्र नायिका के रूप मे स्वीकार नही किया गया था। इस सबध मे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हो सकता हो कि अब तक कृष्ण को भी जनमानस मे एक स्वतत्र देवता के रूप मे मान्यता न मिली रही हो। कालातर मे बौद्धो से प्राप्त श्रृगारी प्रवृत्ति को पौराणिक धर्म मे ग्रहण करने के लिए जब कृष्ण के श्रृगारी नायक रूप की कल्पना की जाने लगी तो उनकी नायिका के रूप मे राधा को स्थान दिया जाना स्वाभाविक प्रतीत हुआ हो।

स्पष्ट है कि १२वी शती ई० तक लोकमानस मे राधा का एक स्वतत्र नायिका के रूप मे विकास हो गया था और भक्ति के क्षेत्र मे भी उन्हे धार्मिक देवी के रूप मे प्रतिष्ठा प्राप्त होने लगी। इस आधार पर राधा–सम्प्रदाय के अस्तित्व को धार्मिक क्षेत्र मे एक निश्चित स्थान दिये जाने से सदेह नही किया जा सकता। निम्बार्क सम्प्रदाय (१२वी शती ई०) मे भी राधा को प्रथम बार धार्मिक देवी के रूप मे प्रस्तुत करते हुए श्रीकृष्ण की पत्नी के रूप मे स्वीकार किया गया है।[१] इसके अतिरिक्त दोनो की उपासना एक साथ करने का विधान भी बताया है। आगे चलकर चैतन्य–सम्प्रदाय वल्लभ सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय आदि सम्प्रदायो मे भी राधा का विकासात्मक स्वरूप दृष्टिगत होता है।[२] इसके अतिरिक्त अन्य मध्यकालीन साहित्यिक ग्रथो एव कला

---

१ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० ७१ मुहम्मद मलिक वैष्णव भक्ति आदोलन का अध्ययन दिल्ली १९७१ पृ० २७५, केनेडी द चैतन्य मूवमेन्ट १९२५, पृ० ७ मुकर्जी एस०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १८३ (स०) इलियट मर्शिया द इनसाइकलोपीडिया ऑफ रिलीजन खड १२ पृ० १९६

२ इलियट मर्शिया द इनसाइकलोपीडिया ऑफ रिलीजन खण्ड १२, पृ० १९६–९७

जगत मे विशेषत चित्रकला के क्षेत्र मे राधा के स्वरूप का जो बहुआयामी अनूठा एव चिरस्मरणीय विकास हुआ वह भारतीय सस्कृति के लिए अक्षुण्ण धरोहर के समान है। इस प्रकार राधा का स्वरूप सदैव से ही कलावेत्ता, धर्मवेत्ता इतिहासवेत्ता आदि के लिए एक सतत् अध्ययन का विषय रहा है।

कृष्ण तत्व का विकास ऐतिहासिक अनुशीलन

भारतीय साहित्य मे कृष्ण का स्थान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास वैदिक वाड्मय से लेकर पुराणो तक व्यापक रूप मे विस्तृत दिखाई पडता है। अत वैदिक वाड्मय से लेकर भागवत तक प्राप्त कतिपय कृष्णो के स्वरूप का एक ही कृष्ण मे जिस प्रकार समाविष्ट हुआ, वह आज भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।[१] कृष्ण के इस विविध–आयामी व्यक्तित्व का परस्पर समन्वय न कर पाने वाले कई पाश्चात्य समीक्षको ने इन्हे एक कल्पित प्राकृतिक–देवता अथवा जातीय देवता मानने पर बल दिया है।[२] *लोकमान्य तिलक* ने कृष्ण के अनेकत्व की धारणा को स्वीकार न करके उनकी एक ही सङ्घटित व्यक्तित्व की परिकल्पना प्रस्तुत की है।[३] जो भी हो इतना स्पष्ट हैं कि कृष्ण के विकासात्मक स्वरूप का ऐतिहासिक अध्ययन करने के लिए प्राचीन साहित्य मे वर्णित विविध कृष्णो के रूपो का अध्ययन अतिआवश्यक है।

सर्वप्रथम वैदिक वाड्मय मे उल्लिखित श्रीकृष्ण के असाधारण अद्भुत एव अलौकिक व्यक्तित्व और कृतित्व पर विस्तार से प्रकाश डाला जा सकता है। किन्तु यह समझना समीचीन न होगा कि कृष्ण नामक एक ही विशिष्ट व्यक्ति हुए है। गहन अध्ययनोपरात यह स्पष्ट होता है कि देवकी पुत्र कृष्ण से भिन्न अन्य कई कृष्ण भी हुए है, जिन्हे अपनी–अपनी विशेषताओ के कारण साहित्यिक ग्रथो मे स्थान प्राप्त हुआ है।

---

१ देव कपिल थ्योरी ऑव इनकार्नेशन इन मैडिवल इडियन लिटरेचर वाराणसी १९६३ पृ० ५२० मिश्र विन्ध्येश्वरी प्रसाद श्रीमद्भागवत मे कृष्णकथा दिल्ली २००० पृ० १४२–४३

२ मिश्र विन्ध्येश्वरी प्रसाद, पूर्वोद्धृत पृ० १४३

३ तिलक लोकमान्य बालगगाधर गीता रहस्य पूना १९६६ पृ० ५५१–५२

ऋग्वेद सहिता मे अनेक बार कृष्ण का नाम आया है। सर्वप्रथम **ऋग्वेद** के आठवे मडल के ७४वे सूक्त के कर्त्ता के लिए प्रयुक्त नाम कृष्ण आगिरसऋषि का उल्लेख किया जा सकता है।[1] किन्तु यहॉ कृष्ण नाम ऋषि के लिए प्रयुक्त होने के कारण उसका तादात्म्य **महाभारत** के नायक और वृष्णि–परिवार के कृष्ण के साथ नही किया जा सकता है।[2] **ऋग्वेद** मे अन्य स्थलो जैसे आठवे मडल के ८५, ८६ ८७वे तथा दसवे मडल के ४२ ४३, ४४वे सूक्तो मे कृष्ण नाम का प्रयोग ऋषि के लिए किया गया है।[3] अत विद्वानो का अभिमत है कि ये कृष्ण ऋषि देवकी–पुत्र कृष्ण से भिन्न है।[4]

द्वारका प्रसाद मित्तल ने 'हिन्दी साहित्य मे राधा' नामक पुस्तक मे कृष्ण ऋषि के सबध मे प्रकाश डालते हुए कहा है कि कृष्ण ऋषि के नाम पर कार्ष्णायन गोत्र का प्रचलन हुआ और इस गोत्र के प्रवर्तक के नाम पर वसुदेव के पुत्र का नाम कृष्ण रखा गया होगा।[5] इसी प्रकार **ऐतरेय आरण्यक** मे कृष्ण नामक एक असुरराज को अपने दस सहस्र सैनिको के साथ अशुमती (यमुना) के तटवर्ती प्रदेश मे रहने का उल्लेख प्राप्त होता है जिसे वृहस्पति की सहायता से इन्द्र ने पराजित किया था।[6] **ऋग्वेद** मे अन्यत्र इन्द्र को कृष्णासुर की गर्भवती स्त्रियो का वध करने वाला बताया है।[7] *डी०डी० कोसम्बी* के अनुसार **ऋग्वेद** मे कृष्ण को दानव एव इन्द्र का शत्रु बताया गया है और उसका नाम श्यामवर्ण आर्य से पूर्व लोगो का द्योतक प्रतीत होता है।[8] ऐसा प्रतीत होता है कि

---

१ भडारकर आर०जी० वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रेलिजस सिस्टम्स नई दिल्ली १९८७ पृ० १५, देव कपिल पूर्वोद्धृत पृ० ५२० भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १

२ भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १

३ शास्त्री देवेन्द्रमुनि भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी–श्रीकृष्ण–एक अनुशीलन राजस्थान १९७१ पृ० १७६

४ भडारकर आर०जी० पूर्वोद्धृत पृ० १५

५ शास्त्री देवेन्द्रमुनि पूर्वोद्धृत पृ० १७६

६ ऐतरेय ब्राह्मण ३ २ ६

७ ऋग्वेद १ १० ११

८ कोसम्बी डी०डी० प्राचीन भारत की सस्कृति और सभ्यता नई दिल्ली १९९० पृ० १४८

आर्यो के पूर्व भारत मे अनार्यो का शासन था। अत कृष्ण अनार्य जाति से सबधित थे[1] और इन्द्र आर्यो के प्रमुख देवता माने जाते थे।[2] *सुवीरा जायसवाल* ने *बी०के०जी० शास्त्री* (द भक्ति काल इन एन्शियन्ट इडिया) के मत का समर्थन करते हुए कृष्ण द्वारा इद्रोत्सव पर प्रतिबध लगाने एव वासुदेव–कृष्ण की अवैदिक उपासना का उल्लेख किया है।[3] यद्यपि इद्र और कृष्ण का वैरभाव कृष्णोपासना की प्राचीनता को अवश्य द्योतित करता है किन्तु यह उपासना उनकी अनार्य–देवता के रूप मे है न कि आर्य देवता।[4] स्पष्ट है कि ऋग्वैदिककाल मे कृष्ण का विष्णु के साथ एकीकरण स्थापित न होने के कारण उन्हे अनार्यों का देवता माना जाता रहा होगा। इस प्रकार ऋग्वैदिककालीन कृष्ण की साम्यता वृष्णिवशीय और देवकीपुत्र कृष्ण के साथ करना अनुचित प्रतीत होता है।

वैदिक वाड्मय के अन्तर्गत **छान्दोग्योपनिषद्** का उल्लेख किया जा सकता है। इस उपनिषद् मे देवकी पुत्र कृष्ण को गुरू घोर–आगिरस द्वारा ब्रह्मविद्या सीखने का उल्लेख किया गया है।[5] **छान्दोग्योपनिषद्** की प्राचीनता सर्वमान्य है। इस उपनिषद् मे उल्लिखित वर्णन को कृष्ण के स्वरूप की प्राचीनता को निश्चित करने मे सहायक माना जा सकता है। विद्वानो ने इस उपनिषद् को बौद्धकाल से पूर्व का प्रामाणित किया है।[6] सामान्यत **छान्दोग्योपनिषद्** का समय ८वी–७वी शती ई०पू० निर्धारित किया गया है।[7] स्पष्ट है कि ८वी–७वी शती ई०पू० के लगभग वैदिक वाड्मय मे श्रीकृष्ण को देवकी पुत्र एव घोर–आगिरस के शिष्य रूप मे मान्यता प्राप्त हो गई थी।

---

१ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० ५७

२ ऋग्वेद २१२४, २१२६

३ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० ५७

४ पूर्वोक्त वही पृ०

५ छान्दोग्योपनिषद् ३१७६–७

६ मैकडॉनल ए०ए० ए हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरेचर (अनु०) शास्त्री चारूचद्र वाराणसी सवत् २०१६ पाण्डे वीणापाणि हरिवशपुराण का सास्कृतिक विवेचन उत्तर प्रदेश १९६० पृ० १२

७ भट्टाचार्य, सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १ नाम्बियर के० दामोदरम् पूर्वोद्धृत पृ० १२५

कौषतकि ब्राह्मण[1] और **काठकसहिता**[2] जैसे वैदिक वाड्मय मे भी घोर आगिरस का उल्लेख भी इस बात की पुष्टि करता है। **छान्दोग्योपनिषद्** की तिथि से लगभग साम्य रखता हुआ जैन मत का भी उल्लेख किया जा सकता है। *वीणापाणि पाडे* ने **जैन सूत्र** के खड प्रथम के आधार पर कृष्ण को बाईसवे तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समकालीन बताया है।[3] *वीणापाणि* ने *स्टीवेन्सन* महोदय द्वारा दिये गये मत (हार्ट ऑफ जैनिज्म) का समर्थन करते हुए जैनियो के तेइसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ का काल ८१७ ई०पू० माना है।[4] इस आधार पर कृष्ण का समय लगभग ६वी शती ई०पू० के आस–पास माना जा सकता है।[5]

देवकीनन्दन कृष्ण के लिए वासुदेव, विष्णु नारायण गोविन्द आदि अनेक नाम प्रचलित रहे है।[6] कृष्ण वसुदेव के पुत्र थे अत वासुदेव कहलाते थे। कालातर मे वासुदेव की उपासना करने वाले वासुदेवक कहलाये।[7] *पाणिनि* द्वारा उल्लिखित सूत्र के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि ईसा से कम–से–कम चार सौ वर्ष पूर्व वासुदेव की पूजा प्रचलित हो चुकी थी।[8] *सुनील कुमार भट्टाचार्य* ने *पाँणिनि* कृत **अष्टाध्यायी** का समय ई०पू० ३५० माना है।[9] *वीणापाणि* ने *भडारकर* के अनुसार पाणिनि का समय ई०पू० सातवी शती निर्धारित किया है।[10] *हेमचन्द्र राय चौधरी* ने पाणिनि को ई०पू० पॉचवी–चौथी शती के आस–पास का माना है।[11] इस आधार पर पाणिनि का काल ई०पू० सातवी शताब्दी से चौथी शताब्दी ई० के बीच निर्धारित किया जा सकता है[12] और इसी समय वासुदेव की उपासना का प्रचलन भी रहा होगा।

---

१ कौषीतकि ब्राह्मण ३० ६
२ काठकसहिता ११
३ पाडे वीणापाणि पूर्वोद्धृत पृ० १२
४ पूर्वोक्त वही पृ०
५ पूर्वोक्त वही पृ०
६ शास्त्री देवेन्द्रमुनि पूर्वोद्धृत पृ० १७७
७ पाणिनि अष्टाध्यायी ४ ३ ९८
८ द्विवेदी हजारी प्रसाद पूर्वोद्धृत पृ० १
९ भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १
१० पाण्डे वीणापाणि पूर्वोद्धृत पृ० ११
११ रायचौधरी हेमचद्र द अर्ली हिस्ट्री ऑव द वैष्णव सेक्ट कलकत्ता १९२० पृ० २८–३०
१२ पाडे वीणापाणि, पूर्वोद्धृत पृ० ११

महाभारत जिसे कृष्ण–चरित्र के विषय मे महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान करने वाला महाकाव्य माना जाता है। इसका समय लगभग ई०पू० ४०० माना गया है।[१] **महाभारत** मे कृष्ण के लिए एक स्थल पर गोविन्द नाम प्रयुक्त मिलता है।[२] अन्यत्र **महाभारत** मे स्वय कृष्ण ने अपने नामोत्पत्ति को व्याख्यायित करते हुए कहा है कि मै काले लोहे का विशाल फाल बनाकर इस पृथ्वी को जोतता हूँ तथा मेरे शरीर का रग भी काला है इसलिए मै कृष्ण हूँ।[३] **महाभारत** मे कृष्ण के लिए नारायण नाम भी प्राप्त होता है।[४] स्पष्ट है कि कृष्ण के पूर्व प्रचलित वासुदेव नाम का गोविन्द, कृष्ण एव नारायण के साथ एकीकरण स्थापित हो गया था। **महाभारत** मे एक स्थल पर कृष्ण को विष्णु का रूप बताया गया है।[५] इससे ज्ञात होता है कि महाभारत काल मे कृष्ण को विष्णु के रूप मे स्वीकार कर लिया गया था। **महाभारत** मे कृष्ण का देवत्वभिन्न मानव रूप भी प्राप्त होता है।[६] इसमे कृष्ण को पाण्डवो के सलाहकार के रूप मे पूर्णत मानव माना है। इस प्रकार **महाभारत** मे कृष्ण के स्वरूप का व्यापक रूप से विकास दिखाई पडता है।

कृष्ण के स्वरूप का विकास बौद्ध जातको मे भी दिखाई पडता है। बौद्ध जातको के अन्तर्गत **घटजातक** का उल्लेख किया जा सकता है। इस जातक मे कृष्ण के माता–पिता देवकी–वासुदेव के स्थान पर क्रमश देवगब्भा और उपसागर तथा नद–यशोदा (श्रीकृष्ण के पालन–पोषण करने वाले गोपदम्पति) के लिए क्रमश

---

१ भटटाचार्य सुनीलकुमार पूर्वोद्धृत पृ० १ नाम्बियर के० दामोदरम् पूर्वोद्धृत पृ० १२५

२ महाभारत शातिपर्व ३४२७०

३ महाभारत शातिपर्व ३४२७६

४ महाभारत वनपर्व १८८८६

५ महाभारत शातिपर्व ४३१८

६ भट्टाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १ पाडे वीणापाणि पूर्वोद्धृत पृ० ६

अन्धकवेणु और नन्दगोपा का नामोल्लेख प्राप्त होता है।[1] *आर०डेविडस* आदि कुछ विद्वान् जातको को **महाभारत** एव **रामायण** से पूर्ववर्ती मानते है[2] जबकि *भडारकर महोदय* इस घटजातक को अन्य जातको मे अर्वाचीन मानते है।[3] इसका कारण है कि यह जातक कृष्णकथा के विकसित रूप की ओर सकेत करता है।

कृष्ण के स्वरूप की प्राचीनता निर्धारित करने मे सबसे प्रामाणिक साक्ष्य मेगास्थनीज के विवरण को भी माना जाता है।[4] *मेगास्थनीज* मेसीडोनिया का राजदूत था जो चद्रगुप्त मौर्य (३२० ई०पू०) के दरबार मे आया था।[5] उसका कथन है कि सौरसेनोइ लोग जेबोरस नदी के किनारे बसे दो शहरो मेथोरा और कलेइसोबोरा मे निवास करते थे तथा वे हेराक्लीज की उपासना करते थे। यहॉ हेराक्लीज से तात्पर्य कृष्ण से तथा दो शहरो का तादात्म्य क्रमश मथुरा एव कृष्णपुर से स्थापित किया जाता है।[6] जेबोरस शब्द यमुना नदी के लिए प्रयुक्त हुआ है।[7] *भण्डारकर* महोदय ने सौरसेनोइ का तादात्म्य सात्वत नामक प्रसिद्ध जाति से किया है।[8] इससे यह अनुमान किया जाता है कि ई०पू० चतुर्थ शती के लगभग सात्वत जाति के लोग कृष्ण को यदि एक देव के रूप मे नही तो महापुरुष के रूप मे अवश्य मानते होगे और उनके प्रति बडे आदर का भाव रखते होगे।[9] मथुरा, यमुना और कृष्ण आदि से इतिहासकारो का इतना अधिक परिचय देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारत मे ई०पू० चतुर्थ शताब्दी से बहुत पहले गोपालकृष्ण का गौरवयुक्त अस्तित्व प्रकाश मे आ चुका था।

पतजलि का **महाभाष्य** भी कृष्ण के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। इसमे वासुदेव को कस का हन्ता कहा गया है।[10] विद्वानो ने **महाभाष्य** को पुष्यमित्र[11] तथा

---

१ (स) कावेल ई०बी० घटजातक खड III-IV लदन १६७३ पृ० ५०५१
२ बुद्धिस्ट इडिया पृ० २०६
३ भडारकर आर०जी० पूर्वोद्धृत पृ० ३८
४ क्रिन्डल जे०डब्ल्यू०एम० इन्डियन एन्टिक्वैरी खड ५, १८७६ पृ० ८६
५ भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १
६ राय चौधरी हेमचन्द्र पूर्वोद्धृत पृ० ३८
७ भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १
८ भडारकर आर०जी० पूर्वोद्धृत पृ० ३८
६ पूर्वोक्त वही पृ० मिश्र विन्ध्येश्वरी प्रसाद पूर्वोद्धृत पृ० १५७
१० महाभाष्य ३ २ १११ – जघान कस किल वासुदेव ।
११ महाभाष्य ३ २ १२३– इह पुष्यमित्र याजयाम ।

अरूणद् यवन साकेतम्[1] आदि के आधार पर मिनाण्डर नामक ग्रीक का समय अर्थात् १५० ई०पू० के आसपास स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट होता है कि **महाभाष्य** के पूर्व अर्थात ई०पू० द्वितीय शती के पूर्व कृष्ण सबधी आख्यान तत्कालीन समाज मे प्रचलित हो गये थे।

कृष्ण के स्वरूप का ऐतिहासिक अध्ययन करने मे कुछ अन्य प्रमाणो की विवेचना अति आवश्यक प्रतीत होती है। इसमे साहित्यिक साक्ष्यो के साथ–साथ पुरातात्विक साक्ष्यो (अभिलेखिक मौद्रिक एव कलागत साक्ष्यो) का अध्ययन आवश्यक है। इसमे सबसे प्रबल प्रामाणिक साक्ष्य के रूप मे कुछ मौद्रिक विशेषत अभिलेखो विशेषत का उल्लेख किया गया है जैसे–

१ राजस्थान क्षेत्र से प्राप्त घोसुडी अभिलेख मे सकर्षण और वासुदेव की पूजा के सम्मिलित रूप से प्रचलन का उल्लेख हुआ है।[2] इस अभिलेख का समय ई०पू० द्वितीय शताब्दी के लगभग निर्धारित किया जाता है।[3]

२ इसी सदर्भ मे विदिशा के बेसनगर से प्राप्त गरूड–स्तभ लेख का भी उल्लेख किया जा सकता है।[4] इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि यूनानी दूत तक्षशिला निवासी हेलियोदोरस ने देवाधिदेव वासुदेव के सम्मान मे गरूडध्वज स्थापित कराया था और स्वय को भागवत घोषित किया। इस अभिलेख की तिथि ई०पू० द्वितीय शती के आस–पास मानी जाती है।[5] इससे वासुदेव भक्ति की पर्याप्त प्राचीनता एव लोकप्रियता पर प्रकाश पडता है।

---

१ महाभाष्य ३ २ १११

२ सरकार डी०सी० सेलेक्ट इन्सक्रपशस बियरिंग ऑन इडियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन खण्ड I नई दिल्ली १९६१ पृ० ९०–९१ ल्यूडर्स ब्राह्मी इन्स्क्रपशस न० ६

३ भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० २ देसाई कल्पना एस० आइकनोग्राफी ऑफ विष्णु दिल्ली १९७३ पृ० ४

४ सरकार डी०सी० पूर्वोद्धृत पृ० ८८, वोगेल आर्किलॉजिकल सर्वे आफ इडिया एनुवल रिपोर्ट १९०८–०९ पृ० १२६

५ पाडे, सुस्मिता बर्थ ऑफ भक्ति इन इडियन रिलीजन्स एण्ड आर्ट दिल्ली १९८२ पृ० १९४ देसाई कल्पना एस० पूर्वोद्धृत पृ० ४–५

३ नासिक स्थित नानाघाट गुफालेख से भी वासुदेव–सकर्षण की उपासना के प्रचलन का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] यह गुफालेख सभवत ई०पू० प्रथम शती का माना जाता है।

४ प्रथम शती ई० के मोरा अभिलेख (मथुरा से प्राप्त) मे पचवृष्णिवीरो का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] **वायुपुराण**[3] के आधार पर *जे०एन० बनर्जी* ने इन पचवृष्णिवीरो की पहचान वासुदेव, सकर्षण प्रद्युम्न साम्ब एव अनिरूद्ध से की है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि *पाणिनि* के काल से पूर्व जिस कृष्ण के वासुदेव रूप की उपासना प्रचलित हुई वह कालातर मे लगभग प्रथम शती ई० तक आते–आते पचवृष्णिवीरो की उपासना मे सम्मिलित हो गई। **भगवद्गीता** मे कृष्ण ने स्वय को वृष्णिवशियो मे वासुदेव कहा है।[4] इसके आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि प्रथम शती ई० तक धर्म के क्षेत्र मे कृष्ण को एक स्वतत्र देवता के रूप स्थान भले ही न प्राप्त हुआ हो, किन्तु अन्य देवताओ के सम्मिलित रूप मे कृष्ण का विकसित स्वरूप अवश्य विद्यमान था। *सुवीरा जायसवाल*[5] का इस सबध मे यहॉ तक मानना है कि ई०पू० द्वितीय–प्रथम शती मे इन पचवृष्णिवीरो की उपासना न केवल इनके वशजो मे ही प्रचलित थी, अपितु इनकी उपासना का प्रचार–प्रसार अन्य देशी व विदेशी जनसमूहो मे भी दिखाई पडता है। पश्चिमोत्तर क्षेत्र मे

---

१ एपीग्राफिका इडिका खड X पृ० १२१ सरकार डी०सी० सेलेक्ट इन्सक्रपशस कलकत्ता १६४२ पृ० १८६, देसाई कल्पना एस०, पूर्वोद्धृत पृ० ५, वाजपेयी के०डी० ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख खण्ड I जयपुर १६६२ पृ० ११८

२ एपीग्राफिका इडिका खण्ड XXIV पृ० १६४

३ वायुपुराण ६७ १–२ बनर्जी जे०एन० द पचवीरास् ऑफ द वृष्णिस् जर्नल ऑफ इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरियन्टल आर्ट खण्ड X पृ० ६५–६८

४ श्रीमद्भगवद्गीता १० ३७ – वृष्णीना वासुदेवोऽस्मि।

५ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० ७४

देशी व विदेशी जनसमूहो मे भी दिखाई पडता है। पश्चिमोत्तर क्षेत्र मे इसका विशेष प्रभाव दिखाई पडता है। इसका ज्वलन्त प्रमाण हिन्द–यवन मुद्राए है। इस सदर्भ मे अगाथोक्लीज के सिक्के का उल्लेख किया जा सकता है जिसमे *हलधर, बलेदव* व *चक्रधर वासुदेव* की आकृतियॉ अकित है।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि द्वितीय–प्रथम शती ई०पू० तक इन महानायको को देवता मानकर उपासना पूर्णत प्रचलित हो चुकी थी जिसका प्रभाव कालान्तर (लगभग प्रथम शती ई०) मे भी दिखाई पडता है।

दक्षिण–भारत के सगम साहित्य से भी कृष्ण सम्बन्धित कथानक प्राप्त होते है। **तोलकाप्पियम्** नामक प्रसिद्ध व्याकरण ग्रथ मे कृष्ण को विष्णु के अवतार रूप मे अहीर का प्रिय देवता बताया गया है।[2] इसके अतिरिक्त अन्य तमिल–ग्रथो जैसे **शिलप्पदिकारम्** **मणिमेखलै, परिपाडल, जीवकचितामणि** आदि से भी कृष्ण सबधी आख्यान प्राप्त होते है।[3] *सुवीरा जायसवाल* ने *वी०आर०आर० दीक्षितार* (द इण्डियन कल्चर, ४) द्वारा वर्णित कृष्ण सम्बन्धित उल्लेखो का समर्थन करते हुए सगमयुगीन कुछ तमिल कविताओ को कृष्ण के पशुपाल्य देवता रूप एव उनकी लीलाओ से जुडी बताया है।[4] सगमकालीन साहित्य की तिथि विवादास्पद है, किन्तु *नीलकठ शास्त्री* ने *मेहेण्डाले* के अनुसार सगम साहित्य का समय ई०पू० ५०० से ५०० ई० के बीच निर्धारित किया है।[5] स्पष्ट है कि प्रथम शताब्दी ई० के पूर्व या कुछ बाद मे तमिल साहित्य मे विष्णु–नारायण–वासुदेव–कृष्ण का एकीकरण निश्चित हो गया था।

---

१ नारायण ए०के० जर्नल ऑव दि न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी ऑव इण्डिया XXXV १९७३ पृ० ७३–७७

२ आयगर पी०टी० श्रीनिवासन् पृ० ४६५–५४२ इनसाइकलोपीडिया ऑफ तमिल लिटरेचर मद्रास १९६० पृ० २५५, मुहम्मद मलिक पूर्वोद्धृत पृ० ५४–५५

३ आयगर पी०टी० श्रीनिवासन पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० ३६५

४ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० ७५

५ पाण्डेय रामनिहोर दक्षिण भारत का इतिहास इलाहाबाद १९८८ पृ० ४५५

कृष्ण को अन्यत्र भी आभीर (अहीर) जाति का बालदेवता माना गया है।[1] *आर०जी० भडारकर* इस विषय मे अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते है कि गोकुल मे कृष्ण के बाल्यकाल की कथा का विकास ई० सन् के आरम्भ तक नही विकसित हुई थी। कालातर मे बाहर से आकर बसने वाली आभीर नामक एक जाति जब अपने साथ बालदेवता की पूजा एव तद्विषयक लोककथाएँ लेकर आई तो उसके द्वारा यह भारत मे प्रचलित हो गई।[2] साथ ही यह भी सभावना व्यक्त की जाती है कि ये आभीर जाति के लोग अपने साथ क्राइष्ट नाम भी लाये हो और इसी नाम के कारण गोपाल का वासुदेव–कृष्ण के साथ तादात्म्य स्थापित हुआ हो।[3]

कृष्ण का क्राइष्ट के साथ तादात्म्य करना सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है क्योकि मथुरा के बाल–कृष्ण से (देवकी–पुत्र कृष्ण, वासुदेव या द्वारका के राजा कृष्ण नही) मनुष्य का कोई सबध न होकर वे विशुद्ध देवता से है और जबकि क्राइष्ट या ईसामसीह मनुष्य और ईश्वर के मिले हुए रूप है।[4] देवता मे कल्पना की प्रधानता रहती है और मनुष्य मे गौणता। कोई जाति जब किसी अन्य जाति के किसी मत या कल्पना को अपनाकर अपने नायक मनुष्य से सम्बन्ध स्थापित करती है तो उससे उतना ही अश ग्रहण करती है जितना कि उस मनुष्य की जीवन–घटनाओ के साथ बिना किसी विरुद्ध भाव के साथ घुल–मिल सके। यही बात ईसा मसीह के लिए उचित ठहरती है। ईसा मसीह के लिए अगर कृष्ण की कथाओ को ग्रहण किया मान लिया जाय तो उतना ही अश जितना उनके ब्रह्मचारी जीवन का अविरोधी हो। पर बालकृष्ण के लिए यही तक सीमा–रेखा नही खीची जा सकती। अत क्राइष्ट के साथ कृष्ण को जोडने वाला मत ग्राह्य नही है।

---

१ भडारकर आर०जी० पूर्वोद्धृत पृ० ३६ द्विवेदी हजारी प्रसाद पूर्वोद्धृत पृ० ५, जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० ७०–७१

२ भडारकर पूर्वोद्धृत पृ० ३६–३७

३ पूर्वोक्त पृ० ३८–३६ द्विवेदी हजारी प्रसाद पूर्वोद्धृत पृ० ७

४ द्विवेदी हजारी प्रसाद, पूर्वोद्धृत पृ० १०–११

आभीरो को बाहर से आई हुई एक जाति मानना पूर्ण रूप से सत्य नही माना जा सकता। बाल–कृष्ण की कथा का *पतजलि* या अन्य समकालीन ग्रन्थो एव शिलालेखो मे न पाये जाने का अर्थ यह नही माना जा सकता कि आभीर विदेशी है। आभीर इस देश की पुरानी जाति हो सकती है और उनके अपने बाल देवता हो सकते है।[1] *हजारी प्रसाद द्विवेदी* ने *कुमारस्वामी* के मत को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि आभीर शब्द द्रविड भाषा से सम्बन्धित है जिसका अर्थ गोपाल होता है।[2] हो सकता है कि आभीर नाम की कोई द्रविड जाति जिसका धर्म भक्ति–प्रधान और देवता बालकृष्ण से सम्बन्धित हो, पहले से ही इस देश मे रहती हो और कालातर मे विदेशी जाति ने आकर इनका धर्म ग्रहण कर लिया हो और सभवत अपने को आभीर कहलाने लगी हो।[3] इस प्रकार आभीर शब्द का द्रविड होना और देवता का कृष्ण (काला) होना, इस अनुमान मे सहायक सिद्ध माना जा सकता है। कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि कृष्ण आभीर जाति से सम्बन्धित थे। **पद्मपुराण** मे विष्णु ने स्वय कहा है कि वह अपने आठवे अवतार मे आभीरो के यहॉ उत्पन्न होगे।[4] **विष्णुपुराण** मे भी कृष्ण के आभीर जाति के होने का सकेत प्राप्त होता है। इस पुराण मे उल्लिखित है कि कृष्ण अपनी जनजाति के लोगो को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि उनके पास न तो खेत है और न घर, वे अपने शकटो एव गायो के साथ भटकते–फिरते है।[5] स्पष्ट है कि कृष्ण आभीर नामक जाति से सम्बन्धित बाल–देवता थे। इसके साथ ही साथ भारत मे आभीरो के राज्य के सम्बन्ध मे काठियावाड से प्राप्त एक लेख से भी प्रकाश पडता है। इसमे उल्लेख है कि शक १०२ मे आभीर राज्य कर रहे थे।[6] **वायुपुराण** जिसे प्राचीन पुराण माना जाता है मे आभीर राजाओ की वशावली उल्लिखित मिलती है। इस प्रकार

---

१ द्विवेदी हजारी प्रसाद पूर्वोद्धृत पृ० ६
२ पूर्वोक्त वही पृ०
३ पूर्वोक्त वही पृ०
४ पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ५ १७ १–१६
५ विष्णुपुराण ५ १० २६ ५ ५ १
६ भडारकर पूर्वोद्धृत पृ० ५३, द्विवेदी हजारी प्रसाद पूर्वोद्धृत पृ० ५

उपरोक्त तथ्यो को ध्यान मे रखकर यह माना जा सकता है कि आभीर निश्चित रूप से ई० सन् के पहले से ही भारत मे निवास कर रहे होगे। *सुवीरा जायसवाल* ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है, कि ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो मे शक–क्षत्रपो एव सातवाहनो के अधीन पश्चिमी दकन मे आभीर लोग राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय थे अत वासुदेव मत मे इस आभीर देवता की उपासना का विलय ई० सन् के प्रारम्भ मे या इससे पूर्व हुआ होगा।[1]

प्रथम शती ई०[2] मे *हाल* द्वारा रचित **गाथासप्तशती** मे श्रीकृष्ण की ब्रजलीला एव गोपियो तथा राधा[3] का रोचक परिचय प्राप्त होता है। **गाथासप्तशती** मे विष्णु के तीन अवतारो का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमे वामन राम एव वासुदेव–कृष्ण का नाम लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वासुदेव–कृष्ण के अन्य नामो जैसे दामोदर, मधुमथन, माधव आदि का उल्लेख भी इसमे हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि गाथाकालीन समाज मे वासुदेव–कृष्ण की अराधना लोकप्रिय थी।

प्रथम शती ई० तथा उसके बाद के कालो से प्राप्त कुछ प्रमाणो से भी कृष्ण के स्वरूप पर स्पष्ट प्रकाश पडता है। इसी सदर्भ मे अनुमानत प्रथम शती के कुषाणकालीन मथुरा से प्राप्त एक शिलापट्ट का उल्लेख किया जा सकता है जिसमे वसुदेव अपने नवजात–पुत्र कृष्ण को एक सूप मे रखकर यमुना पार करते हुए दिखाये गये है।[4] इसी प्रकार मथुरा के समीप जत्तीपाडा नामक स्थान से कुषाणकालीन कृष्ण के गोवर्धन पर्वत धारण किये एक शिल्पखड प्राप्त हुआ है जो लाल बलुआ पत्थर से निर्मित है।[5] इस शिल्पखड को शैली के आधार पर द्वितीय शती ई० का माना जाता

---

१ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० ७३

२ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० २१७

३ गाथासप्तशती १८९ २१४२

४ साहनी डी०आर० आर्किलॉजिकल सर्वे ऑफ इडिया एनुअल रिपोर्टस १९२५–२६ पृ० १८२–८४ चित्रफलक XVII

५ द एनुअल रिपोर्ट्स ऑफ द आर्किलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, १९२१–२२ पृ० १०४ चित्रफलक ३६ (a)

है।[1] राजस्थान स्थित जोधपुर के समीप मडोर नामक स्थान से प्राप्त स्तभ पर कृष्ण गोवर्धनधारी रूप एव उनके प्रारम्भिक जीवन से सबधित अनेक कथानको का उत्कीर्णन हुआ है।[2] *सुनील कुमार भट्टाचार्य* ने *ए०के० कुमारस्वामी* के मत का उल्लेख करते हुए मडोर स्तभ की तिथि चतुर्थ शती ई० के लगभग मानी है।[3] **हरिवशपुराण** एव **विष्णुपुराण** जिसे सभवत गुप्तकालीन रचना माना जाता है मे कृष्ण के बाल्यजीवन एव उनसे सबधित अनेक प्रसगो का व्यापक रूप से वर्णन किया गया है।[4] *एन०एन० फर्कुहर* के (हिस्ट्री ऑफ इडियन रेलीजस लिटरेचर) मतानुसार इन दोनो पुराणो की तिथि चतुर्थ शती ई० के लगभग मानी गई है।[5] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कुषाण व गुप्तकाल मे कृष्ण के विकासात्मक स्वरूप को महत्त्व दिया जा रहा था। साथ ही कृष्ण को अनेक नामो से अभिहित करके उनके स्वरूप को एक अप्रतिम गति प्रदान करने की परपरा भी विकसित दिखाई पडी। विविध साक्ष्यो से भी इस बात की पुष्टि होती है। समुद्रगुप्त के प्रयाग–स्तम्भ लेख मे विष्णुगोप शब्द का उल्लेख हुआ है।[6] यह शब्द गोपालकृष्ण और विष्णु के सबध को प्रमाणित करता है।[7] समुद्रगुप्त का शासन काल ३४३–४४ ई० से ३७३–७४ ई० के लगभग निर्धारित किया जाता है।[8] सस्कृत कवि कालिदास ने भी वासुदेव–कृष्ण का गोपाल कृष्ण के रूप मे वर्णन किया है।[9] **मेघदूत** मे *कालिदास* ने मयूरपुच्छशोभित गोपवेषधारी विष्णु का उल्लेख किया है।[10] *कालिदास* गुप्तशासक चद्रगुप्त विक्रमादित्य के राजकवि थे।[11] उपरोक्त वर्णन **ऋग्वेद** मे

---

१ भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १४
२ आर्किलॉजिकल सर्वे ऑफ इडिया एनुअल रिपोर्ट १९०५–०६ पृ० १३५
३ भट्टाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १६
४ पूर्वोक्त वही पृ० नाम्बियर के० दामोदरम् पूर्वोद्धृत पृ० १२५–२६
५ भटटाचार्य सुनीलकुमार पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ
६ फ्लीट जे०एफ० कार्पस इस्क्रिप्शनम इडिकेरम खड III न० १ वाराणसी १९७० पृ० ७ –काञ्चेयक विष्णुगोप।
७ रायचौधरी हेमचद्र पूर्वोद्धृत पृ० ४७, पाडे वीणापाणि पूर्वोद्धृत पृ० १४
८ पाडेय रामनिहोर प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास इलाहाबाद १९९३ पृ० ६१
९ भट्टाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० ७७
१० मेघदूतम् (पूर्वमेघ) श्लोक न० १५
११ भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १७

वर्णित गोपा नाम से विष्णु के सम्बोधन का स्मरण दिलाता है।[1] यह शब्द गोपो से उनके निकट सम्बन्ध को सूचित करता है। *मैकडानल और कीथ* ने भी गोपा से गौओ के रक्षक का अर्थ लगाया है।[2] *हॉपकिन्स* ने (रैलीजन्स ऑफ इडिया पृ० ६) इसका अर्थ गोप से लिया है। इस प्रकार इन विद्वानो द्वारा गोपा शब्द की व्युत्पत्ति गो, गोप और कृष्ण के सम्बन्ध को पुष्ट करती है। इसके साथ ही गोपालकृष्ण और विष्णु का सबध गोपालकृष्ण की सस्कृति को विदेशी मानने वाले उन विचारको के सिद्धान्त को भी तथ्यहीन सिद्ध करती है।

कालिदास के समकालीन *अमरसिह* ने अपने प्रसिद्ध ग्रथ **अमरकोश** मे चर्तुव्यूह वासुदेव एव भागवतो का उल्लेख किया है।[3] साथ ही विष्णु के नामो मे 'विष्णुनार्रायण कृष्णो कहकर कृष्ण नाम को अभिहित किया है।[4] अन्य गुप्तकालीन अभिलेखो से भी कृष्ण के स्वरूप पर प्रकाश पडता है। स्कन्दगुप्त के भितरी–स्तभ लेख मे शार्ङ्गिण (Sarngin) की प्रतिमा निर्माण एव ग्राम–दान का उल्लेख हुआ है।[5] शार्ङ्गिण से यहॉ तात्पर्य वासुदेव–कृष्ण से माना गया है।[4] स्कन्दगुप्त ने ४५४ ई० से ४६४ ई० तक शासन किया[5] तथा स्वय परम भागवत उपाधि धारण की।[6] इसी प्रकार भितरी–स्तभ लेख मे एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि स्कन्दगुप्त शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अपनी माता के समक्ष उसी प्रकार उपस्थित हुआ, जैसे कृष्ण देवकी के सामने उपस्थित हुए थे।[7] बुधगुप्त के शासनकाल (४८३ ई०) का सागर जिले के एरण नामक स्थान से एक अभिलेख प्राप्त हुआ है जिसमे बुधगुप्त के सामत सुरश्मिचद्र के अधीनस्थ एरण के प्रशासक के रूप मे मातृविष्णु और उसके अनुज धन्यविष्णु का उल्लेख हुआ है जिन्होने भगवान जनार्दन के सम्मान मे ध्वज–स्तम्भ स्थापित करवाया

---

१ ऋग्वेद १२२१८ – त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य ।
२ वैदिक इन्डेक्स खड एल० पृ० २३८
३ भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १७
४ अमरकोश (अमरसिह कृत)–प रामस्वरूपकृत भाषाटीका बबई सवत् १९६२ प्रथमकाण्ड पृ० ८–६ श्लोक न० १८
५ फ्लीट जे० एफ० कार्पस इस्क्रिप्शनम इडिकेरम खड III, न० १३ वाराणसी १६७० पृ० ५४ – कर्त्तव्या प्रतिमा काचित्प्रतिमा तस्य शार्ङ्गिण ।
४ भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १६
५ पूर्वोक्त वही पृष्ठ
६ पूर्वोक्त, वही पृष्ठ, पाडे रामनिहोर पूर्वोद्धृत पृ० १७६
७ फ्लीट, जे०एफ० पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ – हतरिपुरिवकृष्णो देवकीमभ्युपेत ।

था।[1] यहाँ भगवान जनार्दन का तादात्म्य वासुदेव–कृष्ण से किया गया है। *सुनील कुमार भट्टाचार्य* के अनुसार **भगवद्गीता** मे श्रीकृष्ण के लिए कई स्थलो पर गुणसूचक शब्द के रूप मे जनार्दन का प्रयोग हुआ है।[2] विष्णुसहस्रनाम मे भी जनार्दन शब्दोल्लेख प्राप्त होता है (सर्वग सर्वविद्भानुर्विष्वक्सेनो जनार्दन)।[3] *पतजलि* ने भी जनार्दन (वासुदेव–कृष्ण) के चतुर्व्यूह का उल्लेख किया है।[4]

स्पष्ट है कि गुप्तकाल मे विकसित भागवत–सम्प्रदाय मे कृष्ण को उनके विविध रूपो एव नामो से जाना जाता था।[5] कालान्तर मे इसी के परिणामस्वरूप कृष्ण–सम्प्रदाय को स्वतन्त्र रूप से विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ ऐसा माना जा सकता है।

गुप्तकाल के उत्तरोत्तर काल मे भागवत धर्म और कृष्ण–सम्प्रदाय दोनो तीव्र गति से पुष्पित एव पल्लवित हो रहे थे। ७वी शती के मध्य मे हर्षवर्द्धन के *राजकवि बाण* द्वारा रचित **हर्षचरित** मे दिवाकरमित्र नामक साधु का उल्लेख प्राप्त होता है जिसके अधिकाश अनुयायी भागवत तथा पाचरात्र सम्प्रदाय के थे।[6] अपराजित के उदयपुर अभिलेख मे भी वासुदेव–कृष्ण के लिये हरि और शौरि नाम का प्रयोग मिलता है।[7] इस अभिलेख का समय विक्रम सवत् ७१८ अर्थात् ६६१ ई० माना जाता है।[8] एक अन्य गुहालेख इलाहाबाद से ५० कि० मी० दक्षिण–पश्चिम स्थित पभोसा नामक स्थान से प्राप्त हुआ है।[9] जिसमे श्रीकृष्ण एव गोपियो के प्रतिमा–निर्माता का उल्लेख हुआ है।[10] *ब्यूहलर* ने इसको ७वी शती ई० या ८वी शती ई० के आस–पास का माना है।[11] ८वी–९वी शती के मडोर से प्राप्त अभिलेख मे भी कृष्ण और गोपियो की क्रीडा का

---

१ फ्लीट जे०एफ० पूर्वोद्धृत न० १६, राणा एस०एस० भारतीय अभिलेख दिल्ली–वाराणसी १९७८ पृ० ८६ भट्टाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १६

२ भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १७

३ श्रीमद्भगवद्गीता और विष्णुसहस्रनाम गीता प्रेस गोरखपुर श्लोक न० २७ पृ० ११०

४ महाभाष्य ६ ३ ५, जनार्दनस्त्वात्म चतुर्थं एव।

५ भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १७

६ पूर्वोक्त वही पृ०

७ एपीग्राफिका इडिका खड IV सख्या ३ पृ० २९

८ पूर्वोक्त वही पृ०

९ भट्टाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १९ राणा, एस० एस० पूर्वोद्धृत पृ० ६४

१० एपीग्राफिका इडिका खड II, पृ० ४८२

११ भट्टाचार्य सुनील कुमार, पूर्वोद्धृत, पृ० २१८

उल्लेख हुआ है।[1] एलोरा स्थित दशावतार मदिर से भी कृष्ण के गोवर्धनधारी रूप की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसमे कृष्ण को गायो के झुड से घिरा दिखाया गया है।[2] इस मदिर का निर्माण राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग ने ८वी शती के मध्य मे करवाया था।[3] ८वी शती मे राष्ट्रकूट शासक कृष्ण प्रथम द्वारा निर्मित कैलाश मदिर मे विष्णु के अवतारो से सबधित अनेक प्रतिमाएँ प्राप्त होती है। इन सबमे कृष्ण के कालियदहन रूप का बहुत सजीवता से अकन हुआ है।[4] इसी प्रकार आठवी शती के लगभग राजस्थान स्थित जोधपुर के समीप ओसियॉ नामक स्थान से भी कृष्ण एव उनसे सबधित अनेक कथानको का उत्कीर्णन् प्राप्त होता है जिसमे हरिहर मदिर–१ हरिहर मदिर–२ हरिहर मदिर–३ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[5] पूर्वी बगाल के पहाडपुर मदिर के दक्षिणी–पूर्वी दीवार से कृष्ण की चतुर्भुजी रूप की गोवर्धनधारी प्रतिमा प्राप्त हुई है।[6] लगभग ८वी शती के पालवशीय शासक धर्मपाल के बौद्ध–स्तूपो के अवशेषो से एक शिल्पखड प्राप्त हुआ है जिसमे राधा सहित कृष्ण का उत्कीर्णन् मिलता है।[7] इसी प्रकार ८वी शती के मध्य मे शासन कर रहे पल्लववशीय शासक नरसिहवर्मन् के कृष्णमडप से गोवर्धनधारी कृष्ण का एक उत्कीर्णन् प्राप्त होता है जिसमे राधा को उनके समीप मे खडा दिखाया गया है।[8] स्पष्ट है कि ८वी शती तक कृष्ण का स्वरूप स्वतत्र रूप से विकसित होने लगा था तथा जिसने धर्म के क्षेत्र मे कृष्ण–सम्प्रदाय को पूर्णत प्रतिष्ठित होने का एक निश्चित आधार भी प्रस्तुत किया।

भागवतपुराण जिसे वैष्णव धर्म का न केवल आधार–स्तम्भ माना जाता है अपितु उसे इस धर्म के ऐतिहासिक एव क्रमिक विकास को प्रस्तुत करने वाले साक्ष्य के रूप मे भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस ग्रन्थ मे कृष्ण–लीला का अत्यन्त व्यापक रूप से

---

१ अग्रवाल आर०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १६३ बनर्जी पी० पूर्वोद्धृत पृ० १५६

२ तिवारी मारूतिनदन–गिरि कमल मध्यकालीन भारतीय मूर्तिकला वाराणसी १६६१ पृ० ७२ भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १६

३ तिवारी–गिरि पूर्वोद्धृत वही पृ० भटटाचार्य पूर्वोद्धृत वही पृ०

४ तिवारी–गिरि पूर्वोद्धृत वही पृ० भटटाचार्य पूर्वोद्धृत वही पृ०

५ तिवारी दुर्गानन्दन ओसियॉ के मदिरो की देव–मूर्तियॉ वाराणसी १६६६ पृ० १५५–१६१

६ आर्किलाजिकल सर्वे ऑफ इडिया एनुअल रिपोर्ट १६२६–२७ पृ० १४३

७ दासगुप्त चारुचद्र पूर्वोद्धृत पृ० २६, चित्रफलक (VIII b)

८ गोस्वामी ए पूर्वोद्धृत पृ० १७–१८

वर्णन हुआ है। **भागवतपुराण** का **दशमस्कन्ध** कृष्ण–लीला पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डालता है– जिसमे कृष्ण–जन्म नवनीत लीला यमलार्जुन भग गोवर्धन–धारण रास–लीला जरासन्ध एव कालयवन का युद्ध आदि प्रसग विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[1] **भागवतपुराण** का समय ६०० ई०–१००० ई० के बीच निर्धारित किया जाता है।[2] **भागवतपुराण** मे इतने व्यापक वर्णन के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस समय कृष्ण–सम्प्रदाय अपने अस्तित्व मे अवश्य आ चुका था।

६वी शती से लेकर लगभग १३५० ई० के बीच कृष्ण के स्वरूप एव कृष्ण–सम्प्रदाय के विकास मे विशेष परिवर्तन की प्रक्रिया दिखाई पडती है।[3] ६वी शती के लगभग जब भक्ति आन्दोलन व्यापक रूप से प्रसरित हो रहा था, तो इसी समय कृष्ण–सम्प्रदाय अपने विकास की उन्नतावस्था को प्राप्त हो रहा था।[4] *सुस्मिता पाडे* ने भक्ति–आन्दोलन पर इस्लाम का प्रभाव मानते हुए कहा है कि १२वी शती के पूर्व इस्लाम और हिन्दू धर्म के विचारो के बीच आपस मे मेल–जोल स्थापित हो गया था और परिणामस्वरूप दोनो धर्मों ने एक–दूसरे के धार्मिक सिद्धान्त को अपनी धार्मिक विचारधारा मे समावेशित कर लिया था।[5] इससे प्रभावित होकर कालान्तर मे वैष्णव धर्म से जुडे अनेक सत–सुधारको जैसे रामानुज, माधव, रामानन्द, वल्लभाचार्य, चैतन्य आदि सभी ने भक्ति–सम्प्रदायो को एक निश्चित दिशा प्रदान मे सक्रिय भूमिका निभाई। *सुनील कुमार भट्टाचार्य* ने विविध साहित्यिक स्रोतो जैसे **श्रीभाष्य, भागवतपुराण, नृसिहपुराण, पद्मपुराण** (पाताल खड, उत्तर खड), **नारद–भक्तिसूत्र, शाण्डिल्य–**

---

१ पाडे वीणापाणि पूर्वोद्धृत पृ० २१

२ हाजरा आर० सी० पूर्वोद्धृत पृ० १८०

३ भटटाचार्य सुनीलकुमार पूर्वोद्धृत पृ० १६

४ पूर्वोक्त वही पृ०

५ पाण्डे, सुस्मिता, मैडिवल भक्ति मूवमेन्ट (इट्स हिस्ट्री एण्ड फिलासॉफी) मेरठ १६६० पृ० XII

भक्तिसूत्र के आधार पर भक्ति–आदोलन और कृष्ण–सम्प्रदाय के विकास पर प्रकाश डाला है।[1]

अब तक **भागवत पुराण** मे जिस राधा का नामोल्लेख प्राप्त नही होता था वही **ब्रह्मवैवर्तपुराण** (१० शती ई० से १६वी शती ई०)[2] मे कृष्ण के साथ–साथ राधा का अतिविस्तार से उल्लेख प्राप्त होता है।[3] ९७४ ई० के परमारवशीय धारनरेश वाक्पति मुज के अभिलेख मे कृष्ण (मुररिपु) का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] १२वी शती के लगभग *जयदेव* कृत **गीतगोविन्द** मे कृष्ण को एक स्वतत्र नायक के रूप मे वर्णित किया गया है। इस काव्यग्रन्थ मे *जयदेव* ने कृष्ण और राधा की अनेक श्रृगारिक लीलाओ का विस्तार से वर्णन किया है। इसके साथ ही कृष्ण और राधा को दैवी स्वरूप भी प्रदान किया गया है।[5]

१२वी–१३वी शती तथा उसके पश्चात् की शताब्दियो मे विकसित अनेक सम्प्रदायो ने न केवल कृष्ण को ही अपनी धार्मिक भावना का आधार बनाया, अपितु राधा को उस सर्वशक्तिमान ईश्वर की शक्ति के रूप मे स्थान दिया। इनमे निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य, राधावल्लभ आदि सम्प्रदायो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[6] इन सम्प्रदायो ने राधाकृष्ण के पूर्व मे विकसित स्वरूप को एक निश्चित गति प्रदान की।

---

१ भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत वही पृ०

२ हाजरा आर०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १८८

३ भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० २०

४ बर्गेस जे०ए०एस० इण्डियन एन्टिक्वैरी खड VI दिल्ली १८७७ पृ० ५१

५ हावले जॉन एस० और वुल्फ डोना एम० देवी गॉडेस ऑफ इडिया दिल्ली १९९८ पृ० १०६
भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० २२

६ भट्टाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० २१–२३

उपरोक्त वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राधाकृष्ण तत्व का उद्भव एव विकास शब्दोत्पत्ति/अन्य वर्णित प्रसग के सदर्भ मे भले ही वैदिक काल या उसके परवर्ती युग (लगभग प्रथम शती ई० के आस–पास) मे दिखाई देता है किन्तु विविध साहित्यिक आभिलेखिक एव मूर्तिशिल्प उत्कीर्णन् के आधार पर एक स्वतत्र सम्प्रदाय के रूप मे राधाकृष्ण तत्व का विकास पूर्वमध्यकाल (८वी शती–१२वी शती के मध्य) मे मानना नितात उचित प्रतीत होता है।[1] यद्यपि कृष्ण का वैष्णव धर्म (भक्ति के क्षेत्र) मे प्रवेश राधा से कुछ समय पूर्व हो चुका था, किन्तु वह कृष्ण का स्वतत्र रूप न होकर उनके वासुदेव–कृष्ण रूप को द्योतित करता है। कालातर मे लगभग ८वी शती मे जब कृष्ण को एक स्वतत्र धार्मिक देवता के रूप मे माना जाने लगा तो उनकी शक्ति के रूप मे राधा को सम्मिलित किया जाने लगा। इस प्रकार पूर्वमध्यकाल मे राधाकृष्ण सम्प्रदाय का स्वतत्र रूप से विकास हुआ, जिसका नाना प्रकार से व्यापक रूप से विस्तार निम्बार्क, चैतन्य वल्लभ, राधावल्लभ जैसे सम्प्रदायो के अतिरिक्त वैष्णव सहजिया मत[2] आदि मे दिखाई देता है।

---

१ मुकर्जी एस०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १६०–६१

२ दासगुप्त शशिभूषण पूर्वोद्धृत पृ० २५२–६४

तृतीय अध्याय

भारतीय कला में राधा और कृष्ण

तृतीय-अध्याय

भारतीय कला मे राधा और कृष्ण

भारतीय कला सदैव से ही भारतीय धर्म एव सस्कृति की मूर्त अभिव्यक्ति प्रतीत होती है जिसमे जीवन के विविध धार्मिक एव लौकिक पक्षो को विस्तृत आयाम मे रूपायित किया जाता है। भारतीय कला एक निश्चित अर्थ एव उद्देश्य से युक्त होकर पूर्व–परम्पराओ के निश्चित निर्वाह के साथ ही साथ धर्म एव सामाजिक धारणाओ मे होने वाले परिवर्तनो से भी सदैव प्रभावित होती रही है।[1] वस्तुत भारतीय कला को धार्मिक एव सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति माना जा सकता है।[2] कला के विभिन्न क्षेत्रो– स्थापत्य, मूर्ति एव चित्र सभी मे भारतीय समाज का सामूहिक अनुभव एव चिन्तन का स्पष्ट रूप हमारे समक्ष व्यक्त होता है।

यदि भारतीय कला की प्राचीनता का अध्ययन किया जाय, तो इसका प्रारम्भ सिन्धु घाटी मे लगभग तृतीय सहस्राब्दि ई०पू० से होने का सकेत मिलता है और जिसने लगभग पॉच सहस्र वर्षों तक अपना सुविकसित इतिहास प्रस्तुत किया।[3] कला के इतिहास की सुव्यवस्थित जानकारी के लिए इसे तीन भागो मे बॉटा जा सकता है[4]–

(१) सिन्धु घाटी से लेकर नद वश के पूर्व तक भारतीय कला का आद्ययुग माना जाता है।

---

१ तिवारी, मारूतिनन्दन एव गिरि कमल मध्यकालीन भारतीय मूर्तिकला वाराणसी १९९१ पृ० १

२ पूर्वोक्त, वही पृष्ठ

३ अग्रवाल वासुदेवशरण भारतीय कला वाराणसी १९६६ पृ० १

४ पूर्वोक्त, वही, पृष्ठ

(२) मौर्यकाल से हर्ष के समय तक की कला को मध्ययुग के अन्तर्गत रखा जाता है। इस युग की कला को भी दो भागो मे विभाजित किया गया है–

(क) इसके अन्तर्गत चतुर्थ शताब्दी ई० से लेकर प्रथम शताब्दी ई०पू० तक की कला को रखा गया है जिसमे मौर्य शुग, काण्व और सातवाहनवशीय कलाकृतियॉ है। सारनाथ भरहुत सॉची बोधगया अमरावती भाजा इत्यादि उसी समय के प्रसिद्ध कला–केन्द्र है।

(ख) इसमे प्रथम शताब्दी ई० से लेकर ७वी शताब्दी ई० अर्थात् कनिष्क के काल से लेकर हर्ष के समय मे विकसित कला को रखा जाता है। इस समय कला अपने स्वरूप मे बाह्य एव आतरिक दोनो ही रूपो मे सुदृढ हो चुकी थी।

(३) इसके अन्तर्गत हर्षोत्तरकालीन विकसित कला को रखा जाता है। यह भारतीय कला का चरम–युग माना जाता है। इसको भी दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है–

(क) पूर्वमध्यकाल (७००–९०० ई०) और (ख) उत्तर मध्यकाल (९००–१२०० ई०)।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय कला ने न केवल एक सुदीर्घकाल तक अपने विकासात्मक नैरन्तर्य को बनाये रखा, अपितु आगामी कालो मे विकसित होने वाली कला को भी प्रेरणा प्रदान किया। भारतीय कला के परिवर्तित गतिशीलात्मक ऐतिहासिक स्वरूप का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि मध्ययुग मे अर्थात् १२वी शती ई० के पश्चात् भी भारतीय कला ने वास्तु, मूर्तिशिल्प एव चित्रकला के क्षेत्र मे अभूतपूर्व विकास करके अपनी प्राचीन परम्परा को बनाये रखा। चित्रकला ने तो अपने रगो एव रेखाओ के माध्यम से कला–जगत मे न केवल १५वी शती से १८वी शती तक बल्कि उसके बाद भी अपने स्थान को सुदृढ बनाये रखा। स्पष्ट है कि भारतीय कला ने प्रत्येक कालो मे अपने स्वरूप को विभिन्न माध्यमो– वास्तु मूर्ति एव चित्रकला के द्वारा अनवरत कला–सौदर्य मे अभिवृद्धि की है। भारतीय कला मे

राधा और कृष्ण के अकन को इस शोध–प्रबन्ध मे मुख्यत तीन भागो मे विभाजित किया गया है–

(क) मदिर–मूर्ति स्थापत्य मे राधा एव कृष्ण का उत्कीर्णन्।

(ख) चित्रकला मे राधा एव कृष्ण का रूपाकन।

(ग) प्रतिमा लक्षण राधा और कृष्ण।

(क) मदिर–मूर्ति स्थापत्य मे राधा एव कृष्ण का उत्कीर्णन्

भारतीय मूर्ति–विज्ञान वास्तव मे भारतीय धार्मिक जीवन के आधार पर विकसित हुआ है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्ति–निर्माण का प्रचलन भारतीयो ने अपने ध्यान–मत्र की एकाग्रता को आधार बनाने के उद्देश्य से किया होगा[2] जिसके द्वारा मनुष्य को अपने हृदय के विचार, उद्गार एव भाव को केन्द्रित करने का एक उपयुक्त आधार प्राप्त हुआ।[3] इस प्रकार मूर्तिशिल्प के विकास ने न केवल मानव को ही धार्मिक–तुष्टि प्रदान की, अपितु कला–सौंदर्य के अभिवर्द्धन को भी उपयुक्त अवसर प्रदान किये।[4] स्पष्ट है कि मूर्तिकला का धर्म के साथ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।[5]

भारतीय कला–परम्परा मे जिस मूर्तिकला के विकास का प्रारम्भ हडप्पा–सभ्यता घाटी मे दिखाई पडता है[6], कालान्तर मे उसी का सुविकसित स्वरूप लगभग १३वी शती तक पत्थर, मिट्टी लकडी, हाथीदॉत एव अन्य विविध धातुओ पर सरलता से प्राप्त

---

१ मिश्र इदुमती प्रतिमा विज्ञान भोपाल १९८७ पृ० ७९

२ पूर्वोक्त वही पृष्ठ, पाण्डेय सुस्मिता बर्थ ऑफ भक्ति इन इडियन रेलीजियस एण्ड आर्ट नई दिल्ली १९८२ पृ० १९६

३ मिश्र, इदुमती पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ, पाण्डेय सुस्मिता पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ

४ मिश्र, इदुमती, पूर्वोद्धृत, वही पृष्ठ

५ पूर्वोक्त वही पृष्ठ

६ पाण्डे, सुष्मिता पूर्वोद्धृत पृ० १९१

होने लगा।[1] ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि जब देवी–देवताओ की उपासना मूर्ति के माध्यम से की जाने लगी होगी, तो मूर्तियो के आवास–रूप मे मदिर–स्थापत्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ होगा और यह स्थापत्य देवायतन कहलाने लगे।[2] मदिर के लिए देवालय, देवस्थान, देवगृह प्रासाद आदि शब्दो का प्रयोग हुआ है जो देवता के रहने के स्थान को सकेत करते है।[3] इस प्रकार मदिर–निर्माण का सम्बन्ध मूर्ति–पूजा की भावना के विकास के साथ घनिष्ठ रूप से जुड गया। कालान्तर मे ये भवन विभिन्न रूपो और आकारो मे विकसित हुए। विविध रूपो मे मदिर–स्थापत्य के विकसित होने का कारण–सामग्री का उपयोग एव धार्मिक भावना, कृत्य और विश्वास को माना जाता है।[4] इनके विकास का जो भी कारण रहा हो, इतना स्पष्ट है कि भारत के सभी मतो एव धर्मावलम्बियो ने इसे अपनाया है। इस प्रकार मदिर वह धार्मिक वास्तु है जिसे हम भारतीय वास्तुकला की एकमात्र विभूति कह सकते है।[5] प्राचीन भारतीय शिल्प–शास्त्रीय ग्रन्थो मे मन्दिर को वास्तु–पुरुष के रूप मे परिकल्पित किया गया है और मदिर के अन्दर स्थापित मूर्ति को देवी–देवता के विग्रह का प्रतीक माना गया है।[6] जिस प्रकार मानव–शरीर मे आत्मा का निवास होता है, उसी प्रकार मन्दिर मे भी मूर्ति की प्राण–प्रतिष्ठा की जाती है और तत्पश्चात् उसकी निरन्तर पूजा–अर्चना की जाती है। इस प्रकार मदिर, मूर्ति एव उसकी उपासना एक–दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हो गये।

मूर्तिशिल्प के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि राधा से पूर्व कृष्ण का कला के क्षेत्र मे अकन प्रारम्भ हो गया था। इसका ज्वलन्त प्रामाणिक साक्ष्य मथुरा के मोरा गॉव से

---

१ बाजपेयी कृष्णदत्त एव बाजपेयी सतोष कुमार भारतीय कला भोपाल १९९४ पृ० ६५

२ पाडे सुस्मिता, पूर्वोद्धृत पृ० १९७, पाण्डेय जे०एन० भारतीय कला एव पुरातत्व इलाहाबाद १९९१ पृ० १४०

३ पाण्डेय जे०एन० पूर्वोद्धृत पृ० १४०, गुप्त परमेश्वरी लाल भारतीय वास्तुकला वाराणसी १९८९ पृ० ६८

४ गुप्त, परमेश्वरी लाल, पूर्वोद्धृत, पृ० ६७

५ पूर्वोक्त, वही पृष्ठ

६ पाण्डे, जे०एन०, पूर्वोद्धृत पृ० १४०

प्राप्त एक शिलापटट अभिलेख को माना जाता है जिसमे पचवृष्णिवीरो की पूजा/मूर्तियो का उल्लेख हुआ है।[1] पचवृष्णिवीरो से तात्पर्य–सकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न साम्ब एव अनिरूद्ध से है जिन्हे वृष्णिवशीय पॉच दैवीय नायक माना जाता है।[2] **वायुपुराण** मे भी पचवृष्णिवीरो के विषय मे स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।[3] यहॉ वासुदेव से तात्पर्य कृष्ण–वासुदेव से है जो विष्णु के सर्वप्रमुख रूप (वासुदेव) का मानवी रूप है।[4] स्पष्ट है कि वासुदेव, कृष्ण का प्रारम्भिक नाम था जो **पाणिनी** युग मे भी प्रचलित था।[5] इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि तत्कालीन समाज मे कृष्ण को विष्णु के अवतार रूप मानने की धारणा प्रचलित हो रही थी। कृष्ण को विष्णु का अशावतार मानने का उल्लेख पौराणिक ग्रन्थो मे भी प्राप्त होता है।[6] अन्यत्र कृष्ण को विष्णु का पूर्णावतार भी कहा गया है।[7] वैसे हिन्दू धर्म मे ज्ञान की अभिव्यक्ति के अन्तर्गत अवतारवाद का महत्वपूर्ण स्थान है जिसका प्रधान प्रयोजन धर्म की स्थापना एव अधर्म का विनाश करना था।[8]

---

१ पाण्डे सुस्मिता पूर्वोद्धृत पृ० ६७, श्रीनिवासन् डोरिस मेथ अर्ली कृष्णा आइकन्स द केस एट मथुरा, सग्रहालय पुरातत्व पत्रिका उ०प्र० लखनऊ अक नवम्बर २१–२४ जून ७८ दिसम्बर ७६ पृ० ५, जायसवाल सुवीरा वैष्णव धर्म का उदभव और विकास नई दिल्ली १९९६, पृ० ६१

२ पाण्डेय सुस्मिता पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ श्रीनिवासन् डोरिस मेथ पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ देसाई कल्पना एस० आइकनोग्राफी ऑफ विष्णु नई दिल्ली १९७३ पृ० ३ बनर्जी जे०एन० पचवीरास् ऑफ द वृष्णि' जर्नल ऑव इण्डियन सोसाइटी ऑव ओरियन्टल आर्ट खण्ड X, पृ० ६५–६८, जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ

३ वायु पुराण ९७ १ २

४ राव टी० ए० गोपीनाथ एलीमेन्ट्स ऑव हिन्दू आइकनोग्राफी खड I दिल्ली १९८५, पृ० २१९ मिश्र इदुमती पूर्वोक्त पृ० ११६

५ मिश्र जयशकर प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास दिल्ली १९९२ पृ० ७१५

६ विष्णु पुराण ५ १ १२ – अशावतारो ब्रह्मषेयोऽय यदुकुलोद्भव ।
विष्णोस्त विस्तेरणाह श्रोतुमिच्छामितत्त्वत ।।

७ मिश्र इदुमती पूर्वोद्धृत पृ० ११६

८ मिश्र जयशकर पूर्वोद्धृत पृ० ७१५

श्रीकृष्ण ने स्वय अपने अवतार की बात **श्रीमद्भागवत** मे की है।[1] वास्तव मे अवतारवाद की अवधारणा वैदिककाल से ही प्रारम्भ हो गई थी तथा विष्णु के अनेक अवतारो की कथाये भी वैदिककालीन ग्रथो मे उल्लिखित मिलती है।[2] **ऋग्वेद** मे विष्णु के वराह रूप का वर्णन मिलता है।[3] **शतपथ ब्राह्मण तैत्तिरीय सहिता** आदि वैदिक ग्रन्थो के अतिरिक्त **भागवतपुराण, रामायण, महाभारत** जैसे ग्रथो मे भी विष्णु के अवतार–स्वरूप की चर्चा विस्तार से मिलती है।[4] **महाभारत** मे भी एक स्थल पर युधिष्ठिर द्वारा कृष्ण की स्तुति सम्बन्धी वर्णन से इस बात की पुष्टि होती है।[5] इस प्रकार विष्णु का स्वरूप अत्यत व्यापक है जिसमे उनके सर्वप्रमुख रूप वासुदेव को मानवी रूप वासुदेव–कृष्ण के नाम से सम्बोधित किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिककालीन देवता के रूप मे विष्णु ने जो प्रतिष्ठा स्थापित की थीं, कालातर मे वही वैष्णव धर्म के उद्भव एव विकास मे सहायक सिद्ध हुई।

यदि वैष्णव धर्म के उद्भव सम्बन्धी तथ्यो पर विचार किया जाय, तो यह ज्ञात होता है कि भक्ति–साधना वास्तव मे उपनिषद्काल मे उद्भूत कठिन एव व्ययसाध्य यज्ञ–पद्धति के विरूद्ध आदोलन का परिणाम है।[6] जिसमे लोगो ने विष्णु की उपासना एव भक्ति पर विशेष बल दिया और विष्णु की यह उपासना–विधि सात्वत–पद्धति के

---

१ श्रीमद्भागवत ४ ७ ८ – यदा–यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम।।
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे–युगे।।

२ देव कपिल थ्योरी ऑफ इनकार्नेशन इन मैडिवल एन इण्टरप्रटेशन वाराणसी १९६३ पृ० ३४६ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० १३०–३१ मिश्र जयशकर पूर्वोद्धृत पृ० ७१६

३ ऋग्वेद ८ ७ १०

४ मिश्र जयशकर पूर्वोद्धृत पृ० ७१६ मिश्र इदुमती पूर्वोद्धत पृ० १६०

५ महाभारत शातिपर्व ४३ ५

६ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत, पृ० ६६

नाम से विख्यात हुई। इस सात्वत–विधि[1] मे आत्मसमर्पण भक्ति एव अहिसा पर विशेष बल दिया गया और इस नवीन धर्म के व्यापक प्रचार–प्रसार हेतु वासुदेव–कृष्ण को प्रमुख देवता के रूप मे आधार बनाया गया। इस प्रकार जनसामान्य मे वासुदेव–कृष्ण की भक्ति–परक उपासना विधि का विकास हुआ जिसमे वासुदेव–कृष्ण को विष्णु के अवतार रूप मे स्वीकारा गया।[2] इस प्रकार वैष्णव धर्म जिसे भागवत धर्म के नाम से भी जाना जाता है के अन्तर्गत देवकी–पुत्र कृष्ण की भगवान वासुदेव–कृष्ण के रूप मे पूजा–अर्चना प्रारम्भ हो गई और कालान्तर मे जब वासुदेव–कृष्ण का तादात्म्य नारायण से स्थापित हुआ तो पाचरात्र धर्म के नाम से एक नई शाखा वैष्णव धर्म मे उद्भूत हुई।[3] इसमे भागवत लोग वासुदेव की उपासना उन्हे नारायण विष्णु एव उनके अवतारो से अभिन्न मानते हुए करते थे जबकि पचरात्र लोग वासुदेव की उपासना उनके चतुर्व्यूहात्मक स्वरूप (जिसमे वासुदेव, सकर्षण (कृष्ण के बडे भाई बलराम) प्रद्युम्न (कृष्ण और रुक्मिणी के पुत्र), एव अनिरूद्ध (प्रद्युम्न के पुत्र) की उपासना करते थे।[4] कुछ विद्वानो ने पाचरात्र धर्म के उपासक देवो मे वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न अनिरूद्ध के साथ–साथ साम्ब (कृष्ण और जाम्बवती के पुत्र) का भी उल्लेख किया है।[5] पचरात्र धर्म मे उपरोक्त वर्णित पॉच देवता पचवृष्णि नायक के रूप मे लोकप्रिय हुए।[6] स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज मे वासुदेव की एकाकी नही, अपितु पॉच वीर देवताओ के साथ सम्मिलित रूप मे पूजा की जाती थी।[7] इसका प्रभाव कला के क्षेत्र मे भी दिखाई पडता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन पचवृष्णियो की उपासना ने सम्भवत पचभूतो की

---

१ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० ३६ – सात्वत शब्द वृष्णि–वश का एक अन्य नाम है जिसमे वासुदेव–कृष्ण का जन्म हुआ था और इस वश द्वारा प्रचलित उपासना सात्वत–विधि के नाम से जानी जाती है।

२ पूर्वोक्त पृ० ६६

३ पूर्वोक्त ४३ पाडे सुस्मिता पूर्वोद्धृत पृ० ६५

४ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० ४३

५ पूर्वोक्त पृ० ४०

६ पूर्वोक्त वही पृष्ठ

७ पूर्वोक्त पृ० ६१

पूजा–अर्चना से प्रेरणा ग्रहण की होगी।[1] कालान्तर मे लगभग द्वितीय–तृतीय ई० तक पचरात्र धर्म भी पूर्णत भागवत–धर्म मे परिणत हो गया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैष्णव धर्म के उद्भव एव विकास मे वासुदेव–कृष्ण ने विष्णु के मानवी रूप मे जो प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, वह आगे चलकर पचरात्र धर्म और भागवत धर्म के अन्तर्गत और भी सुदृढता को प्राप्त हुई।

कृष्ण–सम्बन्धी प्राप्त मूर्तिशिल्प के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि प्रथम शताब्दी ई० के लगभग शक–कुषाण काल मे कृष्ण एव उनसे जुडे कथानक सम्बन्धी मूर्तिशिल्प अधिकाशत मथुरा से प्राप्त होने लगे थे। यदि इस तथ्य पर विचार किया जाय तो यह पता चलता है कि शक–कुषाण काल मे मथुरा अवश्य भागवत धर्म का प्रधान केन्द्र रहा होगा।[2] शक–क्षत्रप शोडास कालीन मोरा अभिलेख[3] इसका ज्वलन्त उदाहरण है जिसमे पचवृष्णि नायक देवताओ की मूर्तियो की स्थापना का उल्लेख हुआ है।[4] इसी प्रकार एक अन्य अभिलेख[5] से भी पता चलता है कि किसी वसु नामक व्यक्ति ने भगवत वासुदेव के पवित्र स्थान पर एक मदिर, एक तोरण तथा एक घेरेयुक्त वेदिका का निर्माण करवाया था।[6] *हेमचन्द्र रायचौधरी* ने भी वासुदेव–कृष्ण की उपासना–क्षेत्र का मूलस्थान जमुना घाटी क्षेत्र को माना है।[7] *मेगास्थनीज* नामक यूनानी दूत ने भी शूरसेन (मथुरा) के निवासियो को हेराक्लीज का उपासक बताया है– हेराक्लीज से

---

१ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० ३६–४२

२ पूर्वोक्त पृ० १८६

३ सरकार डी०सी० सेलेक्ट इन्सिक्रप्शस–बेयरिंग ऑन इडियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन खण्ड I दिल्ली १९८६ पृ० १२२ स० २६ए

४ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत, पृ० १८६

५ सरकार डी०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १२३ स० २६ बी जर्नल ऑव बिहार रिसर्च सोसाइटी ३९ १९५३ पृ० ४५

६ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत, पृ० १८६

७ रायचौधरी हेमचन्द्र मैटेरियल फार द स्टडी ऑव अर्ली हिस्ट्री ऑव दि वैष्णव सेक्ट कलकत्ता १९३६ पृ० ९५, ७२, जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत, पृ० १८५

तात्पर्य वासुदेव–कृष्ण से है।[1] विविध साक्ष्यो से स्पष्ट होता है कि मथुरा भागवत धर्म का एक प्रमुख केन्द्र था। मथुरा मे भागवत धर्म के अलावा बौद्ध जैन एव अन्य हिन्दू धर्म से सम्बन्धित अनेक सम्प्रदायो का भी विकास हुआ। यहॉ से वैष्णव धर्म से सम्बन्धित कला–शिल्प के साथ–साथ अनेक दूसरे धर्म व सम्प्रदायो की प्राप्त कला–सामग्री इस बात को स्पष्ट रूप से द्योतित करती है।[2]

कुषाणकाल मे मथुरा एव उसके समीपवर्ती क्षेत्रो से अनेक वैष्णव–कथाओ से युक्त प्रतिमाएँ एव मूर्तिशिल्प खण्ड प्राप्त हुए है।[3] मथुरा से चार लघु कुषाणकालीन उत्कीर्ण फलक प्राप्त हुए है[4], जो कलात्मक दृष्टि से उतने प्रभावशाली नही है, जितना कि वे मूर्तिशास्त्रीय ढग से महत्व रखते है। इनमे से प्रथम फलक सूक्ष्म रूप से खण्डित तीन आकृतियो के अकन को दर्शाता है, जो वर्तमान मे मथुरा सग्रहालय मे सुरक्षित रखा है।[5] इस फलक का निर्माण लाल धब्बेदार बलुआ पत्थर से किया गया है। इसके मध्य मे एक लघु स्त्री आकृति बनी हुई है जो द्विभुजी रूप मे है। इसका दाहिना हाथ अभयमुद्रा मे प्रतीत होता है तथा इसके सिर के ऊपर एक छत्र का अकन हुआ है।[6] इस मूर्ति–उत्कीर्णन् के पार्श्वभाग मे कुछ विशाल चतुर्भुजी पुरुषाकृति है जो हल एव गदा जैसे आयुधो को धारण किये हुए है।[7] इस पुरुषाकृति का दाहिना हाथ अभयमुद्रा मे तथा बाया हाथ स्वाभाविक मुद्रा मे कटि अवलम्बित है। इसके समीप ही एक अन्य पुरुषाकृति है, जो गदा, चक्र जैसे लक्षण–चिन्हो से सुशोभित है।[8] (देखिये चित्र सख्या

---

१ पाण्डेय सुस्मिता पूर्वोद्धृत पृ० ६७ श्रीनिवासन् डोरिस मेथ पूर्वोद्धृत पृ० ५, देसाई कल्पना एस० पूर्वोद्धृत पृ० ३
२ वाजपेयी कृष्णदत्त भारत के सास्कृतिक केन्द्र–मथुरा दिल्ली १६८० पृ० ४५
३ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० १८६
४ श्रीनिवासन डोरिस मेथ पूर्वोद्धृत पृ० ६ जोशी एन०पी० बुलेटिन ऑफ म्युजियम्स ऐण्ड आर्कियोलॉजी इन यू०पी० अक (मार्च १६६८) पृ० २४६ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० १६०
५ श्रीनिवासन् डोरिस मेथ पूर्वोद्धृत पृ० ६
६ पूर्वोक्त वही, पृष्ठ
७ पूर्वोक्त, वही पृष्ठ
८ पूर्वोक्त, वही, पृष्ठ

४)। इन देव–देवी आकृतियो की पहचान क्रमश एकानशा (सुभद्रा जिसे कृष्ण–बलराम की बहन) सकर्षण (बलराम) एव वासुदेव–कृष्ण से की गई है। *सुवीरा जायसवाल* के अनुसार पचवृष्णिवीरो की पूजा के अन्तर्गत दो भाइयो सहित एक अधिष्ठात्री देवी की पूजा को तत्कालीन समाज मे महत्व दिया जा रहा था, जबकि उनके छोटे भाई (वासुदेव–कृष्ण) को एक सर्वोच्च देवता के अवतार रूप मे प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई थी।[१] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि परिवार देवी–देवता के रूप मे बलराम सुभद्रा सहित यद्यपि कृष्ण की पूजा–परम्परा समाज मे प्रचलित थी किन्तु एक स्वतत्र देवता के रूप मे कृष्ण अभी भी प्रतिष्ठा नही प्राप्त कर सके थे। किन्तु यह निष्कर्ष कलात्मक साक्ष्यो द्वारा ही सम्भव है क्योकि साहित्यिक साक्ष्यो मे वासुदेव–कृष्ण की प्रधानता स्पष्ट दिखाई पडती है। कालातर मे जब वासुदेव–विष्णु की लोकप्रियता बढने लगी, तो यह परिवार–देवता भी लुप्तप्राय होने लगे।[२] साथ ही यह भी अनुमान लगाया जाता है कि एकानशा वृष्णि–जनजाति की अधिष्ठातृ देवी रही होगी जिन्हे महत्वशालिनी देवी के रूप मे प्रतिष्ठित करने के कारण इन पुरुषाकृतियो को मात्र सहयोगी देवताओ के रूप मे प्रस्तुत किया गया होगा।[३] इस प्रकार यह फलक वृष्णि–जाति की तत्कालीन मातृसत्तात्मक सामाजिक–व्यवस्था की ओर स्पष्ट सकेत करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आगे चलकर मातृसत्तात्मक स्थिति जब वृहद् पितृसत्तात्मक स्थिति मे समायोजित हुई तो इस देवी (एकानशा) का महत्व भी समाप्त हो गया होगा और इनके दोनो भाइयो (सकर्षण वासुदेव–कृष्ण) ने प्रमुख देवताओ के रूप मे स्थान ग्रहण कर लिया होगा।[४] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वासुदेव–कृष्ण का चर्तुव्यूहो के अकन के साथ–साथ उनकी बहन (एकानशा) एव भाई

---

१ जायसवाल सुवीरा, पूर्वोद्धृत पृ० ६२

२ पूर्वोक्त, वही पृष्ठ

३ पूर्वोक्त, पृ० ६०

४ पूर्वोक्त, वही पृष्ठ

(बलराम) के साथ उनके एक अन्य रूप को द्योतित करने वाली प्रतिमाओ का निर्माण भी प्रचलन मे था। वर्तमान मे उडीसा के जगन्नाथपुरी मदिर मे यही रूप दृष्टव्य होता है।[1]

मथुरा से प्राप्त इस फलक मे वासुदेव–कृष्ण को गदा एव चक्रधारी होने के कारण इनकी पहचान विष्णु से की गई है।[2] वासुदेव–कृष्ण का यह रूप *भगवद्गीता*[3] के उस प्रसिद्ध महापुरुष के अवतार खण्ड का स्मरण कराता है जिसमे कृष्ण ने अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखाया था और अर्जुन के पुन आग्रह करने पर उन्होने अपना चतुर्भुजी रूप (शख, गदा, कमल एव चक्र के चिन्ह से युक्त) एव मुकुट धारण करके अर्जुन को प्रसन्न किया था। **महाभारत** मे भी वासुदेव–कृष्ण को शख के साथ चक्र एव गदा धारण किये हुए वर्णित किया गया है।[4] वृष्णि नायक देवताओ को प्रारम्भ से ही प्रतिमा के रूप मे पूजा जाता था, इसलिए विष्णु की आरम्भिक प्रतिमाओ के सम्बन्ध यह सम्भावना व्यक्त की जाती है कि वह लोकप्रिय देवता वासुदेव–कृष्ण की ही प्रतिमाएँ रही हो।[5] इस प्रकार विष्णु एव वासुदेव–कृष्ण की प्रतिमाओ मे साम्यता दृष्टिगत होती है। *वासुदेवशरण अग्रवाल* ने विष्णु की आद्यतम रूप वाली प्रतिमाओ पर बोधिसत्व मैत्रेय के प्रतिमा–लक्षण का प्रभाव माना है, अन्तर केवल विष्णु की अतिरिक्त दो भुजाओ का है।[6] इस आधार पर वासुदेव–कृष्ण की प्रतिमा पर भी बोधिसत्व मैत्रेय के प्रतिमा–लक्षण

---

१ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० ५६

२ श्रीनिवासन् डोरिस मेथ पूर्वोद्धृत पृ० ६

३ श्रीमद्भागवद्गीता अध्याय XI ४६ –
किरीटन गदिन चक्रहस्तमिच्छामि त्वा द्रष्टुमह तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।

४ महाभारत ६ ६६

५ जायसवाल पृ० १५३

६ पूर्वोक्त, पृ० १५२–५३

का प्रभाव माना जा सकता है।[1] *सुवीरा जायसवाल* ने *वासुदेवशरण अग्रवाल* के मत की पुष्टि करते हुए कहा है कि प्रारम्भिक विष्णु और वासुदेव–कृष्ण की प्रतिमाओ मे बौद्ध से ब्राह्मणीय प्रतिमा के रूप की ओर सक्रमण माना जा सकता है।[2] कुषाणकाल मे वासुदेव–कृष्ण की प्रतिमाओ मे प्रयुक्त गदा एव चक्र जैसे आयुधो को शक्ति एव श्रेष्ठता का द्योतक अति पूर्वकाल से समझा जाता था।[3] महाकाव्यो एव पुराणो मे चक्र का उल्लेख युद्ध मे प्रयोग किये जाने वाले आवश्यक आयुधो के रूप मे मिलता है। विष्णु के चरित्र मे चक्र की भूमिका उन्हे दुष्टो के सहारक एव भक्तो के रक्षक के रूप मे प्रस्तुत करती है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि वही रूप एव गरिमा प्रदान करने के लिए वासुदेव–कृष्ण की मूर्तियो मे इन आयुधो को प्रयोग किया गया होगा। गुप्तकाल से भी ऐसे ही कुछ उदाहरण प्राप्त होते है।[5] कुषाणकालीन उपरोक्त फलक के अतिरिक्त तीन फलक और भी प्राप्त हुए है जिसमे सकर्षण, वासुदेव–कृष्ण एव एकानशा को कुछ भिन्नता के साथ उकेरा गया है।[6]

कुषाणकाल मे इन फलको के अतिरिक्त कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित कथानक भी मूर्तिशिल्प मे उत्कीर्ण किये गये है। मथुरा से प्राप्त एक शिल्पखड[7] मे वसुदेव को शिशु कृष्ण को सूप मे ऊपर उठाये यमुना नदी पार करते हुए दिखाया गया है। इस उत्कीर्णन् मे यमुना को तीव्रगति से बहते हुए दिखाया गया है। इसमे वसुदेव जल के

---

१ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० १५२–५३
२ पूर्वोद्धृत वही पृ०
३ श्रीनिवासन् डोरिस मेथ पूर्वोद्धृत पृ० ६
४ कृष्णा नदिता द आर्ट एण्ड आइकनोग्राफी ऑव विष्णु–नारायण बम्बई १९८० पृ० ४१–४२
५ श्रीनिवासन् डोरिस मेथ पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ
६ पूर्वोक्त पृ० ७
७ साहनी दयाराम ए स्टोन स्कल्पचर रिप्रजेन्टिग इन इनसीडेन्ट फ्राम द लाइफ ऑव कृष्ण' आर्किलॉजिकल सर्वे ऑव इडिया एनुअल रिपोर्ट १९२५–२६ पृ० १८४ चित्रफलक XVII सिह श्रीभगवान गुप्तकालीन हिन्दू देव–प्रतिमाऍ प्रथम खड नई दिल्ली १९८२ पृ० ८० जायसवाल सुवीरा, पूर्वोद्धृत पृ० १८६

वेगशील प्रवाह से भयभीत होते प्रतीत हो रहे है क्योकि उनका शरीर कुछ पीछे की ओर झुका दिखाया गया है।[1] इसमे नागराज को अपने सप्तफणो को फैलाये बालक कृष्ण की रक्षा करते हुए दिखाया है।[2] (देखिये चित्रफलक सख्या–५) इसे कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित दृश्य प्रस्तुत करने वाला प्राचीनतम मूर्ति–शिल्प माना जाता है। इसे निर्माण–शैली के आधार पर लगभग प्रथम शती ई० के आस–पास माना जाता है।[3] स्पष्ट है कि कुषाणकाल मे कृष्ण–सम्बन्धी मूर्तिशिल्प निर्मित होना प्रारम्भ हो गया था। कुषाणकाल के पश्चात् गुप्तकाल एव गुप्तोत्तरकाल मे भी कृष्ण–सम्बन्धित मूर्तियो का निर्माण और तीव्रगति से प्रचलित हुआ।

गुप्तकाल मे कुषाणकाल के सदृश ही विभिन्न स्थानो से कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित अनेक कथानक मूर्तिशिल्प के रूप मे प्राप्त होते है। गुप्तकाल के प्रसिद्ध दशावतार मदिर (देवगढ, ललितपुर जिले) मे कृष्ण–लीला से सम्बन्धित अनेक कथानक उकेरे गये है।[4] इस मदिर मे कृष्ण द्वारा कस के वध करने के दृश्य को बहुत रोमाचकारी रूप मे प्रस्तुत किया गया है, जिसमे कृष्ण को कस का जूडा पकडकर खीचते हुए दिखाया गया है।[5] *विष्णुपुराण*[6] मे भी कृष्ण द्वारा कस का इसी प्रकार प्राणान्त करते हुए वर्णन मिलता है। देवगढ के मदिर मे इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से कृष्ण सम्बन्धी भी कथानक उत्कीर्ण मिलते है। इसमे देवकी द्वारा कृष्ण को वसुदेव को देने का अत्यन्त मार्मिक वर्णन प्राप्त होता है।[7] इस फलक मे देवकी को राजसी वस्त्रो

---

१ सिह श्री भगवान पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ

२ पूर्वोक्त वही पृष्ठ

३ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० १८६

४ सिह श्रीभगवान् पूर्वोद्धृत पृ० ८२

५ पूर्वोक्त वही पृष्ठ

६ विष्णुपुराण ५ २० ८६

७ देसाई कल्पना एस० पूर्वोद्धृत पृ० १२४ चित्र ८६ सिह श्रीभगवान् पूर्वोद्धृत पृ० ८१

मे तथा वसुदेव को कटि पर धोती धारण किये हुए दिखाया गया है।[1] इसी प्रकार यहॉ से प्राप्त एक अन्य फलक मे नन्द–यशोदा की गोद मे बलराम और कृष्ण को बहुत स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत किया है।[2] इसमे यशोदा को लहॅगा और ओढनी पहने हुए दिखाया गया है। इससे तत्कालीन समाज मे प्रचलित स्त्री–वेशभूषा का पता चलता है। इन मूर्तिफलको के अतिरिक्त देवगढ के मदिर से चीर–हरण धेनुका–वध शकट–भजन, कृष्ण–सुदामा मिलन आदि अनेक कृष्ण–लीला सम्बन्धी कथानको को फलको पर उत्कीर्ण किया गया है।[3]

भारत के अन्य क्षेत्रो से भी कृष्ण की बाल–लीलाओ से सम्बन्धित दृश्याकन प्राप्त होते है। *कृष्णदेव* ने मथुरा से प्राप्त एक गुप्तकालीन कालिय–मर्दन प्रसग वाले फलक का वर्णन किया है जिसमे कृष्ण को नागराज पर सवार अपने हाथो मे पाश द्वारा वश मे किये हुए प्रदर्शित किया गया है।[4] मडोर (राजस्थान) से भी इसी प्रकार एक फलक प्राप्त हुआ है। इसे सबसे पहले कालियमर्दन का दृश्य प्रस्तुत करने वाला फलक माना जाता है।[5] इसमे कृष्ण को अपने दाहिने पैर से नाग के निचले भाग को तथा बाये पैर से उसके शिरोभाग को दमित करते हुए दिखाया गया है।[6] ओसियॉ (राजस्थान) के हरिहर मदिर–१ से भी ऐसा ही एक दृश्याकन प्राप्त होता है।[7] कालिय–दहन सम्बन्धी फलक का उत्कीर्णन् खजुराहो के लक्ष्मण–मदिर से भी प्राप्त होता है। इसमे कृष्ण को चतुर्भुजी रूप मे अकित किया गया है[8] (देखिये चित्र सख्या ६)। आगे चलकर मध्यकाल मे विकसित कला के अन्तर्गत कृष्ण के कालिय–मर्दन स्वरूप का व्यापक रूप से अकन

---

१ सिह श्रीभगवान पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ
२ पूर्वोक्त वही पृष्ठ चित्र ६५
३ पूर्वोक्त पृ० ८२
४ देव कृष्ण कृष्ण–लीला सीनस् इन द लक्ष्मण टेम्पुल ऐट खजुराहो ललितकला न० ७ पृ० ८६ देसाई कल्पना एस० पूर्वोद्धृत पृ० १२७
५ देसाई कल्पना एस० पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ
६ पूर्वोक्त वही पृष्ठ
७ पूर्वोक्त वही पृष्ठ
८ पूर्वोक्त वही पृष्ठ

हुआ। पौराणिक साहित्य जैसे *विष्णुपुराण*[1], *हरिवशपुराण*[2] आदि से भी कृष्ण के कालिय–दमन सम्बन्धी प्रसग पर प्रकाश पडता है।

कृष्ण–लीला से जुडे अन्य प्रसिद्ध कथानको को भी कलाकारो ने अपने मूर्तिशिल्प का प्रमुख विषय बनाया है जिसमे यमलार्जुन–भग, केशी–वध, शकट–भग पूतना–वध नवनीत–हरण गोवर्धनधारी कृष्ण आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[3] इनमे कृष्ण का गोवर्धनधारी रूप विशेष लोकप्रिय हुआ। वैसे कृष्ण के इस रूप का अकन कुषाणकाल मे ही प्रारम्भ हो गया था[4] जिसकी उदाहरणस्वरूप एक प्रति भारतकला भवन बनारस मे सग्रहीत मिलती है।[5] कृष्ण के गोवर्द्धनधारी रूप की कथा अतिविस्तार से **विष्णुपुराण**[6] और **हरिवशपुराण**[7] मे उल्लिखित मिलती है। ५वी शती० ई० के लगभग मदौर के एक द्वारफलक पर कृष्ण के गोवर्धनधारी रूप का अत्यन्त सुन्दर अकन प्राप्त होता है।[8] ऐसा प्रतीत होता है कि शिल्पकार ने **हरिवश** मे उल्लिखित वर्णन के आधार पर इसका चित्रण किया है।[9] लगभग इसी समय का गोवर्धन–धारण किये हुए कृष्ण का मूर्तिशिल्प भारतकला भवन बनारस[10] एव इलाहाबाद सग्रहालय[11] से भी प्राप्त हुआ है। इलाहाबाद सग्रहालय[12] से प्राप्त इस मूर्तिशिल्प का शिरोभाग टूटा है। बाये हाथ से कृष्ण गोवर्द्धन पर्वत उठाये है और दाहिना हाथ कोहनी से टूटा है। इसमे कृष्ण के दाहिने ओर शेर बैठा हुआ है और बाये तरफ पशुओ का

---

१ विष्णुपुराण ५,७,८
२ हरिवशपुराण २,११–१२
३ देसाई कल्पना एस० पूर्वोद्धृत पृ० १२५–२६
४ पूर्वोक्त पृ० १२८
५ भारतकला भवन बनारस सग्रहीत न० २२०६२
६ विष्णुपुराण ५,११,१६
७ हरिवशपुराण II १७,१८
८ देसाई कल्पना एस पूर्वोद्धृत पृ० १२६
६ पूर्वोक्त वही पृष्ठ
१० पूर्वोक्त वही पृष्ठ
११ पूर्वोक्त वही, पृष्ठ चन्द्र प्रमोद स्टोन स्कल्पचर इन द इलाहाबाद म्यूजियम (ए डिसक्रिप्टिव कैटेलॉग) पूना १६७० पृ० ८६ सग्रहीत न० २५६
१२ चन्द्र, प्रमोद पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ

झुड है। इसमे कृष्ण के केशो को काकपक्षीय ढग से सॅवारा गया है। ग्रीवा मे हार सुशोभित दिखाया गया है तथा नीचे के भाग मे कोई छोटा सा परिधान पहने हुए है जिसके ऊपर कटि से बॅधा कोई वस्त्र धारण किये हुए है। अनुमानत यह कटिबध के समान कोई वस्त्र रहा होगा। (देखिये चित्र सख्या ७)। मथुरा से भी लगभग इसी समय की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है, जिसमे कृष्ण को गोवर्धन–धारण किये हुए प्रदर्शित किया गया है। *कल्पना देसाई* का मत है कि इसका उल्लेख *कुमारस्वामी* ने भी किया है।[१]

रगमहल (राजस्थान) से गुप्तकालीन एक प्रसिद्ध कृष्ण–गोवर्धनधारी मृण्फलक प्राप्त हुआ है जो वर्तमान मे बीकानेर सग्रहालय मे सुरक्षित है।[२] *कल्पना एस० देसाई* के अनुसार *गोयेत्ज* महोदय ने इसको 'द आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ बीकानेर स्टेट' मे प्रकाशित किया था।[३] इसमे कृष्ण को अपने बाये हाथ की हथेली पर पर्वत उठाये तथा दाहिने हाथ को कटि–अवलम्बित किये हुए दिखाया है। इसके साथ ही साथ उनके सामने गायो का एक समूह भी अकित किया गया है जिनकी वे रक्षा कर रहे है।[४] पहाडपुर (पूर्वी बगाल) के मदिर की दक्षिण–पूर्वी दीवार से भी एक ऐसा ही दृश्य प्राप्त होता है।[५] कृष्ण के गोवर्धनारी रूप मे उन्हे द्विभुजी होने के साथ–साथ चतुर्भुजी रूप मे अकन करने की परपरा भी दिखाई देती है। सर्वप्रथम चतुर्भुजी रूप मे कृष्ण के गोवर्द्धनधारी का अकन ८वी शती मे दृष्टिगत होता है।[६] मध्यकाल तक आते–आते कृष्ण के गोवर्द्धनधारी रूप की ओर कलाकारो का ध्यान विशेष रूप आकृष्ट हुआ।[७] वर्तमान मे

---

१ देसाई कल्पना एस० पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ

२ पूर्वोक्त वही पृष्ठ

३ पूर्वोक्त वही पृष्ठ

४ आर्किलाजिकल सर्वे ऑव इडिया एनुअल रिपोर्ट १६१६–१७ फलक १३ सिह श्री भगवान पूर्वोद्धृत पृ० ८६

५ देसाई कल्पना एस० पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ

६ आर्किलाजिकल सर्वे ऑव इडिया एनुअल रिपोर्ट १६२६–२७ पृ० १४३ देसाई कल्पना एस० पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ

७ देसाई, कल्पना एस०, पूर्वोद्धृत, वही, पृष्ठ

वैष्णवो द्वारा पूजित श्रीनाथ का स्वरूप कृष्ण गोवर्द्धनधारी का ही कुछ परिवर्तित रूप माना जाता है जिसमे उनके बाये हाथ को ऊपर की ओर उठाये दिखाया गया है।[1]

स्पष्ट है कि कुषाणकाल से कृष्ण सम्बन्धित जो मूर्तियॉ निर्मित होना प्रारम्भ हुई उसमे निरन्तर वृद्धि होती गई। इससे कृष्णावतार की अवधारणा को एक सबल आधार प्राप्त हुआ। अब प्रश्न यह है कि विष्णु के अन्य अवतारो जैसे राम वराह नृसिह आदि की प्रारम्भ से ही बहुसख्यक स्वतन्त्र प्रतिमाएँ मिलने लगती है किन्तु कृष्ण के सन्दर्भ ऐसा नही प्राप्त होता है।[2] इस सम्बन्ध मे यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि कृष्ण को विष्णु का पूर्णावतार माना जाता था[3] जिसके कारण कृष्ण सम्बन्धी जो भी प्रारम्भिक मूर्तियॉ निर्मित की गई, वह विष्णु के मानवी रूप वासुदेव–कृष्ण के रूप मे थी। इसी कारण उन्हे प्रारम्भ मे निर्मित हुई मूर्तियो मे शख, चक्र, गदा एव कमल धारण किये हुए दिखाया गया है। विष्णु एव वासुदेव–कृष्ण मे रूप–साम्यता होने के कारण जनसामान्य ने भी इन दोनो रूपो को अभिन्न समझा। परिणामस्वरूप मूर्तिकला के क्षेत्र मे जो कृष्ण–सम्बन्धी मूर्तियॉ निर्मित हुई वे पूर्व प्रचलित विष्णु के प्रतिमा–लक्षणो से प्रभावित थीं।[4] सक्षेप मे कहा जा सकता है कि शक–कुषाणकाल मे कृष्ण–सम्बन्धी जो प्रतिमाएँ निर्मित हुई, वे या पचवृष्णिवीरो के साथ निर्मित की गई या फिर वे कृष्ण–कथानको से जुडे शिल्पखण्ड या फलक के रूप मे मिलती हैं जिसमे कृष्ण के साथ–साथ अन्य पात्रो का भी उत्कीर्णन् किया गया है। इतना स्पष्ट है कि शक–कुषाणकाल मे कृष्ण का स्वतत्र रूप से तो नही किन्तु किसी न किसी रूप मे मूर्ति–कला मे उनका अकन प्रारम्भ हो गया था।

---

१ देसाई कल्पना एस० पृ० १३०

२ त्रिवेदी एस०डी० कृष्णावतार इन स्कल्पचर आर्ट' सग्रहालय पुरातत्व पत्रिका पूर्वोद्धृत पृ० ८०

३ मिश्र, इदुमती, पूर्वोद्धृत पृ० ११६

४ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० १५२–५३

अब यह प्रश्न विचारणीय है कि कृष्ण का तो मूर्तिकला के क्षेत्र मे लगभग प्रथम शती ई० से अकन होना निश्चित हो गया था किन्तु उनकी आह्लादिनी शक्ति राधा की इस समय तक या इसके कुछ पश्चात् न तो कोई स्वतन्त्र प्रतिमा प्राप्त होती है और न ही कृष्ण के साथ मिलती है? इस सम्बन्ध मे निम्न तर्क उचित प्रतीत होता है–

(१) प्राचीन परम्परा मे कृष्ण को विष्णु के अवतार रूप एव जननायक के रूप मे प्रतिष्ठा प्राप्त थी। परिणामस्वरूप जनसामान्य मे उनके दैवत्व एव उद्धारक रूप को प्रश्रय प्रदान किया गया। इसी कारण तत्युगीन साहित्य एव कला मे उसी रूप को मान्यता प्राप्त हुई किन्तु कालान्तर मे इस दैवीय एव गम्भीर व्यक्तित्व मे किचिद् परिवर्तन लाने के लिए जब प्रेम–कथाओ, गोप–लीलाओ, रास–लीलाओ एव गोपी–चीरहरण आदि जैसे काल्पनिक प्रसगो को कृष्ण के साथ जोडा गया तो वह जनमानस मे श्रृगारिक रसिक रूप मे लोकप्रिय होने लगे होगे। इस प्रकार कृष्ण के व्यक्तित्व मे जब श्रृगार रस का समावेश हुआ तो उनकी शक्ति राधा ने भी नायिका के रूप मे प्रतिष्ठा प्राप्त की होगी। फलस्वरूप कला मे भी क्रमश कृष्ण के साथ उनका अकन प्रारम्भ होने लगा होगा। *डी०डी० कोसम्बी* ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है, कि जिस प्रकार शको के उपरान्त शिव का रूपातर लिग रूप मे लोकप्रिय हो गया था, ठीक उसी प्रकार गुप्तो के पतनोपरात वासुदेव–कृष्ण का रूपातर प्रेमी एव रसिक गोपाल–कृष्ण के रूप मे होने लगा होगा। स्पष्ट है कि छठी शती ई० के अतिम चरण मे वासुदेव–कृष्ण एक प्रेमी, श्रृगारिक नायक के रूप मे लोकप्रिय होने लगे होगे और इसमे उनकी नायिका के रूप मे राधा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। इसी कारण प्रारम्भिक मूर्तिशिल्प मे राधा का उत्कीर्णन अप्राप्य है।

(२) कुछ विद्वानो ने राधा के उद्भव को भारतीय पटल पर बहुत परवर्ती काल का होने के कारण मूर्तिकला मे उन्हे प्रारम्भ मे न तो एकाकी रूप से और न ही कृष्ण

के साथ अकित होने के लिए उत्तरदायी ठहराया है। इस सम्बन्ध मे *भण्डारकर* महोदय[1] ने अपने विचारो को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि राधा सीरिया से आये आभीरो की इष्टदेवी थी जिनको आर्यों ने बहुत बाद मे अपनी पूजा–अर्चा मे इष्टदेवी के रूप मे स्वीकार किया होगा। उनका मानना हैं कि आभीरो के यहॉ बस जाने पर उनके बाल–गोपाल सात्वत–धर्म के उपदेष्टा भगवान कृष्ण के साथ सम्मिलित हो गये होगे और कुछ शताब्दियो पश्चात् आभीरो की इष्टदेवी राधा भी आर्य जाति मे स्वीकृत कर ली गई होगी। यही कारण है कि प्राचीन ग्रथो एव प्रारम्भिक काल मे विकसित मूर्तिकला मे बाल–गोपाल कृष्ण का लीला–वर्णन तो प्राप्त होता है किन्तु राधा का अकन नही मिलता।

भण्डारकर के मत की पुष्टि करते हुए *हजारी प्रसाद द्विवेदी*[2] ने भी इस सम्बन्ध मे दो तरह के अनुमान लगाये है–

१ राधा आभीर जाति की प्रेमदेवी रही होगी और जिसका बालकृष्ण से सम्बन्ध रहा होगा। आरम्भ मे केवल बालकृष्ण का वासुदेव–कृष्ण से एकीकरण हुआ होगा, इसलिए आर्यग्रथो मे राधा नामोल्लेख नही हुआ होगा। कालान्तर मे बालकृष्ण की प्रधानता होने पर इस बालक देवता की सारी बातो को आभीरो से सम्बन्धित मान लिया होगा और इस प्रकार राधा की प्रधानता हो गई होगी।

२ दूसरा अनुमान यह लगाया जा सकता है कि राधा इसी देश की किसी आर्य–पूर्व जाति की प्रेमदेवी रही होगी और बाद मे आर्यों मे इनकी प्रधानता हो जाने पर कृष्ण के साथ इनके सम्बन्ध को जोड दिया होगा।

---

१ भडारकर आर०जी० वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रेलिजस सिस्टम्स नई दिल्ली १९८७ पृ० ३८
२ द्विवेदी हजारी प्रसाद, सूर–साहित्य बम्बई १९५६ पृ० १६

उपरोक्त तथ्यो के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि आभीर चाहे विदेशी जाति के रहे हो या भारतीय इतना स्पष्ट है कि भारतीयो ने आभीर जाति के इस देवी–देवता को अपने हिन्दू–धर्म मे आत्मसात कर लिया होगा और इस जाति के देवता कृष्ण को वासुदेव–कृष्ण के साथ सम्मिलित करके तत्कालीन समाज मे एक उपास्य देवता का रूप प्रदान किया होगा। इसका वर्णन अनेक साहित्यिक–ग्रन्थो मे भी मिलता है। प्रारम्भ मे कृष्ण–सम्बन्धी जो मूर्तियॉ निर्मित हुई वह अधिकाशत वासुदेव–कृष्ण के रूप जानी जाती थी। इस प्रकार आभीर जाति के देवता (कृष्ण) को भारतीय समाज मे पूजनीय देवता का स्थान प्राप्त हो गया किन्तु राधा के सम्बन्ध मे ऐसी बात नही मिलती। ऐसा अनुमान किया जाता है कि तत्कालीन समाज मे इस आभीरी देवी (जिसको केवल अब तक प्रेमदेवी[1] का स्थान प्राप्त था) को लोक–मर्यादाओ के कारण सम्भवत उपास्य देवी का रूप प्राप्त नही हो सका होगा और इसी कारण उन्हे तत्कालीन साहित्य एव कला मे स्थान नही दिया गया होगा। स्पष्ट है कि राधाकृष्ण के युगल स्वरूप का अकन मदिर एव मूर्तिशिल्प मे बहुत बाद मे हुआ होगा।

रगमहल[2] (राजस्थान) से दानलीला सम्बन्धी एक मृण्फलक प्राप्त हुआ है जिसको प्रारम्भिक गुप्तकाल का या परवर्ती कुषाणकाल का माना जाता है।[3] इस फलक मे एक गोपी को रोमन–शैली मे घाघरानुमा (Skirt) घुटने तक का वस्त्र पहने हुए सुन्दर ग्वाल–बाल की वेशभूषा से युक्त कृष्ण के साथ उत्कीर्ण किया गया है।[4] ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन समाज रोमन शैली के प्रभाव से अछूता नही था। इस गोपी की पहचान सम्भवत राधा से की जा सकती है। मथुरा से इस प्रकार के

---

१ द्विवेदी हजारीप्रसाद पूर्वोद्धृत पृ० १६–१७

२ परिमो रतन वैष्णविज्म इन इडियन आर्टस एण्ड कल्चर नई दिल्ली १९८७ पृ० ३३२–३३ – रगमहल सस्कृति क्षेत्र कालीबगा (राजस्थान) मे हैं जो प्राक–हडप्पा निवासीय स्थल से १/२ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है।

३ पूर्वोक्त वही पृष्ठ

४ पूर्वोक्त वही पृष्ठ

किसी अन्य प्रति की सूचना नही मिलती है किन्तु यहॉ से प्राप्त एक कुषाणकालीन वेदिका पर किसी गोपी को सिर पर दूध का बर्तन लिये हुए दिखाया गया है।[1] इस गोपी की पहचान के विषय मे स्पष्टत कुछ नही कहा जा सकता किन्तु इसे रगमहल से प्राप्त मृण्फलक मे उत्कीर्ण गोपी (राधा) के सामीप्य रखा जा सकता है। इस प्रकार कुषाणकाल मे राधा सम्बन्धी मूर्तिशिल्प उत्कीर्णन् के विषय मे कुछ कहना असम्भव सा लगता है फिर भी इतना स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल तक आते-आते भारत के विभिन्न भागो मे निर्मित मन्दिरो मे राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति दिखाई पडने लगी थी, जिसका सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है-

सातवी शताब्दी ई० से नवी शती ई० तक आधुनिक तेलगुदेशम् के अधिकाश भूभाग पर पल्लवो का आधिपत्य रहा।[2] पल्लववशीय शासक नरसिहवर्मन् प्रथम ने दक्षिण के तमिलनाडु राज्य मे मामल्लपुरम् (महाबलीपुरम्)[3] मे अनेक मडपो एव रथ-मदिरो का निर्माण करवाया था।[4] इसमे कृष्णमडप[5] विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसे पल्लवकालीन कलाकारो द्वारा निर्मित वैष्णव-कला का एक अद्वितीय उदाहरण माना जाता है। यद्यपि यह मडप कला-सौन्दर्य की दृष्टि से वराहमडप[6] और महिषासुरमर्दिनी[7] मडप की समानता तो नही प्राप्त करता किन्तु अपने दो प्रमुख फलको के प्रस्तुतीकरण के कारण विशेष प्रसिद्ध है।[8] इन दो फलको मे वृन्दावन मे गो-दोहन

---

१ परिमो, रतन पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ

२ पाण्डेय रामनिहोर दक्षिण भारत का इतिहास इलाहाबाद १९८८ पृ० ५६२

३ श्रीवास्तव के०सी० प्राचीन भारत का इतिहास तथा सस्कृति इलाहाबाद १९९९ पृ० ६७१ – महाबलीपुरम तमिलनाडु मे मद्रास से ४० मील की दूरी पर समुद्र तट पर स्थित एक सुन्दर नगर है जो पल्लव शासको के काल मे एक प्रसिद्ध बन्दरगाह एव कला-केन्द्र के रूप मे प्रसिद्ध था।

४ गुप्त परमेश्वरीलाल भारतीय वास्तुकला वाराणसी १९८९ पृ० १५३-५४

५ गोस्वामी ए० दि आर्ट आव दि पल्लवस् पृ० १७-१८

६ पाण्डेय रामनिहोर पूर्वोद्धृत पृ० ५६४ – वराहमडप महाबलीपुरम् के दस मडपो मे से एक माना जाता है।

७ पूर्वोक्त वही पृष्ठ महिषासुरमर्दिनी मडप भी महाबलीपुरम मे स्थित हैं।

८ गोस्वामी ए० पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ

(Milking-Scene) तथा गिरि–गोवर्द्धन की सुन्दर कथा उत्कीर्ण की गई है।[१] गिरि–गोवर्द्धन कथानक को कहने वाले इस फलक मे कृष्ण के साथ राधा को अकित किया है जिसे इन दोनो के उत्कीर्णन् का प्रथम प्रस्तुतीकरण माना जाता है।[२] इसका उल्लेख **श्रीमद्भागवत** मे भी प्राप्त नही होता है।[३] इस फलक मे कृष्ण को एक नायक (Hero) की भॉति गोवर्द्धन पर्वत को ऊपर की ओर उठाये साहसिक कार्य करते हुए प्रदर्शित किया है।[४] इसमे अनेक ग्वाल–बालो को अपने परिवार एव मवेशियो सहित गोवर्द्धन पर्वत के नीचे खडे दिखाया है।[५] कृष्ण के समीप स्पष्टत राधा को दिखाया गया है[६] जिसकी पहचान सम्भवत नैप्पिनै[७] से की गई है जो कृष्ण की प्रेमिका के रूप मे जानी जाती है।[८] इसकी वेशभूषा एव भगिमा वहॉ उपस्थित अन्य स्त्रियो से श्रेष्ठ प्रतीत होती है। इन आकृतियो के अतिरिक्त फलक के दाहिने अर्द्धभाग मे बलराम (कृष्ण के अग्रज) का अकन भी प्राप्त होता है।[९] इस फलक का निर्माण काल ७वी शती से ८वी शती के बीच निर्धारित किया जाता है।[१०]

अन्यत्र भी गोवर्द्धन लीला सम्बन्धी कथानको को मूर्तिशिल्प मे उकेरा गया है। इसी प्रकार का कथानक कुभकोणम् स्थित नागेश्वरस्वामी के मदिर से भी प्राप्त होता है।[११] इसमे कृष्ण को द्विभुजी रूप मे अकित किया गया है। कृष्ण का बाया हाथ कटि

---

१ गोस्वामी, ए, पूर्वोद्धत वही पृष्ठ
२ पूर्वोक्त वही पृष्ठ
३ पूर्वोक्त वही पृष्ठ
४ पूर्वोक्त वही पृष्ठ
५ बनर्जी पी० द लाइफ ऑफ कृष्ण इन इडियन आर्ट नई दिल्ली १९७८ पृ० ११४–१५
६ गोस्वामी ए० पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ चित्रफलक २२
७ बनर्जी पी० पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ – नैप्पिनै सगम–साहित्य मे कृष्ण की प्रेमिका के नाम से जानी जाती हैं जिसे उत्तर–भारत के साहित्य मे राधा नाम से पुकारा जाता है।
८ पूर्वोक्त वही पृष्ठ
९ पूर्वोक्त वही पृष्ठ चम्पकलक्ष्मी आर० वैष्णव आइकनोग्राफी इन द तमिल कन्ट्री दिल्ली १९८१ पृ० १३३
१० बनर्जी पी० पूर्वोद्धृत पृ० ११४
११ चम्पकलक्ष्मी आर० पूर्वोद्धृत पृ० १३४

अवलम्बित एव दाहिना हाथ पर्वत को उठाने की मुद्रा मे ऊपर की ओर उठा है[1] जिसे यहॉ स्पष्ट रूप से नही दिखाया गया है। कृष्ण के पार्श्व मे बलराम को बाये हाथ मे एक छडी पकडे दिखाया गया है[2] तथा दूसरी तरफ एक स्त्री–आकृति को खडे दिखाया गया है।[3] इस फलक की साम्यता मामल्लपुरम् स्थित कृष्ण–मडप से की जा सकती है और इसी आधार पर इसमे उपस्थित स्त्री–आकृति की पहचान नैप्पिनै या राधा से की जा सकती है। यह प्रारम्भिक चोल–मदिर[4] का उत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है। प्रारम्भिक चोल–स्थापत्य, कला शैली का विकास ८वी शती से १०वी शती के मध्यवर्ती काल मे हुआ।[5] इसी आधार पर इस चोल मदिर के निर्माण का समय भी ८वी शती से १०वी शती के मध्य निर्धारित किया जाता है। कालान्तर मे १३वी शती के लगभग इसी कथानक का प्रचुर मात्रा मे उत्कीर्णन् उत्तर–पाड्यकालीन फलको पर भी प्राप्त होता है। तिरूक्कनगुडि से प्राप्त फलक इसका ज्वलन्त उदाहरण है।[6] विजयनगर एव नायक शासको के काल में[7] लगभग १५वी–१७वी शती तक इस कथानक के अतिरिक्त विस्तृत दृश्यो को हटाकर एकाकी कृष्ण को पर्वत उठाये अकित किया जाने लगा।[8] काची[9] के वरदराज मदिर के बाहरी प्रागण मे निर्मित मण्डप के स्तम्भो पर ऐसा ही शिल्प उदाहरणस्वरूप प्राप्त होता है।[10] स्पष्ट है कि दक्षिण–भारत के मन्दिरो मे कृष्ण के लोकप्रिय रूप गोवर्द्धनधारी को मूर्ति–स्थापत्य मे विशेष स्थान दिया गया जिसमे उन्हे

---

१ चम्पकलक्ष्मी आर० पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ
२ पूर्वोक्त वही पृष्ठ
३ पूर्वोक्त वही पृष्ठ
४ पूर्वोक्त पृ० १३७
५ दुबे एच०एन० दक्षिण भारत का इतिहास इलाहाबाद १९८९ पृ० २६१
६ चम्पकलक्ष्मी आर० पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ
७ पूर्वोक्त वही पृष्ठ
८ पूर्वोक्त वही पृष्ठ
९ श्रीवास्तव के०सी० पूर्वोद्धृत पृ० ६४५ – काची वर्तमान तमिलनाडु का काजीवरम नामक जनपद हैं जो प्राचीन काल मे कॉची नाम से विख्यात है। यह दक्षिण–भारत का एक प्रमुख तीर्थस्थल एव कला–केन्द्र के रूप मे भी जाना जाता हैं।
१० चम्पकलक्ष्मी आर० पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ

कभी एकाकी रूप मे दिखाया गया है और कभी नैप्पिनै (राधा) बलराम व अन्य ग्वाल–बालो के साथ दिखाया है।

पश्चिम–भारत मे राजस्थान के ओसियॉ[1] (प्राचीन मेलपुर पट्टन या उपकेश या उकेश)[2] नामक स्थान से अनेक वैष्णव धर्म से सम्बन्धित मूर्तियॉ प्राप्त होती है। ओसियॉ पूर्वमध्यकाल मे प्रसिद्ध धार्मिक केन्द्र होने के साथ–साथ एक प्रमुख कला–केन्द्र के रूप मे भी जाना जाता था जहॉ ८वी शती से लेकर १२वी शती तक अनेक मदिर एव मूर्तियो का निर्माण हुआ।[3] यहॉ के अधिकाशत मदिर एव उसमे स्थापित मूर्तियॉ ब्राह्मण एव जैन धर्म से सम्बन्धित है।[4] इसी कारण तत्कालीन प्रचलित वैष्णव–धर्म की प्रधानता के कारण यहॉ के मन्दिरो मे कृष्ण–लीला सम्बन्धी दृश्याकनो की अधिकता दिखाई देती है।[5]

ओसियॉ स्थित सचियामाता[6] का मदिर (जो मूलत महिषमर्दिनी स्वरूप को समर्पित)[7] ओसवालो की कुलदेवी[8] का मन्दिर माना जाता है। इस जीर्णोद्धारित मदिर (वर्तमान समय मे स्थित) का समय ११वी–१२वी शती ई०[9] के मध्य माना जाता है। इस मदिर के समीप एक छोटा देवमदिर[10] स्थित है जिसकी छत की दीवार मे बने वितान

---

१ तिवारी दुर्गानदन ओसियॉ के मन्दिरो की देव मूर्तियॉ वाराणसी १९९६ पृ० १ – ओसियॉ जोधपुर (राजस्थान) से लगभग ६५ कि०मी० उत्तर–पश्चिम मे स्थित एक छोटा ग्राम है।
२ पूर्वोक्त वही पृष्ठ
३ पूर्वोक्त वही पृष्ठ
४ पूर्वोक्त पृष्ठ १७
५ पूर्वोक्त पृ० ८
६ पूर्वोक्त पृ० ६ – सचियामाता चण्डिका का सत्यका (या सच्चिका या सचिया) नामकरण भी मिलता हैं। देवी के शाकाहारी भोज्य–पदार्थ स्वीकारने और मासाहारी न रहने की वचनबद्धता के कारण ही देवी को सत्यका कहा गया जो समयान्तर सच्चिका या सचिया नाम से प्रसिद्ध हुई।
७ हाडा देवेन्द्र ओसियॉ हिस्ट्री आर्कियोलॉजी आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर दिल्ली १९८४ पृ० १५–१७
८ तिवारी दुर्गानदन पूर्वोद्धृत पृ० १
९ पूर्वोक्त पृ० ३०
१० बनर्जी पी०, पूर्वोद्धृत पृ० १५६

(Celıng) मे एक वेणुवादक युगल को उडते हुए सा दिखाया गया है[1] (देखिये चित्र सख्या ८)। *भडारकर महोदय* ने इस वेणुवादक युगल मे राधा–कृष्ण के प्रतिरूपण होने की सम्भावना व्यक्त की है।[2] इस उत्कीर्णन् को चारो ओर से नागवृन्दो के घेरे से आवेष्टित किया गया है।[3] यदि *भडारकर* के मत को समीचीन मान लिया जाय तो इस शिल्पाकन का महत्व विशेष रूप से बढ जाता है क्योकि **भागवतपुराण** या अन्य समकालीन ग्रथो मे राधा का नाम अज्ञात मिलता है।[4] यह उत्कीर्ण फलक मूर्तिकला की दृष्टि से महत्व रखने के साथ–साथ **भागवत** आदि वैष्णव पुराणो मे राधा के लिये प्रयुक्त 'विशेष गोपी शब्द सम्बन्धी भ्रम को भी दूर करने मे सहायता प्रदान करता है। प्रस्तुत शिल्पाकन को कृष्ण की रास–लीला के प्रतिरूपण का प्रारम्भिक रूप भी माना जाता है[5] जिसमे कृष्ण को किचिद् नृत्यमुद्रा मे खडी गोपी के साथ अकित किया गया है।[6] ऐसा अनुमान है कि यह वही गोपी है जिसको कृष्ण रास–लीला से पूर्व अन्य गोपियो को छोडकर एकान्त मे ले गये थे और जिसे अपनी श्रेष्ठता का गर्व हो गया था। इसका विस्तार से उल्लेख **भागवतपुराण**[7] मे भी प्राप्त होता है। इस देवमदिर का निर्माण काल इसी मदिर के समकालीन निर्मित अन्य मदिरो[8] (तीन हरिहर मदिरो एव विष्णु मदिर) के आधार पर ८वी शती के लगभग माना जाता है क्योकि तीन हरिहर

---

१ त्रिवेदी राकेश दत्त प्रतीहार मदिरो मे श्रीकृष्ण का चित्रण और भागवतपुराण सग्रहालय पुरातत्व पत्रिका उ०प्र० लखनऊ पूर्वोद्धृत पृ० ५६

२ बनर्जी पी० पूर्वोद्धृत पृ० १५६ भडारकर डी०आर० द टेम्पुल्स् ऑफ ओसियॉ आर्किलॉजिकल सर्वे ऑव इडिया एनुअल रिपोर्ट १६०८–६ पृ० ११०

३ खन्ना वदना ए स्टडी ऑव द रिप्रजेन्टेशन ऑव कृष्ण थीम इन द विजुअल आर्टस ऑव राजस्थान जयपुर १६६६ पृ० ३६

४ त्रिवेदी राकेश दत्त, पूर्वोद्धृत वही पृ०

५ पूर्वोक्त वही पृ०

६ पूर्वोक्त वही पृ०

७ भागवतपुराण, १० ३० ३७ – या गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्या स्त्रियो वने।
सा च मेने तदाऽऽत्मान वरिष्ठ सर्वयोषिताम्।

८ त्रिवेदी, राकेश दत्त, पूर्वोद्धृत वही पृ०

मदिरो का निर्माण काल ७७५–८०० ई०[1] के मध्य माना गया है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत शिल्पाकन और **भागवतपुराण** मे जहाँ एक ओर विषयगत समता दिखाई देती है वही दूसरी ओर दोनो के वर्णन–शैली मे भी साम्यता है।[2] ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से देखा जाय तो **भागवतपुराण** मे वर्णित कृष्ण–लीलाओ के अकन को प्रतीहारकालीन कला मे विशेष बल दिया गया। इसके अतिरिक्त **भागवतपुराण** के रचना–काल के विषय मे भी अनुमान लगाने मे सहायता मिलती है।

ओसियाँ के मदिरो मे कृष्ण–लीला सम्बन्धी कथात्मक अकन भी प्रचुरता से प्राप्त होते है।[3] इसमे कृष्ण–जन्म, गोकुल प्रस्थान से लेकर चाणूर एव मुष्टिक से मल्ल–युद्ध और सूतलोमहर्षण वध आदि के दृश्यो का उत्कीर्णन् सुविस्तार से किया गया है।[4] इसके अतिरिक्त माखनचोरी[5] (हरिहर–१, हरिहर–२ सूर्य मदिर) योगमायावध[6] (हरिहर मदिर–१, २, ३ विष्णु मदिर–१), पूतनावध[7] (हरिहर–मदिर–१) शकट भग[8] (हरिहर मदिर–१, २ ३, सूर्य मदिर), गोवर्द्धन धारण[9] (सूर्य मदिर–३ हरिहर मदिर–१, हरिहर–२ हरिहर–३) आदि प्रसगो का रोचक विवरणात्मक उत्कीर्णन् प्राप्त होता है। **भागवतपुराण**[10] मे भी इद्र के मानमर्दन के लिए गोवर्द्धन पर्वत को कृष्ण द्वारा उठाये जाने की कथा वर्णित है। ओसियाँ के हरिहर मदिर–१, हरिहर मदिर–२, हरिहर मदिर–३ मे गोवर्द्धन–लीला का कथात्मक विवरण प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है–

---

१ तिवारी दुर्गानदन पूर्वोद्धृत पृ० २६–२७
२ त्रिवेदी राकेश दत्त पूर्वोद्धृत पृ० ५७
३ तिवारी दुर्गानदन पूर्वोद्धृत पृ० १५५
४ पूर्वोक्त पृ० १५६
५ पूर्वोक्त पृ० १५८
६ पूर्वोक्त वही पृ०
७ पूर्वोक्त पृ० १५६
८ पूर्वोक्त पृ० १५६–६०
६ पूर्वोक्त, पृ० १६१
१० भागवतपुराण १० २५

हरिहर—मदिर[1]**—१** मे इद्र के मानमर्दन के लिए गोवर्द्धन पर्वत को कृष्ण द्वारा उठाये जाने की कथा प्राप्त होती है। इसमे कृष्ण को सामान्य रूप से अपने बाये हाथ पर पर्वत उठाये दिखाया गया है तथा उनके पार्श्वों मे गऊएँ कृष्ण की ओर स्वाभाविकता से देखती हुई उत्कीर्ण की गई है। इस दृश्य मे गोप एव मूसल लिए बलराम का भी अकन है।

हरिहर—मदिर[2]**—२** मे भी कृष्ण द्वारा गोवर्द्धन पर्वत को उठाये जाने का दृश्य उत्कीर्ण किया गया है, किन्तु इसमे गायो को कृष्ण की ओर देखते हुए अकित नही किया गया है। इसके अतिरिक्त इस दृश्य मे बलराम के स्थान पर एक स्त्री को खडे दिखाया है जो कृष्ण के इस कार्य (गोवर्द्धन धारण) को बडे आश्चर्य से देख रही है।

हरिहर—मदिर[3]**—३** मे कृष्ण को पर्वत उठाये दिखाया गया है जिसमे बलराम भी त्रिभगी मुद्रा मे स्वाभाविकता से अकित किये गये है।

उपरोक्त वर्णित तीनो मदिरो मे यद्यपि विषयगत (गोवर्द्धन लीला—प्रसग) साम्यता अवश्य दिखाई पडती है किन्तु उसके अकन के प्रस्तुतीकरण मे कुछ भिन्नता है जैसे हरिहर मदिर—२ मे बलराम के स्थान पर एक स्त्री को खडे दिखाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि हरिहर—मदिर—२ मे खडी स्त्री राधा हो सकती है। इस सम्बन्ध मे पल्लवकालीन कृष्णमडप (गोवर्द्धनलीला सम्बन्धी शैलोत्कीर्ण फलक)[4] *को प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमे कृष्ण के समीप खडी स्त्री को नैप्पिनै (राधा) से समीकृत किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि हरिहर मदिर—१ २ और ३ मे विषय—वस्तु एक होते हुए भी उसके अकन मे भिन्नता का कारण यही माना जा सकता है कि शिल्पी उन*

---

१ तिवारी दुर्गानदन पूर्वोद्धृत पृ० १६१
२ पूर्वोक्त वही पृ०
३ पूर्वोक्त वही पृ०
४ गोस्वामी ए० पूर्वोद्धृत पृ० १७—१८ चित्रफलक २२

दृश्यो के उत्कीर्णन को और अधिक रोचक एव नवीनता प्रदान करना चाहता रहा हो। इन तीनो मदिर का निर्माण काल लगभग ७७५–८०० ई० के बीच माना जाता है।[1]

स्पष्ट है कि राजस्थान के ओसियॉ नामक स्थान से ८वी शती के लगभग कृष्ण की बाल–लीलाओ के साथ–साथ कृष्ण और राधा की मूर्तियॉ भी मिलना प्रारम्भ हो गई थी।

मध्य प्रदेश का खजुराहो[2] नामक स्थान पूर्वमध्यकाल का एक प्रमुख कला–केन्द्र माना जाता था[3] जहॉ अनेक मन्दिर एव मूर्तियॉ सुरक्षित है। चदेल शासको ने खजुराहो मे मदिर–निर्माण कार्य ६वी शती ई० के उत्तरार्द्ध से लेकर १२वी शती ई० के पूर्वार्द्ध तक सम्पन्न किया था।[4] जनश्रुति के अनुसार खजुराहो मे कुल ८५ मदिर निर्मित किये गये थे, जिनमे वर्तमान मे २५ मदिर देखने को मिलते है।[5] प्राय खजुराहो के अधिकाशत मदिर उत्तर–भारत की नागर शैली मे प्राप्त होते है।[6] यहॉ निर्मित मदिरो का सम्बन्ध शैव, वैष्णव शाक्त सौर एव जैन धर्मों से है।[7]

खजुराहो मे वैष्णव धर्म से सम्बन्धित मूर्ति–स्थापत्य मे कृष्ण–लीला का अकन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[8] इस सदर्भ मे लक्ष्मण–मदिर का उल्लेख किया जा सकता है। इस मदिर को रामचद्र या चतुर्भुज मदिर के नाम से भी जाना जाता है।[9]

---

१ तिवारी, दुर्गानदन पूर्वोद्धृत पृ० २७

२ अग्रवाल उर्मिला खजुराहो स्कल्पचर्स एण्ड देयर सिगनिफिकेन्स नई दिल्ली १६८० पृ० ४–५ – खजुराहो चदेलो की राजधानी थी जो मध्य प्रदेश के छतरपुर जिले मे स्थित है। यह स्थान महोबा से लगभग ४५ मील की दूरी पर स्थित है।

३ तिवारी दुर्गानदन पूर्वोद्धृत पृ० १

४ बाजपेयी कृष्णदत्त एव बाजपेयी सतोष कुमार भारतीय कला भोपाल १६६४ पृ० ५३

५ पूर्वोक्त पृ० ५३–५५

६ पूर्वोक्त पृ० ५५

७ गुप्त परमेश्वरीलाल पूर्वोद्धृत, पृ० १२२

८ तिवारी दुर्गानदन पूर्वोद्धृत पृ० १५५, देसाई देवागना द रेलीजस् इमेजरी ऑफ खजुराहो मुम्बई १६६६

६ देव, कृष्ण टेम्पुल्स ऑव खजुराहो खण्ड I, नई दिल्ली १६६० पृ० ३८–३६

लक्ष्मण–मदिर का निर्माण चदेल शासक यशोवर्मा ने करवाया था[1] जिसे लक्षवर्मा[2] के नाम से भी जाना जाता था।[3] लक्ष्मण–मदिर के निर्माण काल को लगभग ६३०–६५० ई० के बीच निर्धारित किया जाता है[4] क्योकि ६५४ ई० के पूर्व यशोवर्मा की मृत्यु हो चुकी थी।[5] इस मदिर मे पूजा–अर्चना के सकेत भी ६५३–५४ ई० के लगभग प्राप्त होते है।[6] लक्ष्मण–मदिर के प्रदक्षिणापथ के चारो ओर, गर्भगृह एव जघा पर अनेक कृष्ण–लीला को द्योतित करने वाली मूर्तियॉ उत्कीर्ण मिलती है।[7] इनमे पूतना–वध, शकट–भग यमलार्जुन–उद्धार वत्सासुर–वध कालिय–मर्दन अरिष्टासुर–वध कुवलयापीड–वध चाणूर–युद्ध, कुब्जानुग्रह आदि का अकन विशेष महत्वपूर्ण है।[8] इसी प्रकार लक्ष्मण–मदिर के दाहिने तरफ भीतरी प्रदक्षिणापथ मे कृष्ण को एक सुन्दर एव प्रिय स्त्री के साथ वशीवादन करते हुए प्रदर्शित किया गया है।[9] उर्मिला अग्रवाल ने इस प्रिय स्त्री की पहचान राधा से की है।[10] इसमे युगल–आकृति को किरीट–मुकुट[11] धारण किये हुए दिखाया गया है।[12] कृष्ण के समीप खडी राधा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वह वेणु की मधुर ध्वनि को श्रवण करने मे तल्लीन है। राधा और कृष्ण दोनो को इसमे

---

१ देव कृष्ण पूर्वोद्धृत, पृ० ३८–३६

२ अग्रवाल उर्मिला पूर्वोद्धृत पृ० ११ लक्षवर्मा चदेल शासक धग का पिता था।

३ पूर्वोक्त वही पृ०

४ देव, कृष्ण पूर्वोद्धृत पृ० ३८–३६

५ पूर्वोक्त वही पृ०

६ पूर्वोक्त वही पृ०

७ अवस्थी रामाश्रय खजुराहो–शिल्प मे कृष्ण–लीला', सग्रहालय पुरातत्व पत्रिका पूर्वोद्धृत पृ० ६७ देव कृष्ण कृष्ण–लीला सीनस् इन द लक्ष्मण टेम्पुल खजुराहो ललित कला ७ १६६० पृ० ८२–८४ देसाई देवागना पूर्वोद्धृत

८ अवस्थी रामाश्रय पूर्वोद्धृत वही पृष्ठ, देव कृष्ण पूर्वोद्धृत देसाई देवागना पूर्वोद्धृत

६ अग्रवाल उर्मिला पूर्वोद्धृत पृ० ४०

१० पूर्वोक्त वही पृ०

११ पूर्वोक्त पृ० १६०–६१ – किरीट–मुकुट एक प्रकार सिर पर धारण करने वाला आभूषण है। यह विभिन्न प्रकार का होता हैं। यह सामान्यत पूर्ण शिरोभाग के साथ–साथ अर्द्धमस्तक क्षेत्र व कान को भी ढके रहता हैं।

१२ पूर्वोक्त पृ० ४०

बडे स्वाभाविकता एव सजीवता के साथ प्रस्तुत किया गया है। स्पष्ट है कि मध्य–भारत मे १०वी शती ई० के लगभग राधा कृष्ण का मूर्ति मे अकन होना प्रारम्भ हो गया था।

पूर्वी बगाल मे स्थित पहाडपुर[1] नामक स्थान से अनेक मूर्तिशिल्प प्राप्त हुए है। सर्वप्रथम १८०७ से १८१२ ई० के बीच मे पहाडपुर के खडहरो का उल्लेख बुकानन हैमिल्टन (Buchanan Hemilton) ने किया था।[2] इसके पश्चात् पुरातत्व विभाग द्वारा १९२५–२६ मे इस स्थल की खुदाई होने पर अनेक पुरावशेष प्रकाश मे आये। पहाडपुर के प्रमुख मदिर की दीवार से अनेक पाषाण–स्थापत्य एव मृण्फलक प्राप्त हुए है।[3] इसके अतिरिक्त भी कुछ छिट–पुट पाषाण–स्थापत्य के नमूने मदिर के तहखाने की दीवार से भी प्राप्त होते है।[4] पहाडपुर के प्रमुख मदिर का निर्माण–कार्य पालवशीय शासक धर्मपाल के समय प्रारम्भ हुआ, माना जाता है।[5] धर्मपाल ने ७७०–८१० ई० तक शासन किया।[6] अत इस मदिर का निर्माण–काल भी लगभग ८वी शती ई० के आस–पास निर्धारित किया जा सकता है।

पहाडपुर के मदिर मे ब्रह्मा, शिव, गणेश, यमुना, बलराम, इन्द्र, अग्नि, यम आदि देवी–देवता के साथ–साथ महाभारत एव रामायण के दृश्यो का भी उत्कीर्णन् व्यापक रूप से किया गया है। इसके अतिरिक्त यहॉ से कृष्ण–लीला सम्बन्धी अनेक कथानक

---

१ दासगुप्त चारूचद्र पहाडपुर एण्ड इटस मॉन्यूमेन्टस १९६१ पृ० १ – पहाडपुर राजशाही जिले (पूर्वी बगाल) के अन्तर्गत एक छोटा सा ग्राम हैं। यह जमालगज रेलवे स्टेशन से तीन- मील पश्चिम मे स्थित है।

२ पूर्वोक्त वही पृ०

३ पूर्वोक्त, वही पृ०

४ पूर्वोक्त वही पृ०

५ पूर्वोक्त, वही पृ०

६ पाण्डेय विमलचन्द्र, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सास्कृतिक इतिहास इलाहाबाद, १९८४ पृ० ३१०

भी प्राप्त होते है।[1] यहाँ से एक स्त्री–पुरुष के युगल–स्वरूप का भी फलक प्राप्त हुआ है।[2] यह शिल्प–स्थापत्य दक्षिण–पूर्व मे स्थित मदिर की दीवार पर उत्कीर्ण है। इसमे पुरुष को अपनी दाहिनी भुजा से स्त्री–आकृति को और स्त्री के बाये हाथ से पुरुष–आकृति को पकडे हुए दिखाया गया है।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनो आकृति प्रेमासक्त होकर आलिगनबद्ध मुद्रा मे है। इसमे उत्कीर्ण स्त्री–आकृति के शिरोभाग के पीछे आभामडल सा दिखाई पडता है और साथ ही इन युगल–आकृति के दोनो पैरो को त्रिभग–मुद्रा मे दिखाया गया है (देखिये चित्र–सख्या ६)। इसके प्रस्तुतीकरण के आधार पर इस मूर्तिशिल्प को सभवत राधा और कृष्ण के प्रेम–लीला से सम्बन्धित माना जा सकता है।[4]

ऐतिहासिक दृष्टि से पहाडपुर से प्राप्त राधा–कृष्ण की इस युगल–मूर्ति का काल–निर्धारण करना कठिन प्रतीत होता है। किन्तु इस सम्बन्ध मे *कपिल देव* ने अपनी पुस्तक[5] मे श्रीकुज गोविन्द गोस्वामी के मत का समर्थन करते हुए इसका समय छठी शताब्दी ई० के लगभग माना है। *रायकृष्णदास* ने भी पहाडपुर से प्राप्त कृष्ण–लीला सम्बन्धी मूर्तियो की विवेचना की है। इसमे विशेषकर राधाकृष्ण की प्रेमालाप–मुद्रा वाली मूर्तियो का अध्ययन करते समय इस युगल राधाकृष्ण मूर्ति का समय छठी शती ई० के आस–पास निर्धारित किया है।[6] इसके विपरीत अन्य विद्वानो ने राधा को परवर्तीकाल से जोडते हुए इस युगल मूर्ति की स्त्री को राधा न मानकर रूक्मिणी या सत्यभामा मानने का प्रयास किया है।[7] किन्तु यह मूर्तिशिल्प पहाडपुर के अनेक कृष्ण–लीला को द्योतित

---

१ दासगुप्त चारूचन्द्र पूर्वोद्धृत पृ० २४–२७
२ पूर्वोक्त पृ० २६ चित्रफलक (VIII, b)
३ पूर्वोक्त वही पृ०
४ पूर्वोक्त वही पृ०
५ पाण्डेय कपिलदेव थ्योरी ऑव इनकार्नेशन इन मैडिवल इडियन लिटरेचर एन इण्टरप्रटेशन वाराणसी १९६३ पृ० ५२६
६ दास रायकृष्ण भारतीय मूर्तिकला पृ० ११६
७ पाण्डेय कपिल देव, पूर्वोद्धृत पृ० ५२६

करने वाले मूर्तिशिल्पो के साथ प्राप्त हुआ है, अत इसे कृष्ण की प्रेम–लीला का अनुपम उदाहरण माना जा सकता है। वैसे कृष्ण की प्रेम–लीलाओ को उनकी बाल–लीलाओ का एक श्रृगारिक पक्ष मान सकते है। इस सम्बन्ध मे यह तथ्य उल्लेखनीय है कि जब कृष्ण की लीला–भूमि ब्रजभूमिमडल[1] थी तो उनकी इस लीलाओ मे अनेक गोप–गोपियो के साथ उनकी प्रिय गोपी[2] या प्रेयसी राधा ही हो सकती है, न कि रूक्मिणी या सत्यभामा। इस सम्बन्ध मे *माधवाचार्य शास्त्री*[3] ने अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि कृष्णावतार की विशेषता प्रेमावतार होने के कारण रूक्मिणी–कृष्ण होने मे नही है अपितु राधाकृष्ण होने मे है। अतएव मदिरो मे प्रेमा–भक्ति के पथिको ने (कृष्ण) वामाग मे अहैतुकी भक्ति की मुख्यावतार श्रीराधा को स्थान दिया है।[4] इसी तथ्य को दृष्टि मे रखते हुए कृष्ण की प्रेम–लीला विषयक मूर्तियो मे कृष्ण के साथ राधा के अकन को उचित ठहराया जाता है।

राधा–कृष्ण के इस युगल प्रेममूर्ति के सम्बन्ध मे एक अन्य तर्क इस प्रकार दिया जा सकता है। एक अप्रकाशित शोध ग्रथ[5] मे कृष्ण की अनेक रानियो मे आठ पटरानियो (रूक्मिणी, जाम्बवती, सत्यभामा मित्रवृदा, सत्या, कालिदी, भद्रा और लक्ष्मणा) का उल्लेख किया गया है, किन्तु राधा का उसमे कही उल्लेख नही हुआ है।[6] इससे स्पष्ट होता है कि कृष्ण की प्रमुख शक्ति–पुज के रूप मे राधा को सम्मानीय स्थान प्राप्त था[7] और उन्हे कृष्ण की प्रिया, आदि शक्ति एव आह्लादिनी शक्ति के रूप मे

---

१ मीतल प्रभुदयाल ब्रज की कलाओ का इतिहास, मथुरा १६७५, पृ० २४४–४५

२ भागवत पुराण १० ३० २४

३ शास्त्री माधवाचार्य राधा और कृष्ण, देहली पृ० ३२

४ पूर्वोक्त वही पृ०

५ दीक्षित, श्यामसुदर लाल कृष्णकाव्य मे भ्रमरगीत आगरा विश्वविद्यालय पृ० ७३, खन्ना, वन्दना पूर्वोद्धृत पृ० १६

६ खन्ना, वन्दना, पूर्वोद्धृत, वही पृ०

७ पूर्वोक्त वही पृ०

कृष्ण के वामाग मे सदैव से स्थान प्राप्त रहा है। **ब्रह्मवैवर्तपुराण**[1] मे तो राधा का अविर्भाव कृष्ण के बाये भाग से हुआ, उल्लिखित है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारणो से भी राधा के स्थान पर रूक्मणी या सत्यभामा को मानना तर्कसगत नही प्रतीत होता है क्योकि रूक्मणी और सत्यभामा का प्रादुर्भाव कृष्ण के साथ द्वारका मे द्वारकाधीश की पटरानी के रूप मे होता है तो उनका कृष्ण की बाललीला या प्रेमलीला (ब्रजमडल) मे कोई स्थान नही दिखाई देता। **हरिवशपुराण**[2] से भी ऐसा ही कुछ सकेत मिलता है। स्पष्ट है कि रूक्मणी व सत्यभामा की परिकल्पना कृष्ण की पटरानी (पत्नी) के रूप मे की जाती है न कि प्रेयसी रूप मे। पहाडपुर से प्राप्त इस मूर्तिशिल्प मे स्त्री–पुरुष के युगल स्वरूप को एक प्रेमी–प्रेमिका के रूप मे प्रदर्शित किया गया है। यदि इसमे उत्कीर्ण स्त्री रूक्मणी या सत्यभामा होती, तो शिल्पकार अवश्य इस युगल–मूर्ति को राजकीय–वेशभूषा मे अकित करता।

इस प्रकार पहाडपुर से प्राप्त इस युगल–मूर्तिशिल्प को राधाकृष्ण मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। इस मूर्ति–स्थापत्य का कलात्मक दृष्टि के साथ–साथ ऐतिहासिक व धार्मिक दृष्टि से भी महत्त्व है। *चिन्तामणि विनायक* वैद्य ने इस सम्बन्ध मे अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ऐसा लगता है कि छठी–सातवी शती ई० तक राधा–भक्ति का स्वतत्र रूप से यद्यपि उदय न हुआ हो किन्तु प्रेम–लक्षणा भक्ति

---

१ ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृतिखड ४८.४१ – कृष्णवामाशसभूता राधा रासेश्वरी पुरा
तस्याश्चाशाशकलया बभूवुर्देवयोजित ।

२ हरिवशपुराण द्वाचत्वारिंश सर्ग पृ० ५०७ –
एक बार नारदमुनि सत्यभामा का अहकार भग्न करने हेतु विदर्भ जनपद के कुण्डिनपुर नगर के राजा भीष्म की सर्वकलाओ से सम्पन्न रूक्मणी नामक कन्या को श्रीकृष्ण के लिए उपयुक्त श्रेष्ठवधू जानकर उस राज्य के राजमहल मे प्रवेश किया। जहाँ शब्दायमान भूषणो से युक्त विनय सहित रूक्मणी ने नारद को प्रणाम किया तब नारद ने उसे द्वारका के स्वामी तुम्हारी पति हो – ऐसा आर्शीवाद प्रदान किया (द्वारिकापतिपत्याप्त्या सोऽभ्यनन्दयदानताम्)।

के प्रचार हो जाने पर इतना स्पष्ट हो जाता है कि राधा का भक्ति–क्षेत्र मे प्रवेश अवश्य हो गया था।[1]

रायकृष्ण दास[2] प्रभृति विद्वान राधाकृष्ण की इस युगल मूर्ति का काल छठी शती ई० निर्धारित करते है, किन्तु पहाडपुर के प्रमुख मन्दिर का निर्माण पालवशीय शासक धर्मपाल (७७०–८१० ई०)[3] के शासनकाल मे माना जाता है। अत इस आधार पर पहाडपुर से प्राप्त मूर्ति–शिल्प का समय भी लगभग ८वी शती से लेकर ६वी शती ई० के बीच निर्धारित किया जा सकता है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि ७वी शताब्दी के लगभग प्रचलित तत्र–सम्प्रदाय का प्रभाव भारत मे पूर्व प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायो जैसे बौद्ध जैन शैव एव वैष्णव आदि पर भी पडा।[4] तत्रवाद मे नारी को शक्ति के रूप मे प्रतिष्ठा देने के कारण मातृदेवी की पूजा को विशेष बल दिया गया[5] इसके प्रभाव से वैष्णव धर्म भी अछूता नही रहा और इसमे कृष्ण के साथ उनकी शक्ति के रूप मे राधा की परिकल्पना की गई होगी। इसके साथ ही तत्कालीन बगाल मे पल्लवित वज्रयानी बौद्धो की श्रृगारी प्रवृत्ति ने भी पौराणिक धर्म को प्रभावित करने मे कुछ कम सहयोग नही दिया।[6] कृष्ण के इस श्रृगारी रूप से कला का क्षेत्र भी अप्रभावित नही रहा और परिणामस्वरूप राधाकृष्ण के युगल स्वरूप को कला मे प्रमुख स्थान प्रदान किया जाने लगा।

स्पष्ट है कि कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति राधा की एकाकी या कृष्ण के साथ युगल–रूप मे मूर्तिकला के अन्तर्गत जो विकास पूर्वमध्यकाल से पूर्व हुआ, वह सख्या मे

---

१ वैद्य चिन्तामणि विनायक हिस्ट्री ऑव मैडिवल हिन्दू इडिया खड III पृ० ४१५, स्नातक विजयेन्द्र राधावल्लभ सम्प्रदाय–सिद्धान्त और साहित्य दिल्ली पृ० १८२

२ दास रायकृष्ण पूर्वोद्धृत वही पृ०

३ पाण्डेय विमलचन्द्र पूर्वोद्धृत वही पृ०

४ शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत का सामती समाज और सस्कृति, नई दिल्ली १९९६ पृ० ३४

५ पूर्वोक्त, पृ० १८६

६ द्विवेदी, प्रेमशकर, गीतगोविन्द साहित्यिक एव कलागत अनुशीलन, खड I वाराणसी १९८८ पृ० २२

अत्यन्त कम व विवादास्पद है। वास्तव मे राधाकृष्ण से सम्बन्धित अधिकाशत मूर्तियॉ १२वी शती के आस–पास और उसके परवर्ती काल मे निर्मित की गई। इसका कारण यह माना जा सकता है कि धर्मोपासना के क्षेत्र मे राधा की प्रतिष्ठा बहुत बाद मे हुई होगी और जिसने न केवल मूर्ति–स्थापत्य को प्रभावित किया अपितु सम्पूर्ण उत्तरमध्ययुगीन चित्रकला को रोचकता एव वैविधता से युक्त वर्ण्य विषय प्रदान किया।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि मूर्तिशिल्प के क्षेत्र मे कृष्ण और राधा से सम्बन्धित जो मूर्तियॉ निर्मित हुई वे या तो अधिकाशत उनके वेणुवादन रूप से सम्बन्धित है या फिर वे गोवर्द्धनलीला वाले प्रसग से। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि ये दोनो प्रसग शिल्पियो के लिए विशेष आकर्षक का विषय रहा होगा। इसमे भी गोवर्द्धन–लीला वाला कथानक अधिक लोकप्रिय हुआ। कृष्ण के गोवर्द्धनधारी रूप का पुराणों[1] मे भी विशद् उल्लेख मिलता है। गोवर्द्धन लीला वाले कथानक से तत्कालीन ब्रजमडलीय समाज मे प्रचलित धार्मिक भावना एव उपासना–पद्धति पर भी प्रकाश पडता है। इसमे पूर्व प्रचलित वैदिक देवता इद्र की उपासना को कम महत्व प्रदान किया गया जबकि कृष्ण की पूजा–अर्चना को प्रमुखता प्रदान की गई है। इसका प्रमुख कारण था– कृष्ण का गोरक्षक होना।[2] इसके साथ ही साथ इद्रादि वैदिक देवताओ की उपासना–पद्धति मे किये गये यज्ञ–हवनादि का अधिक व्ययसाध्य होना भी था।[3] इन्ही कठिनाइयो को ध्यान मे रखते हुए तत्कालीन ब्रजमडलीय समाज ने इद्र के स्थान पर कृष्ण को अपना देवता स्वीकार करने मे निश्चित लाभ समझा।[4] कृष्ण ने तत्कालीन जन–तान्त्रिक समाज मे इन वैदिक देवताओ की उपासना के स्थान पर गो–पूजा

---

१ भागवतपुराण, १० २५, विष्णु पुराण ५ ११ १६

२ कोसबी डी०डी० प्राचीन भारत की सस्कृति और सभ्यता दिल्ली १९६० पृ० १५०–५१

३ पूर्वोक्त, वही, पृ०

४ पूर्वोक्त, वही पृ०

गोवर्द्धन पूजा के लिए उपयोगितावादी देवताओ की ओर ध्यान आकृष्ट किया।[1] अतएव उपासना के क्षेत्र मे उन्होने स्वय जिस पूजन–अर्चन पद्धति का प्रवर्तन किया[2]– वह गोवर्द्धन के नाम से लोकप्रिय हुई। यह गोवर्द्धन–पूजा उस भू–सम्पत्ति की उपासना का द्योतन करती है जिसमे पशुपालक–युग और कृषि–युग के चरमसाध्य अन्तर्भुक्त थे।[3] इससे यह स्पष्ट होता है कि पशुचारी जीवन का स्थान अब कृषि–जीवन ने लेना प्रारम्भ कर दिया था।[4]

स्पष्ट है कि धार्मिक महत्व के साथ–साथ आर्थिक महत्व की दृष्टि से भी यह कथानक (गोवर्द्धन–धारण) तत्कालीन समाज की स्पष्ट झॉकी प्रस्तुत करता है। इस प्रकार कृष्ण द्वारा इद्र को अपदस्थ करने की तो सुनिश्चित तिथि अप्राप्य होती है किन्तु इसके आकस्मिक परिवर्तन के कारण व गोवर्द्धन–पूजा की प्राचीनता के विषय मे स्पष्टत अनुमान लगाया जा सकता है। वर्तमान मे भारतीय परिवेश मे प्रचलित गोवर्द्धन–पूजा उसी का ज्वलन्त उदाहरण है।[5]

राधा–कृष्ण मूर्तियो के सम्बन्ध मे एक तथ्य यह भी पूर्णत स्पष्ट होता है कि कृष्ण का मूर्तिकला के क्षेत्र मे कही वशीवादन करते, या फिर गऊओ, बलराम, गोप–गोपियो एव गोवर्द्धन पर्वत धारण किये हुए अकन किया गया है और यदि उसमे किसी स्त्री आकृति को भी विशिष्टता प्रदान की गई हो तो उसे राधा मानना उचित प्रतीत होता है क्योकि ये सब विषय कृष्ण के बाल्यलीला को द्योतित करते है और राधा–कृष्ण द्वारा की गई प्रेमलीला को इसी बाललीला का एक महत्वपूर्ण श्रृगारिक पक्ष माना जा सकता है जिसका कार्य–क्षेत्र समस्त ब्रजमडल मे था। यदि इस स्त्री–आकृति

---

१ पाण्डेय कपिल देव पूर्वोद्धृत पृ० ६८४ जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० ७१
२ पाण्डेय कपिल देव, पूर्वोद्धृत वही पृ०
३ पूर्वोक्त वही, पृ०
४ कोसबी डी०डी०, पूर्वोद्धृत वही पृ०
५ प०, राकेश सम्पूर्ण व्रत और त्योहार नई दिल्ली, १६८६ पृ० १२२

को रूक्मिणी या सत्यभामा से जोडने का प्रयास भी किया जाय, तो ये पट्टरानी रूप मे कृष्ण के द्वारकाधीश रूप (राजकीय वेष) की ओर सकेत करती है और उनका कार्य क्षेत्र पश्चिमी भारत स्थित द्वारकापुरी मे था, न कि ब्रजभूमि।

स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय कला मे कृष्ण का अकन मूर्तियो व शिल्पखड मे शक–कुषाण काल से ही आरम्भ हो गया था किन्तु राधा के साथ कृष्ण का मूर्तिकला के क्षेत्र मे अकन पूर्वमध्यकाल (लगभग ८वी–१२वी शती) या उसके परवर्ती काल मे दिखाई पडता है। राधाकृष्ण के इस युगल स्वरूप ने न केवल मूर्तिकला सौन्दर्य मे अभिवृद्धि की, अपितु राधाकृष्ण सम्प्रदाय को एक सुनिश्चित आधार प्रदान करने मे भी महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया।

(ख) चित्रकला मे राधा और कृष्ण का रूपाकन

मानव के प्रगति–इतिहास के साथ ही चित्रकला का इतिहास प्रारम्भ होता है। चित्रण की प्रवृत्ति मनुष्य मे उस समय से है जब वह वनौकस था।[1] आदिम मनुष्य ने प्रथम बार जब अपने भावो को प्रकट करने की चेष्टाएँ की होगी और भाषा के अभाव मे जो कार्य किया होगा, वह कला के अन्तर्गत आता है।[2] दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि चित्रकला मानव मन के मनोभावो को व्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम है। मानव ने भी अपनी ललित भावनाओ के वशीभूत होकर अनेक अनगढ पत्थरो के औजारो तथा तूलिका की टेढी–मेढी रेखा–कृतियो के द्वारा गुफाओ और चट्टानो की भित्तियो पर अपनी भावनाओ को अकित किया। कला का महत्त्व इसी से स्वयसिद्ध है कि मानव ने उसे अपने विकास के आरम्भिक चरण मे अपनाया था।[3] भारत के विभिन्न भागो से प्राप्त हुए प्रागैतिहासिक काल के चित्र चित्रकला के प्राचीनतम प्रमाण माने गये है। इनमे प्रमुख पुरास्थल विल्लासरगम (मद्रास), वैलारी, वाईनाड के एडकल, हरनीहरन, विन्ध्याचल पर्वत की कैमूर श्रेणी, सिहनपुर मिर्जापुर, पचमढी, होशगाबाद, भोपाल क्षेत्र बॉदा ग्वालियर क्षेत्र बिहार आदि है।[4] भारतवर्ष के विभिन्न प्रागैतिहासिक चित्रो की खोज हो जाने पर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य मे कला की प्रवृत्ति शाश्वत है।

---

१ दास रायकृष्ण भारत की चित्रकला इलाहाबाद १९७४, पृ० १
२ चौहान सुरेन्द्र सिह राजस्थानी चित्रकला दिल्ली १९६४, पृ० ११
३ पुलिया, द्वारका प्रसाद, आदिम कला – कला त्रैमासिक अक जनवरी १९७५, पृ० १४
४ गैरोला वाचस्पति, भारतीय चित्रकला का सक्षिप्त इतिहास इलाहाबाद १९८५, पृ० २४

अब प्रश्न उठता है कि चित्रकला का क्या स्वरूप है? इस सम्बन्ध मे **अमरकोश** मे लिखा है– चीयते इति चित्रम्'।[1] अर्थात् चित्रकार के चयन की स्वाभाविक परिणति करने वाली अकृत्रिम षड्गमाला ही चित्र है। **शिल्परत्न** मे लिखा है– चित्र रति यत् चित्रम् अर्थात् जो चित्र आनन्दित करता है वही वस्तुत चित्र है। *अविनाश बहादुर वर्मा* ने चित्रकला के स्वरूप को सक्षेप मे व्याख्यायित करते हुए कहा है 'कि किसी समतल धरातल जैसे भित्ति, काष्ठ फलक आदि पर रग तथा रेखाओ की सहायता से लम्बाई चौडाई तथा ऊँचाई को अकित कर किसी रूप का आभास कराना चित्रकला है।[2] स्पष्ट है कि स्मृति, भावना, आनन्द आदि को मूर्त रूप देना तथा समुचित रगो के उपयोग एव छाया–प्रकाश आदि के कौशलपूर्ण प्रयोग द्वारा उसमे सजीवता भावाभिव्यक्ति और सादृश्य का बोध कराया जाना चित्रकला है।

भारतवर्ष मे चित्रकला की स्वस्थ परम्परा प्राचीन भित्तिचित्रो से आरम्भ होकर अनवरत विकसित होती रही है। भारतीय चित्रकला का सबसे प्राचीन विकसित रूप जो आज उपलब्ध है, वह जोगीमारा की गुफाओ मे दृष्टव्य होता है किन्तु इससे पहले कला का क्या स्वरूप था, इस विषय मे स्पष्टत कुछ कहना असभव है फिर भी यदि हम प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थो का अवलोकन करे तो ज्ञात होता है कि भारत मे वैदिक काल मे कला का चतुर्दिक विकास हो गया था। **ऋग्वेद** की एक ऋचा से चमडे पर चित्र अकित करने का प्रमाण प्राप्त होता है।[3] इसी प्रकार **ऋग्वेद** की कुछ अन्य ऋचाओ मे उषादेवी तथा रात्रिदेवी की आकृतियॉ अकित होने का वर्णन भी प्राप्त

---

१ अमरकोश, (अमरसिह कृत) तृतीयकाण्ड श्लोक न० १७८

२ वर्मा, अविनाश बहादुर भारतीय चित्रकला का इतिहास बरेली १९७७ पृ० ४

३ ऋग्वेद ११४५

होता है।[1] पालि साहित्य और सस्कृत–साहित्य के ग्रन्थो मे भी चित्रकला के विषय मे जो साक्ष्य प्राप्त होते है वे चित्रकला की विविध विधाओ तथा प्रकारो पर प्रकाश डालते है। **विनयपिटक महाउम्मग जातक** आदि बौद्ध ग्रन्थो तथा **रामायण, महाभारत** व *कालिदास* (प्रथम शती ई०)[2] के महाकाव्यो एव नाटको मे भी चित्रकला सम्बन्धी स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होते है। कुषाण काल मे भी गान्धार शैली के जन्म के साथ–साथ चित्रकला का भी विकसित रूप दिखाई देता है।[3] *वात्स्यायन* (३०० ई०) के **कामसूत्र** मे ६४ कलाओ के अन्तर्गत चित्रकला को प्रमुख स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त भारतीय चित्रकला की प्रौढ परम्परा को वर्णित करने वाला ग्रथ **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** के तीसरे खड मे विद्यमान **'चित्रसूत्र'** नामक प्रकरण इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है।[4]

मत्स्यपुराण, गरूडपुराण, अग्निपुराण पद्मपुराण हरिवशपुराण, स्कन्दपुराण आदि पुराणो मे भी चित्रकला सम्बन्धी प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। इन समस्त पुराणो के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक ग्रन्थो जैसे *बाणभट्ट* कृत **हर्षचरित, कादम्बरी** और **तिलकमजरी** मे तथा *भवभूति* रचित **उत्तररामचरितम्** मे चित्रकला के विषय मे विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। **मानसोल्लास, अपराजितपृच्छा** एव **समरागणसूत्रधार** जैसे वास्तुकलापरक ग्रन्थो मे भी चित्रकला सम्बन्धी तथ्यो पर प्रकाश पडता है।

स्पष्ट है कि प्राचीन राजवशो ने चित्रकला को सस्कृति का अनिवार्य अग समझकर न केवल उसकी रक्षा की, अपितु उसे उचित सवर्द्धन भी प्रदान किया। भारतीय चित्रकला की उपलब्धि का प्रामाणिक इतिहास गुफाचित्रो से प्राप्त होता है।

---

१ गैरोला वाचस्पति भारतीय चित्रकला इलाहाबाद १९६३ पृ० ८१–८२
२ चौहान सुरेन्द्र सिह पूर्वोद्धृत पृ० १५
३ पूर्वोक्त पृ० १६
४ पूर्वोक्त, पृ० १६

चित्रकला मे भित्ति चित्रण परम्परा का जो इतिहास कभी प्रारम्भ हुआ था, वह अजन्ता तक पहुॅचते–पहुॅचते अपने विकास और उन्नति के चरम बिन्दु पर पहुॅच गया। १०वी शती से पूर्व समस्त चित्र सामग्री गुफा चित्रो मे मिलने लगी और इन्ही गुफाचित्रो की प्रेरणा एव प्रभाव ने कालान्तर मे चित्रकला एव उनकी विभिन्न शैलियो के विकसित होने मे अहम् भूमिका निभाई। अत चित्रकला का इतना वृहद् इतिहास और ऐसा व्यापक क्षेत्र अन्य किसी देश मे नही पाया जाता है।

प्रस्तुत शोध–विषय की काल–सीमा ऐतिहासिक दृष्टि से १२–१३वी शताब्दी ई० तक विस्तृत है। किन्तु प्रस्तुत अध्याय मे इस काल–सीमा के बाद विकसित राजस्थानी–पहाडी चित्रकला के साक्ष्यो को राधाकृष्ण सम्प्रदाय के बहुआयामी स्वरूप को समझने के लिए स्वीकार किया गया है। तकनीकी दृष्टि से कालबाधित होने के बावजूद भी इस प्रयास की सार्थकता दो दृष्टियो से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रथमत, इसके द्वारा वह ऐतिहासिक प्रक्रिया स्पष्ट होती है जिसके अन्तर्गत पूर्वमध्यकाल मे स्वतत्र सम्प्रदाय के रूप मे राधाकृष्ण सम्प्रदाय का अस्तित्व सामने आया। द्वितीयत यह भी स्पष्ट होता है कि मध्यकालीन चित्रकला का जन्म शून्य मे नही हुआ था अपितु पूर्वमध्यकालीन विरासत की नीव पर इसका जन्म हुआ। इस प्रयास से यह भी उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है कि पूर्वमध्यकालीन राधाकृष्ण सम्प्रदाय ने मध्यकालीन कला–चेतना को कितनी गम्भीरता से प्रभावित किया था। इस प्रक्रिया मे राधाकृष्ण सम्प्रदाय का पूर्वमध्यकालीन और मध्यकालीन स्वरूप सातत्य की अन्तर्धारा से जुडा हुआ है। इस आधार पर यह स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकालीन राधाकृष्ण सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि इससे पहले की सास्कृतिक–धार्मिक चेतना ने निर्मित की रही होगी। राजस्थानी–पहाडी चित्रकला की विषयवस्तु निश्चित रूप से प्राचीन ग्रथो से सम्बन्धित है। **भागवतपुराण**, **गीतगोविन्द** आदि ऐसे प्रमुख ग्रन्थ उदाहरणस्वरूप है, जिसमे

कालान्तर मे विकसित होने वाली चित्रकला की आधार सामग्री पहले से ही विद्यमान थी। अन्तर मात्र इतना है कि उपयुक्त समय आने पर कालान्तर मे यह तूलिका के माध्यम से विभिन्न रगो मे दृश्य स्वरूप हो गई। बारहवी शताब्दी मे राजपूत शैली का विकास प्रारम्भ होता दिखाई पडता है और यही से साहित्य के आधार पर चित्रण की परम्परा को विशेष प्रोत्साहन मिला।

विश्व की चित्रकला मे मध्यकालीन भारतीय चित्रकला का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। इस काल मे विकसित होने वाली राजस्थानी मुगल एव पहाडी चित्रकला को उचित राजकीय सरक्षण भी प्राप्त हुआ। मुगलकालीन चित्रकला के अन्तर्गत निर्मित अधिकाशत चित्र प्राकृतिक सौन्दर्य, जीव–जन्तुओ, मुगल राजदरबार से सम्बन्धित एव युद्ध चित्रण सम्बन्धी प्राप्त होते है।[1] किन्तु राजस्थानी एव पहाडी चित्रकला के चित्रकारो ने अपने चित्रण का विषय ग्रामीण जनजीवन, प्रेमकथाओ, लोककथाओ धार्मिक रीति–रिवाजो आदि को बनाया।[2] अपने विषय–चित्रण के लिए चित्रकारो की प्रेरणा का स्रोत मध्ययुगीन वैष्णव भक्तिपरक ग्रन्थो (**भागवतपुराण**, **गीतगोविन्द** इत्यादि) और रीतिकालीन कृतियॉ (**बिहारी सतसई**, **कविप्रिया**, **रसिकप्रिया** आदि) रही है और इसी भावभूमि को लेकर समस्त मध्ययुगीन चित्र–शैलियो का विकास हुआ। चित्रकला पर रीतिकालीन काव्य के अत्यधिक प्रभाव को देखकर *रायकृष्णदास* ने कहा है "कि यह कहना असगत न होगा कि मध्यकालीन हिन्दी–साहित्य का अध्ययन बिना उस काल वाले चित्रो के अध्ययन के अधूरा और अपरिपक्व रहता है, क्योकि कवि लिखता था चित्रकार उसे अकित करता था। इतना ही नही, अनेक बार चित्रकार जो अकित करता

---

१ चौहान, सुरेन्द्र सिह, पूर्वोद्धृत, पृ० ३३–३५

२ पूर्वोक्त

था उसे कवि की वाणी कविता मे अनूदित करती थी। कविता के अनेक स्थल जिनके अर्थ विवादग्रस्त है, इन चित्रो की सहायता से स्पष्ट हो सकते है।[1]

भारत की मध्ययुगीन चित्रकला मे अवतारवादी चित्रकला को विशेष स्थान प्राप्त है। विष्णु के लोकप्रिय अवतार जैसे– राम कृष्ण तथा उनसे सम्बन्धित अनेक कथाओ प्रसगो एव लीलाओ को चित्रो के माध्यम से जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत करने का सदैव से कलाकारो का विशेष आग्रह रहा है। वैष्णव अवतार की तत्कालीन समाज मे कोई नवीन अवधारणा नही थी। इसकी प्राचीनता *वाल्मीकिकृत* **रामायण** एव **महाभारत** जैसे ग्रन्थो मे अतिव्यापक रूप से दिखाई देती है।[2] स्वर्णयुग कहलाने वाले गुप्तकाल मे चित्रकला का चरम उत्कर्ष दिखाई देता है और इस काल मे निर्मित हुए चित्रो मे भी अवतार–लीला के आस्वादन की प्रवृत्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[3] गुप्तकाल मे चित्रित अजन्ता की गुफाओ मे बुद्धावतार के दृश्य इसके ज्वलन्त उदाहरण है जिसमे बुद्ध के साथ–साथ अनेक बोधिसत्वो का भी अकन किया गया है।[4] विविध साहित्यिक ग्रन्थो के विवरण एव कलागत साक्ष्यो से स्पष्ट होता है कि गुप्तकाल तक अवतारवादी चित्रकला ने निश्चित रूप से अपना स्वरूप निर्धारित कर लिया था जिसका पूर्ण विकास मध्यकालीन अवतारवादी चित्रकला मे दिखाई पडता है।

मध्यकालीन भारतीय चित्रकला का प्रयोजन भी पूर्व मे विकसित चित्रकला की भॉति धर्म काम, अर्थ और मोक्ष की प्राप्ति करना था।[5] **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** मे इस तथ्य की स्पष्ट व्याख्या मिलती है–

---

१ दास, रायकृष्ण, भारतीय कला भवन का सूचीपत्र (निवेदन से)

२ पाण्डेय कपिलदेव थ्योरी ऑव इनकार्नेशन इन मैडिवल इडियन लिटरेचर एन इण्टरप्रटेशन वाराणसी १९६३ पृ० ६७६

३ पूर्वोक्त पृ० ६८६

४ पूर्वोक्त वही पृ०

५ पूर्वोक्त पृ० ६७८

कलाना प्रवर चित्र धर्मकामार्थमोक्षदम्।
मगल्य प्रथम चैतद्गृहे यत्र प्रतिष्ठितम।।[1]

अर्थात् चित्रकला सभी कलाओ मे श्रेष्ठ है। यह धर्म काम अर्थ और मोक्ष देने वाली है। जिस घर मे इसकी प्रतिष्ठा की जाती है वहॉ पहले ही मगल होता है। स्पष्ट है कि मध्यकालीन चित्रकला का दृष्टिकोण, दार्शनिक धारणा रसनिष्पत्ति विषय (Content) और रूप (Form) सभी को वैष्णव काव्यो के ही समानान्तर दिखाई पडता है। मध्यकालीन चित्रकला का मूल लक्ष्य न केवल रसानन्द की चरम सार्थकता एव परात्पर आदर्श को अभिव्यजित करना है अपितु प्रतीकोद्भावना तथा रमणीय बिम्बोद्भावना की समस्त सम्भावनाओ को परिपूर्ण करना भी रहा है।[2] यदि मध्ययुगीन अवतार–लीलापरक चित्रो का अध्ययन किया जायॅ, तो एक ओर उसमे उपास्यवादी उद्धार एव अनुग्रह की भावना दिखाई देती है और दूसरी ओर राधा और कृष्ण की प्रेमलीलाओ के चित्रण मे श्रृगार के रूपक के द्वारा भारतीय दर्शन मे निहित सत्य शिवम् सुन्दरम् की उदात्त दृष्टि को अभिव्यक्त करना है।

किसी भी देश का साहित्य एव कला अपने तत्कालीन हुए सामाजिक और धार्मिक परिवर्तनो के प्रभाव से अछूता नही रहता है। मध्यकालीन भारत मे भी बौद्ध धर्म की अवनति के पश्चात् हिन्दू धर्म की उन्नति के फलस्वरूप अनेक सामाजिक एव धार्मिक परिवर्तन हुए जिनका प्रभाव कला और साहित्य पर भी समान रूप से पडा। बारहवी शती ई० मे रामानुज द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय का भी समस्त भारत पर अमिट प्रभाव पडा।[3] रामानुज ने विष्णु के किसी भी रूप की आराधना करने पर बल दिया है।

---

१ विष्णुधर्मोत्तरपुराण तृतीय खड ४३ ३८

२ पाण्डेय कपिलदेव, पूर्वोद्धृत, पृ० ६७६

३ चौहान सुरेन्द्र सिह पूर्वोद्धृत, पृ० २६

कालान्तर मे इनके द्वारा चलाया गया सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है जिसका उद्देश्य परमात्मा के किसी रूप मे आत्मा को विलीन करना था। इस सम्प्रदाय मे विकसित कृष्ण–भक्ति शाखा राम–भक्ति शाखा से अधिक प्रसिद्ध हुई। वैष्णव धर्म का उदय इस दिशा मे क्रातिकारी चरण सिद्ध हुआ और इसने राधा–कृष्ण के भक्तिमय प्रेम की परम्परा को स्थापित करने मे अहम भूमिका निभाई। वल्लाभचार्य एव चैतन्य महाप्रभु जैसे सतो ने भी राधा और कृष्ण के पवित्र प्रेम को भक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित करके वैष्णव–सम्प्रदाय के गौरव का अभिवर्द्धन किया।[1] इस नये दृष्टिकोण ने धार्मिक–क्षेत्र मे जिस प्रकार उथल–पुथल मचाई उसका क्रातिकारी प्रभाव चित्रकला के क्षेत्र मे भी द्रष्टव्य होता है। इस प्रकार चित्रकला मे हुए इस परिवर्तन को भक्ति–आन्दोलन मे सहायक माना जा सकता है। परिणामस्वरूप तत्कालीन समाज मे सगुण–भक्ति के मुख्य उपास्य देव कृष्ण और उनकी लीला एव स्तुतियो के चित्रो की मॉग बढने लगी। साथ ही रीतिकालीन काव्य–ग्रन्थो की उन्नति एव लोकप्रियता ने भी उन छन्दो को चित्रित करने के लिए अभिप्रेरित किया। राधा–कृष्ण का चित्रण राजस्थानी चित्रकला और पहाडी चित्रकला मे जितना प्रचुर मात्रा मे प्राप्त होता है उतना सम्भवत अन्यत्र नही मिलता। राजस्थानी चित्रकला के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि यह एक विशुद्ध भारतीय शैली थी जिस पर भौगोलिक स्थिति एव स्थानीय वातावरण का विशेष प्रभाव पडा। राजस्थानी चित्रकारो ने राजसप्रधान और घोर यथार्थवाद से मुक्त आदर्शमय हिन्दू जीवन के शौर्य एव सौदर्य के समावेश को अपने चित्रण का उद्देश्य बनाया।[2] साथ ही इन चित्रकारो ने अपने आश्रयदाताओ के वैष्णवधर्मावलम्बी एव श्रृगारप्रिय होने की भावना को अभिपूरित करने वाले विषय को अपने चित्रण का आधार बनाया। ऐसे मानसिक उद्वेगो की पूर्ति के लिए कलाकारो ने

१ चौहान सुरेन्द्र सिह, पूर्वोद्धृत पृ० २६
२ पूर्वोक्त पृ० ३५

राधा और कृष्ण से सम्बन्धित लीलाओ को अपने चित्रण के विषय के लिए सबसे अधिक उपयुक्त समझा। इसी कारण राजस्थानी चित्रकला मे राधा और कृष्ण का चित्रण अत्यधिक मात्रा मे किया गया और ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर मे राजस्थानी चित्रकला के इन्ही तत्वो ने पहाडी चित्रकला को भी अनुप्रेरित किया होगा।

राजस्थानी चित्रकला

पन्द्रहवी शताब्दी का समय भारत मे सास्कृतिक पुनरूत्थान का युग रहा है। इस काल मे प्रत्येक क्षेत्र मे व्यापक विकास प्रारम्भ हुआ और सगीत भक्ति साहित्य कला के क्षेत्र मे नई चेतना जाग्रत हुई। इसी शताब्दी के प्रारम्भ मे गुजरात शैली जैन शैली अपभ्रश शैली आदि, जो पश्चिम भारतीय चित्रण–शैली के नाम से विख्यात है, उसकी परम्परा मे नया रूपरग और आकार लेकर राजस्थान प्रदेश मे जो कला प्रस्फुटित हुई उसे राजस्थानी चित्रकला के नाम से जाना जाता है।[1] *ए०के० कुमारस्वामी* ने राजस्थानी चित्रकला का सर्वप्रथम वैज्ञानिक विभाजन किया था।[2] *कुमारस्वामी* ने राजस्थानी चित्रकला को राजपूत चित्रकला के अन्य नाम से अभिहित किये जाने के सदर्भ मे अपना तर्क देते हुए कहा है कि राजपूत चित्रकला को समझने के लिये उसे दो भागो मे विभाजित किया जाना चाहिये– प्रथम– राजस्थानी अर्थात् राजपूताने से सम्बन्धित और द्वितीय– पहाडी अर्थात् जम्मू, कॉगडा, गढवाल, कसौली, चम्बा आदि पहाडी रियासतो से सम्बन्धित है। इन सभी रियासतो के राजपूत राजा होने के कारण इसे राजपूत चित्रकला के नाम से सम्बोधित किया जाता है। *ए०के० कुमारस्वामी* ने राजस्थानी चित्रकला के प्रसार केन्द्र का अध्ययन करते हुए बताया है कि इस कला का विस्तार बीकानेर से गुजरात की सीमा तक और जोधपुर से ग्वालियर और उज्जैन तक

---

१ नीरज, जयसिह, राजस्थानी चित्रकला जयपुर १९९४, पृ० १९

२ कुमारस्वामी, ए०के०, राजपूत पेटिंग्स लदन, १९१६ पृ० २–३

विस्तृत रहा है और इस प्रकार आम्बेर, ओरछा, उदयपुर, बीकानेर उज्जैन आदि राजस्थानी चित्रकला के प्रमुख एव प्रसिद्ध केन्द्र माने जाते है।[1] *रायकृष्ण दास* ने राजस्थानी चित्रकला को राजपूत चित्रकला कहे जाने पर आपत्ति व्यक्त करते हुए कहा है कि राजपूत जाति तो एक शासक जाति थी और एक ऐसी जाति का प्रभाव समष्टि रूप से कला पर पडना उचित नही प्रतीत होता, जिसके देश भर मे विभिन्न केन्द्र स्थापित हो।[2] *वाचस्पति गैरोला* ने राजपूत चित्रकला के अन्तर्गत राजस्थान की चित्रकला को स्वीकार किया है।[3]

स्पष्ट है कि राजपूत चित्रकला या राजस्थानी चित्रकला मे कोई अन्तर नही है। अग्रेजी शासनकाल मे इस प्रान्त को राजपूताना के नाम से सम्बोधित किया जाता था और स्वतत्रता पश्चात् इसे राजस्थान के नाम से जाना जाता है।[4] अत राजस्थानी चित्रकला से तात्पर्य उस समस्त चित्रकला से है जो राजस्थान मे पुष्पित–पल्लवित हुई है। इस प्रकार अजता कला के बाद एक कथित अवनति का क्रम जो चला था, वह उन्नति की ओर चल पडा। चित्रकला की उपर्युक्त श्रृखला मे अजता–एलोरा की परम्परा को निभाने वाली राजस्थानी चित्रकला का अपना निजी सास्कृतिक परिवेश और इतिहास है।

राजस्थान की चित्रकला के विराट परिवेश को भौगोलिक रीतिगत शैलीगत एव सरक्षण के आधार पर प्रमुख चित्र–शैलियो मे विभाजित किया गया है जिसमे अनेक शैलियाँ एव उपशैलियाँ विद्यमान है। राजस्थानी चित्रकला की चार प्रमुख शैलियाँ एव उनसे सम्बन्धित अन्य शैलियाँ और उपशैलियाँ निम्नलिखित है[5]–

---

१ कुमारस्वामी ए०के० पूर्वोद्धृत पृ० ३–४
२ दास रायकृष्ण पूर्वोद्धृत पृ० ५६
३ गैरोला वाचस्पति भारतीय चित्रकला, इलाहाबाद १९६३ पृ० १५३
४ नीरज, जयसिह पूर्वोद्धृत पृ० २०
५ नीरज जयसिह पूर्वोद्धृत पृ० २३–२४

१ मेवाड चित्र–शैली

इसके अन्तर्गत चावड–शैली उदयपुर शैली नाथद्वारा शैली देवगढ उपशैली सावर उपशैली शाहपुरा उपशैली बनेडा बागौर आदि ठिकाणो की कला सम्मिलित है।

२ मारवाड चित्र–शैली

इसमे जोधपुर शैली बीकानेर शैली किशनगढ शैली अजमेर शैली नागौर शैली सिरोही शैली जैसलमेर शैली तथा घाणेराव रियॉ भिणाय आदि ठिकाणा कला आती है।

३ हाडौती चित्र–शैली

बूँदी शैली, कोटा शैली, झालावाड उपशैली आदि का विवेचन इसके अन्तर्गत किया जाता है।

४ ढूँढाड चित्र–शैली

इसके अन्तर्गत आम्बेर शैली जयपुर शैली शेखावटी शैली अलवर शैली उणियारा उपशैली, झिलाय, ईसरदा शाहपुरा आदि ठिकाणा कला का विवेचन किया जाता है।

राजस्थानी चित्रकला की उपरोक्त सभी शाखाओ की शैलियो एव उपशैलियो मे हिन्दू–जीवन दर्शन की झलक के साथ–साथ अनेक ऐतिहासिक एव पौराणिक चित्र अकित किये गये जिनमे विशेषत राधा–कृष्ण की अनेकविध प्रणय लीलाओ– मान प्रवास सयोग–वियोग, व्रजवनिताओ और गोपियो की प्रेमाभिव्यक्ति के अनेक मनोरम एव नयनाभिराम दृश्य प्रस्तुत किये गये। राजस्थानी चित्रकला के मारवाड शाखा की किशनगढ शैली मे जिस प्रकार से राधाकृष्ण की छवि चित्रित की गई है वैसी अन्यत्र

शैलियो मे अनुपलब्ध है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे राजस्थानी चित्रकला मे राधा और कृष्ण स्वरूप के वर्णन के अन्तर्गत मारवाड चित्र–शैली की किशनगढ शैली को अध्ययन का विषय बनाया गया है जिसका सक्षेप मे वर्णन इस प्रकार है–

किशनगढ शैली

राजस्थानी चित्रकला मे मारवाड शाखा के अन्तर्गत किशनगढ शैली का महत्वपूर्ण स्थान है। किशनगढ चित्रशैली राजस्थान के एकीकरण से पूर्व स्थापित किशनगढ राज्य की देन है।[1] किशनगढ राज्य जयपुर और जोधपुर के बीच प्राय स्थित माना जाता है और स्वतत्र अस्तित्व की कामना ही किशनगढ की स्थापना का उद्‌देश्य था।[2] किशनगढ नगर गुन्डालियो झील के सुरम्य किनारे पर स्थित है। इस झील के किनारे अनेक शासको ने भव्य प्रासाद निर्मित कराये थे और जिसमे यहॉ के कला–वैभव की महत्वपूर्ण थाती सुरक्षित है।

किशनगढ राज्य की नीव जोधपुर राज्य के राठौरवशीय शासक उदयसिह के आठवे पुत्र किशन सिह ने सन् १६०६ मे डाली थी और इन्ही के नाम पर यह राज्य किशनगढ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[3] किशनगढ राज्य राजस्थान के मध्य मे २५°४६ और २६°५६' उत्तर अक्षाश तथा ७०°४०' व ७५°११ पूर्वी देशान्तर पर स्थित है।[4] मुगल सम्राट जहॉगीर ने किशनसिह को किशनगढ का स्वामी स्वीकार किया तथा उसे महाराजा की उपाधि प्रदान की।[5] इसके राज्य मे कलात्मक कार्यों को स्वस्थ सरक्षण प्राप्त हुआ और

---

१ चौहान सुरेन्द्र सिह पूर्वोद्धृत पृ० ६६
२ पूर्वोक्त
३ नीरज जयसिह पूर्वोद्धृत पृ० ४५
४ इम्पीरियल गजेटियर ऑव इडिया राजपूताना १६०८ पृ० २७१
५ चौहान सुरेन्द्र सिह पूर्वोद्धृत, पृ० ६६

जिसने आगे चलकर अपनी मौलिकता एव प्रभावशीलता के कारण किशनगढ शैली को एक स्वतत्र चित्र शैली के रूप मे स्थापित किया।

किशनसिह के पश्चात् १६१५ से १६४४ ई० तक उसके भाइयो ने राज्य किया[१] किन्तु उन्होने कोई विशेष प्रगति चित्रकला के क्षेत्र मे नही की। तत्पश्चात १६४४ ई० मे किशनसिह का भतीजा रूपसिह सिहासनारूढ हुआ जो वीर पराक्रमी होने के साथ–साथ विद्या प्रेमी व भक्त–हृदय भी था।[२] वास्तव मे किशनगढ शैली के जन्म या मूल मे वास्तविक हाथ रूपसिह का ही माना जाता है। राजा रूपसिह ने वल्लभकुल सम्प्रदाय की दीक्षा ली और राधा–कृष्ण के युगल स्वरूप की भक्ति को अपने जीवन और मोक्ष का साधन बनाया।[३] परिणामस्वरूप उसके सरक्षण मे स्थित चित्रकारो ने अपने राजा की प्रसन्नता के लिये राधा–माधव की लीलाओ से सम्बन्धित चित्रो को अपने चित्रण का प्रमुख विषय बनाया। रूपसिह के उपरात राजा मानसिह (१६५८–१७०६) उत्तराधिकारी पुत्र के रूप मे गद्दी पर बैठा।[४] वैष्णव भक्त होने के कारण तत्कालीन निर्मित चित्रो पर इसका प्रभाव पूर्ण रूप से दिखाई पडता है। राजा मानसिह के पश्चात् उसका पुत्र राजसिह सिहासनारूढ हुआ जो स्वय एक वीर योद्धा होने के साथ–साथ धर्मपरायण, कलारसिक एव कुशल चित्रकार था।[५] राजसिह के शासन काल मे किशनगढ चित्रशैली का अभूतपूर्व विकास हुआ। राजसिह के पश्चात् उसके पुत्र राजा *सावतसिह* ने कला एव काव्य मे विशेष रूचि दिखाई।[६] उसने कृष्ण–भक्ति से प्रभावित

---

१ चौहान सुरेन्द्र सिह पूर्वोद्धृत पृ० ६६

२ पूर्वोक्त

३ नीरज जयसिह पूर्वोद्धृत पृ० ४५

४ पूर्वोक्त

५ पूर्वोक्त पृ० ४६, शर्मा लीला, कृष्णलीला थीम इन इडियन मिनियेचर्स मेरठ १९८७ पृ० ७४

६ पूर्वोक्त, चौहान, सुरेन्द्र सिह पूर्वोद्धृत पृ० ६७

होकर **मनोरथ–मजरी, रसिक–रत्नावली, बिहार–चन्द्रिका** आदि ग्रथो की रचना करके काव्य–जगत के सौदर्य मे अभिवृद्धि की।[1] काव्य–जगत के साथ–साथ सावतसिह ने चित्रकला मे भी राधा और कृष्ण के माधुर्य रूप को चित्रित करके कृष्ण–भक्तिमय परम्परा को आगे बढाने मे सराहनीय योगदान प्रस्तुत किया। कला एव काव्य क्षेत्र मे अभूतपूर्व योगदान के कारण सावतसिह ने नागरीदास उपनाम से उस काल मे प्रसिद्धि पाई।[2]

नागरीदास (सावत सिह) के कलात्मक व्यक्तित्व ने किशनगढ शैली को एक नवीन मोड प्रदान किया जिसमे रूप–सौदर्य के प्रति अपूर्व जिज्ञासा के साथ ही साथ भावुक हृदय की भक्ति–भावना भी निहित थी। राजा सावतसिह के जीवन मे एक अत्यन्त सुन्दर प्रेयसी (सावत सिह की सौतेली मॉ के जनानेखाने की कुशल गायिका थी) जिसे वणी–ठणी (Smart and well-dressed) के नाम से जाना जाता था[3] का आगमन होता है। कालातर मे उक्त प्रेमी युगल किशनगढ के चित्रकारो के लिए प्रेरणा–स्रोत बन गये और कृष्ण और राधा के स्वरूप की परिकल्पना का आधार उन्हे बनाकर चित्रकारो ने अनेक चित्रो का आरेखन प्रारम्भ किया।[4] ऐसा कहा भी जाता है कि तत्कालीन चित्रो मे निर्मित राधा की मुखाकृति वणी–ठणी की मुखाकृति से साम्य रखती है। इस प्रकार किशनगढ की चित्रकला को कलात्मक उत्कर्ष पर पहॅुचाने का श्रेय यदि किसी व्यक्ति को है तो वह राजा सावतसिह को है जिनके द्वारा विकसित कला–परम्परा का अनुसरण परवर्ती राजाओ ने भी यथासभव किया।

---

१ डिकिन्सन एरिक किशनगढ पेन्टिग (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) पृ० १५ नीरज जयसिह पूर्वोद्धृत पृ० ४६

२ चौहान सुरेन्द्र सिह पूर्वोद्धृत पृ० ६७

३ चौहान, सुरेन्द्र सिह, पूर्वोद्धृत पृ० ६७ नीरज जयसिह पूर्वोद्धृत पृ० ४६

४ नीरज, जयसिह, पूर्वोद्धृत पृ० ४६

किशनगढ शैली मे यद्यपि राज–दरबार सम्बन्धी कुछ चित्रो का निर्माण अवश्य हुआ है, किन्तु वल्लभ–सम्प्रदाय की अमिट छाप पडने के कारण किशनगढ के राजा–महाराजाओ ने राधा–कृष्ण की प्रेमलीलाओ को अपने चित्रण का प्रमुख विषय बनाया जिसका प्रमुख आधार **भागवतपुराण गीतगोविन्द** नागरीदास के विभिन्न पद रीतिकालीन काव्य ग्रन्थ आदि थे। इसके अलावा तत्कालीन चित्रकारो ने शिकार उत्सव त्यौहारो जैसे होली, दीपावली आदि पर अनेक चित्र निर्मित किये। किशनगढ के प्रमुख चित्रकार नागरीदास, सीताराम, निहालचद्र, अमरू सूरजमल, लाडलीदास आदि थे।[१]

किशनगढ शैली के चित्रो को प्रकाश मे लाने को श्रेय *एरिक डिकिन्सन* (किशनगढ पेन्टिग, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) और *फैयाज अली* (भक्तवर नागरीदास अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) जैसे कला मर्मज्ञो को प्राप्त है।[२] राजस्थान के लघुचित्र शैलियो मे किशनगढ शैली ही एकमात्र ऐसी चित्रशैली है जो अपनी कुछ विशेषताओ के कारण न केवल अन्य शैलियो से भिन्न स्थान रखती है, अपितु उच्च आसन पर आरूढ होने का दावा रखती है।[३] किशनगढ शैली की विशेषताएँ एव उसमे राधाकृष्ण के स्वरूप का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है–

किशनगढ शैली मे बने पुरुषाकृति या कृष्ण को चित्रो मे लम्बा, छरहरा नीलछवि युक्त शरीर वाला दिखाया गया है। इस शैली मे निर्मित हुए चित्रो मे अधिकाशत कृष्ण को समुन्नत ललाट खजन नेत्र उत्तिष्ठ नासिका, मधुर स्मित से युक्त पतले अधर, नेत्रो से कान तक खिची भौहे, नुकीली चिबुक लम्बी ग्रीवा तथा जटाजूट की भॉति ऊपर उठी हुई मोतियो की लडियो से युक्त श्वेत, पीत या मूँगिया

---

१ नीरज जयसिह पूर्वोक्त पृ० ४६

२ पूर्वोक्त पृ० ४५

३ नीरज जयसिह पूर्वोद्धृत पृ० ४७

पगडी से युक्त प्रभावान मुखमडल वाले रूप मे चित्रित किया है।[1] यह किशनगढ शैली की निजी विशेषता है। जैसा (चित्र सख्या १०) से स्पष्ट होता है।

किशनगढ शैली मे चित्रकारो ने नारी–सम्बन्धी चित्रो के अकन मे अद्वितीय सफलता प्राप्त की है। इस शैली मे निर्मित राधा की मुखाकृति मे प्राय नारी सुलभ लावण्य को पूर्ण रूप से प्रदर्शित करने का चित्रकारो ने प्रयत्न किया है। जैसे– गौरवर्ण, कमान सी तनी हुई ऊँची भौंहे के ऊपर पीछे को ढलता हुआ मस्तक मोहक कज्जल से युक्त विशाल नेत्र सुए–सी लम्बी नासिका, आगे की ओर उठी हुई चिबुक चमेली की पखुडियो के सदृश ओष्ठ कपोलो को आच्छादित करती हुई अलके लम्बी ग्रीवा नाना प्रकार के आभूषणो से युक्त तथा लम्बी केशराशि पर पारदर्शी रगीन ओढनी से सुसज्जित मुखमडल नारी के काव्य–कल्पित रूप–सौन्दर्य को चरितार्थ करता प्रतीत होता है। निहालचद द्वारा लगभग १७५० ई० के निर्मित एक चित्र मे कृष्ण के सम्मुख बनी राधा मे कुछ ऐसी ही किशनगढ की विशेषताऍ दिखाई देती है।[2] देखिये (चित्र सख्या १०)।

किशनगढ शैली मे राधा के मुखमडल के साथ–साथ सम्पूर्ण शरीर का भी बहुत सूक्ष्मता एव निपुणता से चित्रण किया गया है।[3] राधा के रूप–सौदर्य का अन्यत्र भी वर्णन प्राप्त होता है। राष्ट्रीय सग्रहालय दिल्ली मे सग्रहीत एक चित्र मे कृष्ण द्वारा राधा को पुष्पो के भेट देने का चित्रण किया गया है।[4] इस चित्र मे कृष्ण बाये हाथ मे कमल का पुष्प लिये हुए है तथा दाये हाथ से पुष्पो का एक हार राधा को भेट दे रहे है। राधा कृष्ण के समक्ष सखी के साथ खडी हुई है। कृष्ण श्वेत पगडी एव सुनहले

---

१ रधावा एम०एस० एण्ड ग्रेलब्रेथ जॉन कीथ इडियन पेटिग द सीन थीम्स एण्ड लीजेण्ड १९६८, पृ० १०५, चित्रफलक २०

२ पूर्वोक्त

३ गैरोला, वाचस्पति, भारतीय चित्रकला इलाहाबाद १९६३ पृ० १६३

४ रधावा, एम०एस० एण्ड गेलब्रेथ जॉन कीथ पूर्वोद्धृत पृ० १०६–१०८ चित्रफलक २२

किनारीदार सफेद लहँगे के समान वस्त्र धारण किये हुए है। राधा भी सुन्दर वस्त्राभूषणो से सुसज्जित प्रतीत हो रही है। राधा की केशराशि को एक सर्पाकार चोटी के रूप मे दिखाया गया है। राधा और कृष्ण के सिर के पीछे चमकदार गोलाकृति मे आभामडल देदीप्यमान हो रहा है। इस चित्र मे सगमरमर का बरामदा दिखाया गया है जो चॉद के उज्जवल प्रकाश से उसकी सुन्दरता को और भी द्विगुणित कर रहा है। देखिये (चित्र सख्या ११)। इस चित्र का समय लगभग १७५५ ई० के आस–पास माना जाता है।

किशनगढ चित्रशैली की प्रमुख विशेषता प्राकृतिक–सौदर्य का यथावत अकन करना है। किशनगढ राज्य वैसे भी अपने प्राकृतिक परिवेश– झीलो पहाडो उपवनो एव विभिन्न पशु–पक्षियो से युक्त रहा है जिसके कारण वहॉ की चित्रकला मे भी उद्दीपन के रूप मे प्रकृति का चित्रण किया गया है। जैसे– दूर–दूर तक फैली झील झील मे केलि करते हुए हस, बत्तख, जलमुर्गाबी, सारस, बगुले व सुन्दर खिले हुए कमल व कुमुदिनी के फूल तथा तैरती हुई नौकाऍ, नौकाओ मे प्रेमालाप करते राधा–कृष्ण आदि का दृश्याकन किशनगढ की चित्रकला मे देखने को मिलता है।[१] एक इसी प्रकार का चित्र जिसमे कृष्ण को झील से कमल इकट्ठा करते हुए दिखाया गया है।[२] लगभग १७५५ ई० के इस चित्र मे चित्रकार ने सावतसिह की कविता के आधार अपने काल्पनिक विचार को प्रस्तुत किया है। इसमे राधा नीले रग का आकर्षक परिधान धारण किये हुए है तथा उनके समीप स्थित सेविकाऍ भी सुन्दर वेश–भूषा पहने हुए है। कृष्ण झील मे जलार्भक (Naiad) के समान तैर रहे है तथा उनके सिर पर लगा प्रभामडल सुनहले प्रकाश से देदीप्यमान हो रहा है। इस दृश्य मे प्राकृतिक छटा का पृष्ठभूमि मे बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। रात्रि का समय है तथा नीले आकाश मे उदित चद्रमा अपनी शोभा बिखेरता प्रतीत हो रहा है। समीप मे बहती झील अपने

१ नीरज जयसिह, पूर्वोद्धृत पृ० ४७

२ रधावा, एम०एस० एण्ड गेलब्रेथ, जॉन कीथ, पूर्वोद्धृत, पृ० १०८ चित्रफलक २३

ऑचल मे अनगिनत विकसित कमल को सॅजोये हुए है। इस प्रकार सम्पूर्ण चित्र एक रूपहला वातावरण को प्रस्तुत करता प्रतीत हो रहा है।

किशनगढ शैली की एक प्रमुख विशेषता उसका रगो का सयोजन भी है। राधाकृष्ण के सुकोमल भावो को चित्रित करने के लिए यहाँ के चित्रकारो ने अधिकाशत हल्के रगो का प्रयोग किया है। चित्रकारी मे प्रयोग आने वाले प्रमुख रग सफेद गुलाबी स्लेटी नीला व सिदूरी है। हाशिए मे गुलाबी एव हरे रगो का बाहुल्य किशनगढ शैली की स्वय की अनूठी देन मालूम होती है। प्रसिद्ध चित्रकार निहालचन्द्र द्वारा (१७३५–५० ई०) निर्मित ताम्बूल सेवा सम्बन्धी प्रकरण वाला दृश्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है[१] जो वर्तमान समय मे राष्ट्रीय सग्रहालय दिल्ली मे सुरक्षित है। इस चित्र मे निहालचद ने प्रकृति एव अन्य बिम्बो मे उपर्युक्त रगो को भरकर सजीवता लाने का अथक प्रयास किया है। इसमे राधा और कृष्ण को एक पर्यंक पर बैठे हुए दिखाया गया है जहॉ वे प्रेमवश एक–दूसरे से ताम्बूल का आदान–प्रदान कर रहे है। इस चित्र की पृष्ठभूमि मे चारो ओर शस्यश्यामला घास एव अगणित पुष्पो के वृक्ष शोभायमान हो रहे है तथा पीछे की ओर बहती हुई एक झील मे लाल रग की नौका को दूसरे किनारे की ओर जाते हुए दिखाया गया है। इस चित्र से निहालचद की चित्रशैली की परिपक्वता पर स्पष्ट प्रकाश पडता है।

किशनगढ के चित्रकारो न केवल प्राकृतिक दृश्यो का अपने चित्रो मे विशेष स्थान दिया है, अपितु भवन, अट्टालिकाओ, बुर्ज चहारदीवारी आदि वास्तु–शिल्प का अकन भी बडी सूक्ष्मता से किया है।[२] इसके साथ ही साथ राधा और कृष्ण की विभिन्न क्रीडाओ को विविध सामाजिक उत्सवो की झॉकी द्वारा समय–समय पर चित्रकारो ने

---

१ माथुर विजयकुमार, मारवेल्स ऑव किशनगढ पेन्टिग्स, नई दिल्ली २००० पृ० ४६–४७

२ नीरज जयसिह पूर्वोद्धृत, पृ० ४७

जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत करने का भी सतत प्रयास किया है। १७७० ई० के लगभग का निर्मित एक चित्र मे दीपावली उत्सव का बहुत मनोहारी अकन प्राप्त होता है।[1] इस चित्र को प्रसिद्ध चित्रकार निहालचद के पुत्र सीताराम ने बनाया है। यह वर्तमान मे राष्ट्रीय सग्रहालय दिल्ली मे सग्रहीत है। इस चित्र मे चित्रकार ने सावतसिह और उसकी प्रेयसी को राधा–कृष्ण के रूप मे चित्रित किया है। युगल प्रेमी को एक रत्नजटित सिहासन पर विराजमान दिखाया गया है। इस दृश्य मे दिखाये गये महल का छज्जा सगमरमर से निर्मित प्रतीत हो रहा है। राधा अपने बाये हाथ मे पारदर्शक ओढनी का किनारा पकडे हुए है, जो कि बाये तरफ के मुख को ढकता हुआ सा दिखाई पड रहा है तथा दूसरा दाया हाथ कृष्ण के कधो पर रखा हुआ है। जैसा कि (चित्र सख्या १२) को देखने से स्पष्ट होता है। राधा और कृष्ण सुन्दर चमकदार वस्त्राभूषणो को धारण किये हुए है तथा समीप ही स्थित सगीतज्ञो के एक समूह को उनका मनोविनोद करते हुए दिखाया गया है। उनमे दो फुलझडी (चिनगारी छोडने वाली छडी) को पकडे हुए है जिससे चमकदार प्रकाश बाहर की ओर उत्सर्जित होता प्रतीत हो रहा है। छज्जे की सीमा पर अग्नि प्रज्जवलित की गई है जो प्रकाश व धुँआ दोनो को छोड रही है। इस प्रकार सीताराम द्वारा निर्मित इस चित्र मे प्रकाश और अधकार का अद्भुत सामजस्य दिखाई पडता है, जो अन्यत्र दुर्लभ प्रतीत होता है।

स्पष्ट है कि किशनगढ शैली मे राधा और कृष्ण के स्वरूप को बहुविध रूपो मे अकित किया गया है जिसने मध्यकालीन चित्रकला मे एक विषय के रूप मे राधा कृष्ण सम्प्रदाय को विकसित करने का प्रयास किया है।

---

१ माथुर, विजयकुमार, पूर्वोद्धृत, पृ० ८४–८५

पहाडी चित्रकला

भारतीय उत्तरकालीन मध्ययुगीन चित्रो मे पहाडी चित्रकला का विशिष्ट स्थान रहा है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि भारतीय चित्रकला के विकास मे अजता राजस्थानी मुगल चित्रकला की भॉति पहाडी चित्रकला की भी अपनी विशिष्ट उपलब्धि रही है। यद्यपि भारतीय चित्रकला के उद्‌भव विकास और उसकी जीवन–प्रक्रिया मे पहाडी चित्रकला एक कडी मात्र है, फिर भी इसकी शाश्वत छवि ने हमारे सम्पूर्ण कलात्मक चेतना पर स्पष्ट छाप छोडी है।

पहाडी चित्रकला १६वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे पजाब और हिमालय की सुरम्य घाटियो मे उद्‌भूत हुई जो मुगल शैली से सर्वथा भिन्न, भावपूर्ण एव कलात्मक थी। यद्यपि पहाडी शैली ने अपने जीवनी तत्व राजस्थानी शैली से अवश्य ग्रहण किये, किन्तु उसने अपनी लोकप्रियता प्राप्त करने मे मुगलशैली के भाव–विधानो को अपनाया।[1] वास्तव मे पहाडी चित्रकला के निर्माण एव उत्थान मे मुगल दरबार के निराश्रित चित्रकारो का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मुगल सम्राट औरगजेब की चित्रकला के विरुद्ध अरूचि, उपेक्षा एव धर्मान्धता ने यहॉ के कलाकारो को एक नया आश्रय ढूँढने को बाध्य कर दिया और जिसका परिणाम १८वी शती मे पहाडी चित्रकला के रूप मे प्रस्फुटित हुआ।[2] कालातर मे १६वी शती के मध्य तक इसने नये आयाम स्थापित करके अपने को उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया। इस शैली मे निर्मित सभी चित्राकृतियो मे पहाडी आत्मा का सौदर्य, सुकुमार्य, वैभव एव यौवन मुखरित होता है।[3]

---

१ चौहान सुरेन्द्र सिह पूर्वोद्धृत पृ० ३७

२ दास रायकृष्ण पूर्वोद्धृत, पृ० ७५, चौहान सुरेन्द्र सिह पूर्वोद्धत पृ० ३७

३ कुमारस्वामी, ए०के० राजपूत पेटिग्स, लदन, १६१६ पृ० २१–२५, चौहान सुरेन्द्र सिह, पूर्वोद्धृत, पृ० ३७

पहाडी चित्रकला बहुत दिनो तक खोज के अभाव मे प्रकाश मे नही आई थी। *मैटकाफ महोदय* ने सर्वप्रथम कॉगडा मे इन चित्रो की खोज की ऐसा माना जाता है।[1] कालातर मे *ए०के० कुमारस्वामी* ने इस पर प्रकाश डाला और राजपूत पेटिग के माध्यम से कलाप्रेमियो का ध्यान पहाडी कला की ओर आकृष्ट किया।[2] इसके पश्चात् *एन०सी० मेहता, जे०सी० फ्रेच, डब्ल्यू०जी० आर्चर, एम०एस० रधावा* आदि कलामर्मज्ञो ने पहाडी चित्रकला व उसकी शैलियो पर विवेचनात्मक एव विश्लेषणात्मक अध्ययन–कार्य किया। रधावा द्वारा कागडा घाटी पर किये गये कार्य–सामग्री को सग्रहीत एव सकलित करके 'राष्ट्रीय सग्रहालय दिल्ली' ने **'कागडा पेटिग आफ द भागवत पुराण**, **'कागडा पेटिग आन लव'**, **'कागडा पेटिग आफ द गीतगोविन्द'**, **'कागडा रागमाला पेटिग्स'** शीर्षक पुस्तको मे प्रकाशित किया है।[3] इसके अतिरिक्त पहाडी चित्रकला अन्य विद्वानो के मध्य निरतर अध्ययन का विषय रही है जिससे समय–समय पर अनेक खोजपूर्ण सामग्री भी उपलब्ध हुई। डब्ल्यू जी० आर्चर[4] ने भी कागडा चित्रकला पर स्पष्ट प्रकाश डालते हुए उसे पहाडी चित्रकला मे महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

पहाडी शैली के चितेरो के चित्रण का विषय मे रखकर चित्रण का विषय अत्यन्त विस्तृत था। उन्होने स्वान्त सुखाय के दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर चित्रण पर विशेष बल दिया।[5] पहाडी चित्रण मे वैष्णव–धर्म विषयक तथ्यो की प्रधानता स्पष्टत दिखाई देती है जो वैष्णव भक्ति ग्रन्थो एव तत्कालीन रीतिकालीन काव्यो पर आधारित थे।[6] इसका कारण तत्कालीन समाज मे प्रचलित वैष्णव धर्म के प्रभाव को माना जा सकता

---

१ अग्रवाल श्यामबिहारी भारतीय चित्रकला का इतिहास (मध्यकालीन) इलाहाबाद १९९६ पृ० १४२–४३ वैद्य किशोरीलाल पहाडी चित्रकला दिल्ली १९६९ पृ० १४

२ कुमारस्वामी, ए०के० पूर्वोद्धत वैद्य किशोरीलाल पूर्वोद्धत पृ० १४–१५

३ अग्रवाल श्यामबिहारी पूर्वोद्धत पृ० १४२–४३

४ आर्चर, डब्ल्यू० जी० कागड़ा पेटिग लदन १९५२

५ चौहान सुरेन्द्र सिह पूर्वोद्धत, पृ० ३७

६ वैद्य, किशोरीलाल, पूर्वोद्धत, पृ० ३५–३७

है। *एम०एस० रधावा* ने धर्म की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा है 'कि हर महान कला धर्म से प्रेरणा ग्रहण करती है। कागडा कलाकार महज शिल्पकार ही नही थे वे ऐसे अनुप्रेरित व्यक्ति थे जो वास्तविक धार्मिक व कवित्वमय जीवन व्यतीत करते थे जिसे हम नैसर्गिक जीवन की सज्ञा दे सकते है। यह एक बडा तत्व है जिससे हमे मुगल चित्रकला के मुकाबले मे कागडा चित्रकला की उच्च–स्तरीय उपलब्धि का पता चलता है।[1] अत वैष्णव धर्म मे कृष्ण–भक्ति के विशेष प्रोत्साहन के कारण पहाडी चित्रकारो ने कृष्ण तथा उनकी लीलाओ से सम्बन्धित चित्र बनाये जिसमे राधा और कृष्ण से सम्बन्धी चित्र विशेष उल्लेखनीय है।

पहाडी चित्रकला की अनेक उपशैलियॉ भी है जिनमे कागडा, बसोहली, गुलेर चम्बा, जम्मू, मण्डी, टेहरी–गढवाल आदि प्रमुख है। इन सभी उपशैलियो की अपनी कुछ विशेषताएँ है जो अन्य दूसरी शैलियो से भिन्नता बनाये रखती है। पहाडी शैली के अन्तर्गत आने वाली लगभग सभी उपशैलियो मे राधाकृष्ण का नायिका एव नायक के रूप मे चित्राकन हुआ है। कागडा शैली मे राधाकृष्ण का अनूठा चित्रण प्राप्त होता है जिसका वर्णन सक्षेप रूप से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे किया गया है–

कागडा शैली

पश्चिमी हिमालय के अनेक राज्यो मे कागडा राज्य का प्रमुख स्थान है तथा इस राज्य मे विकसित होने वाली चित्रकला कागडा शैली की चित्रकला के नाम से विख्यात है। ऐसा माना जाता है कि कागडा राज्य मे कटोच वश शासन करते थे। कटोच वश अति प्राचीन वशो मे से एक था।[2] कागडा राज्य मे इस वश के अनेक शासको ने राज्य

---

१ रधावा एम०एस० कागडा पेटिंग्स ऑफ द भागवत पुराण दिल्ली, पृ० ३५

२ अग्रवाल श्यामबिहारी, पूर्वोद्धृत पृ० १५२, वैद्य किशोरीलाल पूर्वोद्धृत पृ० ७६

किया जिनमे पृथ्वीचद, पूरनचद, रूपचद घमडचद, ससारचद आदि शासक हुए।[1] इनमे ससारचद को छोडकर अन्य शासको ने कला के क्षेत्र मे विशेष रूचि न ली थी। ससारचद (१७७५)[2] वैष्णव–भक्ति मे विश्वास रखता था तथा वे कृष्ण का अनन्य उपासक भी था।[3] उसकी आस्था कागडा राज्य मे अनेक रूपो मे प्रतिफलित हुई जिसके अन्तर्गत अनेक मदिरो, भित्तिचित्रो एव लघुचित्रो का निर्माण हुआ। चित्रकला ने तो उनकी आस्था को जिस रूप मे अभिव्यक्ति प्रदान की है वह ससार–भर की कला–थाती बन चुकी है और अनेक सग्रहालयो मे सुरक्षित है।[4] ससारचद के समय इस शैली मे निर्मित चित्रो ने पहाडी चित्रकला को स्वर्ण–युग होने का गौरव प्रदान किया।[5]

महाराजा ससारचद के सरक्षण मे वैष्णव–धर्म से सिचित एव रीतिकालीन काव्य ग्रथो जैसे, भागवतपुराण, **गीतगोविन्द, बिहारी–सतसई, रसिकप्रिया कविप्रिया** आदि के प्रसगो को चितेरो ने अपने चित्रण का प्रमुख विषय बनाया[6] जिनमे राधाकृष्ण को नायिका और नायक के रूप मे प्रस्तुत करके श्रृगार के सयोग एव वियोग दोनो पक्षो को विशेष रूप से उभारा है। इस प्रकार तत्कालीन काव्य–जगत का कागडा शैली पर स्पष्ट एव पूर्ण प्रभाव देखा जा सकता है। *एम०एस० रन्धावा* ने इस सम्बन्ध मे स्पष्टत कहा है, "कि काव्य का चित्रकला मे रूपान्तर ही कागडा कला का अद्वितीय गुण है। काव्य की पीठिका मे प्रवाहमान लयात्मक रेखाओ ने कागडा कला को गेयता दी है। इसे सहज ही शान्त सगीत कहा जा सकता है।[7] कागडा शैली की विशेषताएँ एव उनमे राधाकृष्ण के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार से कर सकते है–

---

१ अग्रवाल श्यामबिहारी पूर्वोद्धृत पृ० १५२–५३
२ वैद्य किशोरीलाल, पूर्वोद्धृत पृ० ७६
३ वैद्य किशोरीलाल पूर्वोद्धृत पृ० ८५, अग्रवाल श्यामबिहारी पूर्वोद्धृत पृ० १५४
४ वैद्य, किशोरीलाल पूर्वोद्धृत पृ० ८५
५ पूर्वोक्त पृ० ८२–८३
६ पूर्वोक्त पृ० ३१
७ रधावा एम०एस०, कागडा पेटिग्स ऑफ भागवतपुराण दिल्ली पृ० ३५, अग्रवाल श्यामबिहारी पूर्वोद्धृत पृ० १५१

कागडा शैली मे निर्मित चित्र प्राय कागडा घाटी के प्राकृति–सौदर्य की छटा को दर्शाते हुए प्रतीत होते है।[1] इसमे चितेरो ने न केवल प्राकृतिक छटा की अपितु उसके प्रतिपल परिवर्तित रूपराशि को मानव उद्वेगो के साथ समन्वित करके अपूर्व कौशल का परिचय दिया है। एक इसी प्रकार प्रातकालीन प्राकृति सौदर्य का मनोरम वर्णन करने वाला चित्र राजा ध्रुवदेवचद लम्बागाव के सग्रह मे सग्रहीत है जिसका विषय–प्रकरण उपवन मे प्रेम–लीला से सम्बन्धित है।[2] यह प्रसग *सूरदास* की कविता से उद्धृत किया गया है। इसका समय लगभग १८१० ई० के आस–पास माना जाता है। इस चित्र मे प्रातकालीन शोभा को चित्रित किया गया है। इस चित्र मे सूर्य अपनी अरूणिम–लालिमा लिये उदय होता दिखाया गया है तथा पक्षीगण मधुर कलरव करते इधर–उधर विचरण कर रहे है। कुछ खिले व अधखिले कमलो से युक्त झील अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो रही है। इसमे सगमरमर से निर्मित मडप को दोनो ओर वृक्षो के झुड से घिरा हुआ दिखाया गया है। नायक श्रीकृष्ण एव नायिका राधा केलि–स्थल से उठकर कमलदलो से भरे सरोवर के निकट एक–दूसरे मे अनुरक्त होकर भ्रमण कर रहे है। जैसा (चित्र सख्या १३) से स्पष्ट होता है। वृक्ष पर लिपटी लता–बेलि एव पक्षियो के युग्म सयोग श्रृगार के वातावरण को प्रस्तुत करने मे सहायक सिद्ध हो रहे है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्पूर्ण चित्र मे प्रातकाल के सौदर्य को प्रस्तुत करने मे चित्रकारो ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है।

कागडा शैली के अधिकाशत चित्रो मे अनूठी वेशभूषा दिखाई गई है। नारी सम्बन्धी आकृतियो को लहॅगा कचुकी एव पारदर्शी ओढनी धारण किये हुए दिखाया है तथा पुरुषो को मुगल परिधानो से प्रभावित कलगीयुक्त पगडी, जामा, चूडीदार

---

१ अग्रवाल, श्यामबिहारी पूर्वोद्धृत, पृ० १५५–५६

२ रधावा एम०एस० कागडा पेटिंग्स ऑन लव, नेशनल म्यूजियम दिल्ली १९६२ पृ० १८६ चित्रफलक २०

पायजामा कधे पर लटकता पटका, कमरफेट आदि को पहनावे के रूप मे दिखाया गया है। राधा और कृष्ण से सम्बन्धित चित्रो मे अधिकाशत कृष्ण को पीताम्बर पहने एव मोर–मुकुट धारण किये हुए दिखाया गया है तथा राधा को लहँगा चोली व पारदर्शी दुपट्टा पहने हुए दर्शाया गया है। इसका ज्वलन्त उदाहरण लीलाहाव (L1la-Hava) वाले दृश्य मे दृष्टिगत होता है जिसमे राधा और कृष्ण एक–दूसरे के वस्त्रो को धारण किये हुए है।[१] लीलाहाव[२] मे कृष्ण और राधा की अनोखी छवि दिखाई पडती है। इस दृश्य मे राधा द्वारा कृष्ण का पीताम्बर, श्वेत पुष्पो का हार और मोर–मुकुट को धारण किये हुए दिखाया गया है तथा कृष्ण को राधा का लहँगा चोली एव दुपट्टा (ओढनी) को प्रीतिवश धारण किये हुए दिखाया है। कृष्ण ने अपने मुख को शानदार घूँघट से ढक रखा है। राधा अपने हाथ मे कमल की कली को पकडे हुए है और वह दोनो शानदार ढग से धीमी गति से हरित दूर्वा पर भ्रमण करते हुए प्रतीत हो रहे है। समीप ही मे बहती हुई झील मे अविकसित कमलो की पक्तियॉ शोभायमान हो रही है। आकाश मे बादलो के बीच अर्द्धचन्द्र अपनी शोभा बिखेर रहा है। इसके साथ ही साथ वृक्षो पर आच्छादित पुष्पो की झूलती लताऍ ऐसी प्रतीत हो रही है, जैसे मानो कोई श्रेष्ठ वर (दूल्हा) अपने सिर पर भव्य पुष्पो का सेहरा (मुकुट) धारण करके मन्दगति से अपने कदम को आगे की ओर बढा रहा हो। इस प्रसिद्ध चित्र को राजा ससारचद के सरक्षण मे १७७५–१८२३ ई० के बीच लगभग निर्मित माना जाता है जो वर्तमान मे लम्बागाव मे सग्रहीत है। (देखिये चित्रसख्या, १४)।

---

१ रधावा एम०एस० द कृष्ण लीजेण्ड इन पहाडी पेटिग, ललितकला अकादमी नई दिल्ली १९५६ चित्रफलक १०

२ रधावा एम०एस०, कागडा पेटिग्स ऑन लव पूर्वोद्धृत पृ० ५२ – लीलाहाव से तात्पर्य नायक और नायिका द्वारा परस्पर प्रेमवश के वशीभूत होकर किये जाने वाली लीलाओ से हैं जिसमे दोनो एक ही प्रकार के आनन्द का अनुभव करते हैं।

कागडा शैली मे निर्मित चित्रो मे षटऋतु एव बारहमासा को प्रकृति के उद्दीपन रूप मे अकित करने मे कलाकारो ने विशेष सफलता प्राप्त की है।[1] एक इसी प्रकार का चित्र राजा ध्रुवदेवचद के लम्बागाव के सग्रह से प्राप्त होता है जो *केशवदास* की **कविप्रिया** मे वर्णित छन्दो पर आधारित है।[2] इस चित्र मे श्रावण–मास की प्राकृतिक छटा के आनन्द का लाभ उठाते हुए राधा और कृष्ण को दिखलाया है। इस चित्र की पृष्ठभूमि मे शस्य–श्यामला घास एव काले–काले घनो को मडराते हुए दिखाया गया है। पर्वत शिखर पर बैठे मयूर को प्रतिध्वनि करते हुए इस प्रकार चित्रित किया गया है जैसे वह वर्षा–आगमन की प्रसन्नता को व्यक्त कर रहा हो। इस चित्र का निर्माण–काल १७६० ई० के आस–पास का माना जाता है। एक अन्य इसी प्रकार का चित्र ध्रुवदेवचद के लम्बागाव मे सग्रहीत है जिसमे नायक–नायिका को कृष्ण और राधा का स्वरूप प्रदान करके मधुमास (चैत्र) कालीन प्राकृतिक–सौदर्य को चित्रित किया गया है।[3] इसमे नायिका (राधा) नायक (कृष्ण) को मधुमास की विशेषताओ को बताकर घर से बाहर (परदेश) जाने से मना करती है। यह चित्र भी *केशवदास* रचित **कविप्रिया** के आधार पर निर्मित किया गया है। इसमे कृष्ण को पीली पगडी और जामा एव पटका धारण किये हुए दिखाया गया है। तथा राधा को सुनहला लहँगा तथा गहरे नारगी रग की ओढनी पहने दिखाया है।नायिका (राधा) की हस्त मुद्राये स्पष्टत उसे बाहर न जाने का सकेत प्रदान करती प्रतीत हो रही है। समीप ही रग–बिरगे पुष्पो एव वृक्षो की पक्तियॉ सुसज्जित हो रही है जिन पर बैठे पक्षीगण कलरव करते हुए दिखाई पड रहे है। कागडा कलाकारो ने इस सम्पूर्ण चित्र मे प्रकृति के अनुपम एव मोहक दृश्य को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और साथ ही नायिका का नायक के प्रति उत्कृष्ट प्रेम

---

१ अग्रवाल श्यामबिहारी पूर्वोद्धृत पृ० १५५–५६

२ रधावा एम०एस०, कागडा पेटिग्स ऑन लव पूर्वोद्धृत पृ० १६० चित्रफलक XXII

३ रधावा एम०एस०, कागडा पेटिग्स ऑन लव नेशनल म्यूजियम नई दिल्ली १९६२ पृ० १८८ **चित्रफलक XXI**

एव गहन समर्पण की भावना को अभिव्यक्त करने मे भी चित्रकार ने सिद्धहस्तता प्राप्त की। (देखिये चित्रसख्या–१५)।

कागडा शैली के अन्तर्गत बने चित्रो को कागज (सियालकोटी) पर निर्मित किया गया है। चित्रो के निर्माण मे प्रयुक्त होने वाला कागज मशीनी कागज की तरह चिकना एव सफेद न होकर कुछ मटियाले रग का होता था। इस शैली मे बनाये जाने वाले चित्रो की अपनी एक अनूठी विधा थी। सर्वप्रथम कागज पर लाल रग से तूलिका की सहायता लेकर विषय का रेखाकन किया जाता था और तत्पश्चात् कागज पर श्वेत रग का हल्का लेप चढाकर घटाई द्वारा चिकना बना लिया जाता था और पुन भूरे या काले रग से रेखाएँ बना ली जाती थी। इस प्रकार एक स्पष्ट रेखाचित्र उभरकर सामने आ जाता था जिसमे लाल पीला, नीला, काला आदि रगो के साथ–साथ अनेक मिश्रित रगो जैसे गुलाबी, बैगनी, हल्का हरा, हल्का नीला आदि रगो का अद्भुत सयोजन करके चित्रकार जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत करता था। चित्रो मे ओजस्विता बढाने के उद्देश्य से सुनहले एव रूपहले रगो का प्रयोग भी बडी कुशलता से किया गया है।[१] कागडा शैली मे निर्मित अधिकाशत चित्रो को चारो ओर से एक हाशिये से घेरा जाता था जिसमे सरल आलेखन भी बनाये जाते थे। स्पष्टत कागडा शैली अपने चित्र निर्माण की तकनीक मे वैशिष्ट्य को प्राप्त थी।

कागडा–शैली मे चित्रित मानवाकृतियाँ अति सुन्दर, आकर्षक, लावण्यमयी एव मनोहारी प्रतीत होती है। चित्रकारो ने इन आकृतियो के निर्माण मे यथोचित गोलाई एव सुडौलता का विशेष ध्यान रखा है। नारी–सौदर्य के अन्तर्गत मुख–मडल अग–प्रत्यग की भाव–भगिमा एव उनकी हस्त–मुद्राओ के साथ–साथ लज्जा, यौवन के आवेग एव

---

१ वैद्य किशोरीलाल पूर्वोद्धृत पृ० ४१–४२

अन्य विभिन्न मनस्थितियो के चित्रण मे कलाकार ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है।[1] ठीक इसी प्रकार कागडा शैली मे मानव भावना के अनुकूल पशु–पक्षियो का भी चित्राकन यथास्थान हुआ है जैसे– बगुला, सारस, मोर के साथ–साथ कृष्ण सम्बन्धी अनेक लीलाओ मे गायो को हृष्ट–पुष्ट एव उनको विविध मुद्राओ मे अकित करने का चित्रकारो का विशेष आग्रह रहा है।

स्पष्ट है कि कागडा चित्रकला अपनी विभिन्न विशेषताओ के कारण पहाडी चित्रकला मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसमे चाहे रेखाओ का प्रवाह हो अथवा रगो का आयोजन या फिर आकृति–अकन हो अथवा वास्तु और प्रकृति का चित्रण सभी मे लयात्मकता, सामजस्य एव सतुलन का जो मापदण्ड दिखाई देता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसके साथ ही कागडा चित्रकला मे राधा और कृष्ण के बहुविध रूपो के सुविकसित होने के लिए एक स्वतन्त्र एव उपयुक्त आधार भी प्राप्त होता दिखाई पडता है।

निष्कर्षत यह स्पष्ट होता है कि मध्यकाल मे विकसित होने वाली चित्रकला मे राजस्थानी चित्रकला हो अथवा पहाडी चित्रकला मे दोनो मे राधाकृष्ण का जिस प्रकार से रूपाकन हुआ, वह अवर्णनीय है। इतना स्पष्ट रूप से अवश्य कहा जा सकता है कि मध्यकाल मे विकसित चित्रकला को जो विषय–वस्तु विरासत मे प्राप्त हुई, वह पहले से ही पूर्वमध्यकाल मे विद्यमान थी। इस प्रकार मध्यकालीन चित्रकला मे राधा कृष्ण सम्प्रदाय विकासात्मक स्वरूप को नवीन आयाम प्राप्त हुआ जिसने न केवल भारतीय चित्रकला को गौरवान्वित किया अपितु भारतीय सस्कृति के विविध क्षेत्रो को भी प्रभावित किया।

---

१ वैद्य, किशोरी लाल पूर्वोद्धृत, पृ० ५०

(ग) प्रतिमा लक्षण राधा और कृष्ण

प्रतिमा लक्षण

प्रतिमा का अर्थ सामान्यत प्रतिरूप से लिया जाता है और इसी भाव के कारण इसके प्रतिकृति, बिम्ब आदि भी शब्द प्राप्त होते है। *पाणिनी* ने 'इवे प्रतिकृतौ' मे प्रतिकृति शब्द का प्रयोग साम्य आकृति के लिए किया है।[1] ***शुक्रनीति*** मे प्रतिमा के लिए 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] कालान्तर मे प्रतिमा के लिए अर्चा वपु तनु, विग्रह, रूप, बेर आदि अनेक शब्दो का प्रयोग उसके रूप, आकार–प्रकार को स्पष्ट करने के लिए होने लगा।[3] स्पष्ट है कि ये शब्द सम्मिलित रूप से प्रतिमा मे निहित विचारो को द्योतित करते है। प्राचीनकाल से हिन्दुओ का भी ऐसा विश्वास रहा है कि प्रतिमा सर्वशक्तिमान परमात्मा की छाया या रूप है।[4] इसके विपरीत योगियो मनीषियो ने ईश्वर को निर्गुण रूप माना है, अर्थात् जिसका कोई रूप, रग, आकार–प्रकार न देखा गया हो। किन्तु यह भावना सर्वसाधारण को न तो बोधगम्य हो सकती थी और न उसे वास्तविक सतुष्टि पहुँचा सकती थी। अत ईश्वर के सगुणोपासक रूप को प्रतिमा (ईश्वर के प्रतिबिम्ब या रूप) के माध्यम से सरल साध्य माना गया और इस प्रकार प्रतिमा का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध जुड गया।

---

१ पाणिनी अष्टाध्यायी, ५ ३ ६६

२ शुक्रनीति ४ ४ ३६ – अपि श्रेयस्कर नृणा देवबिम्बमलक्षणम्।

३ मिश्र इन्दुमती प्रतिमा विज्ञान भोपाल १९८७ पृ० ४६

४ मालवीय बद्रीनाथ श्रीविष्णुधर्मोत्तर मे मूर्तिकला इलाहाबाद स० २०१७ पृ० २

ईश्वर के साकार स्वरूप को कलाकारो ने कालान्तर मे विभिन्न प्रतिमाओ का रूप प्रदान किया। इन दैवीय प्रतिमाओ मे उनके रूप, वर्ण, मुद्राओ आयुधो आदि के आधार पर स्वरूपगत भिन्नता भी दिखाई पडती है और यही भिन्नता प्रत्येक देवी–देवता का प्रतिमा–लक्षण कहलाने लगा। इस प्रकार प्रतिमा–लक्षण से तात्पर्य प्रतिमा के यथार्थ मे दिये गये वर्णन के अनुसार कार्य करना।[१]

कृष्ण–प्रतिमा लक्षण

हिन्दू धर्म मे त्रिदेवो एव त्रिमूर्ति परिकल्पना के अन्तर्गत ब्रह्मा विष्णु एव महेश को प्रमुख स्थान प्राप्त है।[२] विष्णु ही सृष्टा रूप मे ब्रह्मा, पालक रूप मे विष्णु और सहारक रूप मे शिव है।[३] विष्णु का एक सर्वप्रमुख रूप वासुदेव है और इसी मानवी वासुदेव को द्वापर मे पूर्णावतार, कृष्ण रूप कहा गया है।[४] इस प्रकार वासुदेव का कृष्ण के साथ एकीकरण स्थापित किया जाने लगा और वह वासुदेव–कृष्ण कहलाने लगे। विष्णु के चतुर्व्यूह रूप मे वासुदेव का उल्लेख सकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरूद्ध के साथ हुआ है।[५] **भागवतपुराण**[६] मे भी वासुदेव के मानवी रूप कृष्ण को चतुर्व्यूह के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। स्पष्ट है, कि प्रारम्भ मे अधिकाशत कृष्ण सम्बन्धित जो प्रतिमाऍ निर्मित हुई, वह पूर्णत वासुदेव (विष्णु) के प्रतिमा लक्षण से प्रभावित थी। अत कृष्ण प्रतिमा–लक्षण के अन्तर्गत वासुदेव प्रतिमा लक्षण का अध्ययन भी आवश्यक प्रतीत होता है।

---

१ शाह प्रियाबाला (स०) विष्णुधर्मोत्तर पुराणे तृतीय खण्ड भाग II बडौदा १९६१ पृ० १३८

२ मिश्र इदुमती पूर्वोद्धृत पृ० १०२

३ विष्णु पुराण १२६६

४ मिश्र इदुमती, पूर्वोद्धृत, पृ० ११६

५ महाभारत, शातिपर्व, ३३६ ४०–४२

६ भागवतपुराण, १० १६ ४५ – नम कृष्णाय समाय वासुदेवसुताय च।
प्रद्यम्नायानिरूद्धाय सात्वता पतये नम ।।

श्रीमद्भागवतपुराण से पता चलता है कि प्रत्येक युग मे श्रीविष्णु ने अपना रूप एव वर्ण परिवर्तित किया था। जैसे–सतयुग मे श्वेत वर्ण एव कृष्णमृगचर्म व यज्ञोपवीत धारण किये[1] त्रेतायुग मे लालवर्ण एव भुजाओ मे स्रुक, स्रुवा आदि यज्ञ–पात्रो को धारण किये[2], तथा द्वापरयुग मे पीताम्बर एव भुजाओ मे शख चक्र गदा जैसे आयुधो को धारण किये हुए वर्णित किया गया है।[3] स्पष्ट है कि विष्णु ने अपने अनेक रूप एव अनेक नाम धारण किये। वासुदेव का विष्णु के सहस्र नामो मे उल्लेख प्राप्त होता है।[4]

विष्णुधर्मोत्तरपुराण मे वासुदेव को जल से भरे हुए मेघ के समान श्याम (नीला) वर्ण, सुन्दर आभूषणो से सुशोभित एव चतुर्भुजी रूप कहा है।[5] वह कानो मे कुण्डल हाथो मे अगद तथा केयूर, गले मे सुन्दर वनमाला, वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि एव सिर पर किरीट–मुकुट धारण किये हुए है।[6] इस पुराण मे वासुदेव की प्रतिमा मे कटि प्रदेश से नीचे वस्त्र घुटनो तक लम्बा एव यज्ञोपवीत को नाभि प्रदेश मे फैला तथा वनमाला को घुटनो तक लम्बी होने का वर्णन प्राप्त होता है।[7] इसके अतिरिक्त वासुदेव के ऊपरी दाहिने हाथ मे खिला हुआ कमल और बाये हाथ मे शख तथा नीचे का दाया हाथ स्त्री रूपी पृथ्वी के सिर पर रखा होना चाहिए तथा बाया हाथ मे चक्र धारण किये होना चाहिए।[8] **अग्निपुराण** मे दाहिने ओर के हाथो मे क्रमश ऊपर शख एव नीचे गदा धारण किये हुए बताया है और कहा है कि यह वासुदेव–श्रीकृष्ण का चिन्ह है, जो उन्ही की प्रतिमा मे रहना चाहिए।[9] इसी प्रकार **अपराजितपृच्छा** मे वासुदेव–कृष्ण को गदा, चक्र,

---

१ भागवतपुराण ११ ५ २१

२ भागवतपुराण ११ ५ ८४

३ भागवतपुराण ११ ५ २७

४ महाभारत अनुशासनपर्व १४६ १२–१११

५ विष्णुधर्मोत्तरपुराण ८५ २ – एकवक्त्रश्चतुर्बाहु सौम्यरूप सुदर्शन।
सलिलाध्मातमेघाभ सर्वाभरणभूषित ।।

६ विष्णुधर्मोत्तरपुराण ८५ ३–४

७ विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ८५ ८–६

८ विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ८५ ११–१४

६ अग्निपुराण (पूर्वभाग) ४४ ४६–४७

शख एव पद्म धारण किये तथा सुन्दर आभूषणो से सुशोभित श्वेतवर्ण का बताया है।[1] वासुदेव को अन्यत्र भी श्वेतवर्ण एव पीताम्बर धारण किये हुए बताया गया है जिनके चतुर्भुजी हाथो मे चक्र, शख, गदा और पद्म सुशोभित होते है। कभी–कभी उनके हाथो मे पद्म के स्थान पर अभय–हस्तमुद्रा और गदा के स्थान पर ताडपर्ण पुस्तिका (Palm leaf book) लिये हुए बताया है।[2]

वासुदेव–कृष्ण प्रतिमा लक्षण के अतिरिक्त कृष्ण का स्वतत्र रूप से भी प्रतिमा लक्षण कुछ ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। **मत्स्यपुराण** मे विष्णु के कृष्णावतार रूप प्रतिमा की चर्चा करते हुए कहा गया है कि कृष्णावतार रूप मे प्रतिमा मे बायी ओर गदा रहनी चाहिए।[3] **विष्णुधर्मोत्तरपुराण**[4] मे श्रीकृष्ण को चक्रधारी, नीलकमलदल की कान्ति से समन्वित करने का उल्लेख प्राप्त होता है। **रूपमण्डन** मे हरि को शख, चक्र कमल एव गदा धारण किये हुए तथा कृष्ण को हाथो मे पाञ्चजन्य नामक शख गदा पद्म एव सुदर्शन चक्र धारण किये हुए उल्लेख किया है।[5] साथ ही प्रतिमा–निर्माण के समय मूर्तियो मे आयुधो का क्रम दाहिने निचले हाथ से होने का निर्देश भी दिया है।[6] **हरिवशपुराण** मे कृष्ण को देवकी के प्रसूतिगृह मे नीलमणि के कान्ति सदृश तथा शख चक्र आदि उत्तम लक्षणो से युक्त बताया है।[7] इसी पुराण मे अन्यत्र कृष्ण को शत्रुओ का मुख न देखने वाला सुदर्शन चक्र, अपने शब्द से शत्रुपक्ष को कम्पित करने वाला

---

१ (स०) माकड पोपटभाई अबाशकर अपराजितपृच्छा (भुवनदेवकृत) बडौदा १९५० २१७ १७ पृ० ५५४

२ गुप्ता शक्ति एम०, विष्णु एण्ड हिज इनकार्नेशन्स बम्बई १९६३ पृ० ६८९

३ मत्स्यपुराण (उत्तरभाग) ८९ १/२ – कृष्णावतारे तु गदा वामहस्ते प्रशस्यते।

४ विष्णुधर्मोत्तरपुराण तृतीय खड ८५ ७३ – कृष्णश्चक्रधर कार्यो नीलोत्पलदलच्छवि ।

५ (स०) श्रीवास्तव बलराम रूपमण्डन (सूत्रधार मण्डनकृत) वाराणसी स० २०२१ पृ० १३८ श्लोक न० २० – कृष्ण करै पाञ्चजन्य गदा पद्म सुदर्शनम्।

६ पूर्वोक्त श्लोक न० २१ – एता सुमूर्त्तयो ज्ञेया दक्षिणाध करक्रमात्।

७ (स०) जैन, पन्नालाल हरिवशपुराण (जिनसेनकृत) नई दिल्ली १९७८ ३५ २० पृ० ४५० – सशङ्कचक्रादिसुलक्षिताग स्फुरन्महानीलमणिप्रकाश ।
स देवकीप्रसूतिगृह स्वदीप्त्या प्रदीप्तिमान् द्योतयतिस्म कृष्ण ।।

शाङर्गधनुष, सौनन्दक खड्ग कौमुदी गदा, शत्रुओ पर कभी व्यर्थ न जाने वाली अमोघशूला शक्ति, पाञ्चजन्य शख और विशाल प्रताप को प्रकट करने वाला कौस्तुभमणि शख के चिन्ह लक्षणो से युक्त बताया गया है।[1]

अपराजितपृच्छा मे श्रीहरि के समान कृष्णमूर्ति बनाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** मे नर–नारायण मूर्ति के निर्माण के सदर्भ मे यह उल्लेख प्राप्त होता है कि नारायण की मूर्ति चतुर्भुजी एव नीलकमल के पत्ते की आभा के समान बनानी चाहिये और कृष्ण की भी नारायण के सदृश मूर्ति होनी चाहिए।[3] नारायण का विष्णु के सहस्र नामो मे उल्लेख हुआ है।[4] अत कृष्ण प्रतिमा–लक्षण और विष्णु प्रतिमा–लक्षण मे साम्यता दिखाई पडती है।

प्रतिमाशास्त्रीय अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि कला–जगत मे कृष्ण के अनेक महत्वपूर्ण रूप प्रचलित है। इसमे कुछ विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसका सक्षेप मे वर्णन इस प्रकार कर सकते है –

बालगोपाल और वेणुवादक रूप

गोपाल रूप मे कृष्ण की छवि अत्यन्त आकर्षक एव मनोहारी प्रतीत होती है। **श्रीमद्भागवत** मे कृष्ण के गोपाल रूप का वर्णन अत्यन्त विस्तृत रूप मे प्राप्त होता है।

---

१ हरिवशपुराण ५३ ४६–५० पृ० ६०७ –
चक्र सुदर्शनमदृष्टमुख रिपूणा शार्डग धनुर्ध्वननधूतविपक्षपक्षम्।
सौनन्दकोऽपि च गदापि च कौमुदी सा मोधेतरा रिपुिषु शक्तिमोधमूला।।
शखश्च शखचितस्य स पाञ्चजन्य श्रीकौस्तुभोमणि रसावनणुप्रताप ।

२ (स०) माकड पोपटभाई अबाशकर अपराजितपृच्छा (भुवनदेवकृत) पूर्वोद्धृत २१७ ३२ –
शखचक्रे पद्मगदे हरौ वै मोक्षदायके।
शङखो गदा पदमचक्र कृष्णमूर्तौ तथैव च।।

३ विष्णुधर्मोत्तरपुराणे तृतीय खड भाग I ७६ ५, कृष्णोऽपि नारायणतुल्यमूर्ति ।

४ महाभारत अनुशासनपर्व १४६ १२ १११

इस पुराण मे एक स्थल पर श्रीकृष्ण के गोपाल रूप को देखकर ब्रह्माजी के मोहित होने का प्रसग प्राप्त होता है जिसमे कृष्ण को वर्षा ऋतु के मेघ के समान श्यामवर्ण का तथा पीताम्बर धारण किये हुए बताया है। इसके अतिरिक्त गले मे वह घुँघचियो की माला, सिर पर मोरपखो का बना मुकुट एव कानो मे मकराकृति कुण्डल धारण किये हुए दिखाई पड रहे है। उनका मुख कमल के सदृश सुन्दर एव कोमल दिखाई दे रहा है। पार्श्व मे वे बेत एव सीग दबाये हुए है तथा उनकी कटि मे बँधे हुए फेटे मे सुन्दर वशी शोभायमान हो रही है।[1] अत्यत्र इसी पुराण मे कृष्ण की घुँघराली अलको को गायो के खुरो से उठी हुई रज से धूसरित बताया है। उनके शिरोभाग मे मोर–मुकुट एव गुँथे हुए पुष्प अति सुन्दर प्रतीत हो रहे है।[2] एक स्थल पर **भागवतपुराण** मे कृष्ण को पीताम्बर धारण किये एव गले को वैजयन्ती माला से सुसज्जित किये गोपगणो के साथ वशीवादन का आनन्द लाभ उठाते हुए वर्णित किया गया है[3]।

हरिवशपुराण मे भी कृष्ण के गोपाल रूप का बहुत सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। इसमे श्रीकृष्ण को पीतवर्ण के दो वस्त्र पहने हुए, शिरोभाग के मध्य मे मयूरपख की कलँगी लगाये और नीलकमल की माला को सिर पर धारण किये हुए बताया है। इसके अतिरिक्त उनकी शख के समान सुन्दर ग्रीवा उत्तमकण्ठी से विभूषित हो रही है तथा सुवर्ण कर्णाभरणो की आभा उन्हे और आकर्षक बनाती हुई प्रतीत हो रही है। उनके ललाट पर लटकते दुपहरिया के फूल भी उनकी शोभा को द्विगुणित कर रहे है। श्रीकृष्ण के सिर पर ऊँचा बँधा मुकुट एव कलाइयो मे देदीप्यमान कगन अति सुशोभित

---

१ श्रीमद्भागवतपुराण १० ६ ११

२ श्रीमद्भागवतपुराण १० १५ ४२ –
त गोरजश्छुरित कुन्तलबद्धबर्हं।
वन्य प्रसूनरूचिरे क्षणचारूहासम्।।

३ श्रीमद्भागवतपुराण, १० २१ ५

हो रहे है। ऐसी शोभा वाले श्रीकृष्ण अनेक सुन्दर गोपाल बालको के साथ दिखाई पड रहे है।[1]

कृष्ण के बाल–गोपाल रूप मे वशीधारण करने के अतिरिक्त राधा के साथ भी कृष्ण के मुरलीधर रूप का उल्लेख प्राप्त होता है। कृष्ण–प्रतिमा के सम्बन्ध मे एक उल्लेख प्राप्त होता है कि उनकी प्रतिमा द्विभुजी या चतुर्भुजी रूप मे होनी चाहिए।[2] द्विभुजी रूप वाली प्रतिमा मे उनके दोनो हाथो मे या तो मुरली (वशी) होनी चाहिए या चक्र एव शख से उनके दोनो हाथो को युक्त होना चाहिए और या तो उनके दाहिने हाथ मे पद्म एव बाये हाथ को अभयमुद्रा मे प्रदर्शित करना चाहिए।[3] **श्रीमद्देवीभागवत** मे कृष्ण का द्विभुजी रूपी मे वशीधारण किये हुए उल्लेख प्राप्त होता है–

नवीनजलद श्याम द्विभुज पीतवाससम्।
स स्मित मुरलीहस्त भक्तानुग्रह कातरम्।।[4]

ब्रह्मवैवर्तपुराण मे कृष्ण के द्विभुजी रूप का अति विस्तार से वर्णन किया है। इसमे कृष्ण को नवीन मेघ की कान्ति वाला बताया है। उनके विशाल नेत्र शरदकालीन मध्याह्न मे खिले हुए कमलो की भॉति प्रतीत हो रहे है। मोतियो की शोभा का हरण करने वाली सुन्दर दतपक्ति एव मुकुट पर मोरपख सुशोभित है। गले मे मालती की सुन्दर माला शोभायमान हो रही है। उनकी नासिका सुन्दर है तथा मुख मधुर स्मित से

---

१ (स०) जैन पन्नालाल हरिवशपुराण (जिनसेनकृत) ३५ ५५–५६ पृ० ४५५
सुपीत वासोयुगल वसान वनेवतसीकृतवर्हिवर्हम्।
अखण्डनीलोत्पलमुण्डमाल सुकण्ठिकाभूषितकम्बुकण्ठम्।।
सुवर्णकर्णाभरणोज्जवलाभ सुबन्धुजीवालिकमुच्चमौलिम्।
हिरण्यरोचिर्वलयप्रकोष्ठ सुपादगोपालकसानुवशम्।।

२ अवस्थी, अवधबिहारीलाल स्टडीज इन स्कन्दपुराण भाग IV ब्रह्मनिकल आर्ट एण्ड आइकनोग्राफी लखनऊ १६७६ पृ० १३६–३७

३ स्कदपुराण II, IX २६ २४–२५

४ श्रीमद्देवीभागवतपुराण नई दिल्ली १६८६, ६ ३ २२

युक्त है। वे प्रज्ज्वलित अग्नि के समान विशुद्ध पीताम्बर धारण किये हुए है। उनकी दो भुजाये बॉसुरी से सुशोभित है तथा रत्नमय आभूषण उनके शरीर के सौन्दर्य को और द्विगुणित कर रहे है।[1]

चतुर्भुजी रूप वाली प्रतिमा मे कृष्ण को गदा, पद्म, शख एव चक्र धारण किये हुए बताया है। इन आयुधो को क्रमश दाहिने हाथ मे नीचे की ओर गदा और ऊपरी दाहिने हाथ मे पद्म एव बॉये ऊपरी हाथ मे शख तथा नीचे बाये हाथ मे चक्र धारण का विधान बताया है।[2] यह प्रतिमा लक्षण कृष्ण को विष्णु प्रतिमा लक्षण से साम्य रखता है। कृष्ण के इस द्विभुजी एव चतुर्भुजी रूप वाली प्रतिमाओ मे उनके बायी ओर श्री को भी स्थान दिया गया है।[3] यहॉ श्री से तात्पर्य लक्ष्मी से है, जिन्हे विष्णु की प्रिया के रूप मे जाना जाता है।[4] मात्र मुरलीधर रूप मे कृष्ण के साथ बायी ओर राधा रासेश्वरी को स्थान दिया गया है।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण के मुरली–धर रूप को छोडकर अन्य आयुधो को धारण करने वाला रूप उनके गभीर व्यक्तित्व (विष्णु) को द्योतित करता है और इस कारण प्रतिमा–निर्माण मे उनके साथ श्री को स्थान दिया होगा। जबकि मुरलीधर रूप कृष्ण के चचल एव मादक स्वभाव को द्योतित करता है[6] अत इसी कारण इस रूप मे कृष्ण को या तो बाल–गोपालो के साथ क्रीडारत दिखाया गया है या तो फिर उन्हे गोपियो के साथ लीलारत हुए प्रदर्शित किया जाता है। इसी कारण कृष्ण के वशीधर रूप मे कही ग्वाल–बाल दिखाये गये है या तो कही राधा को दिखाया

---

१ ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृति खड २१८–२१

२ अवस्थी अवधबिहारीलाल पूर्वोद्धृत पृ० १३७

३ पूर्वोक्त

४ चम्पकलक्ष्मी आर० वैष्णव आइकनोग्राफी इन द तमिल कन्ट्री नई दिल्ली १९८१ पृ० ४७

५ स्कन्दपुराण II, IX, २६ २४–२८

६ किन्सले, डेविड आर० द डिवाइन प्लेयर– ए स्टडी ऑव कृष्ण–लीला दिल्ली १९७९ पृ० ६५

गया है। खजुराहो के लक्ष्मण–मदिर से एक ऐसी ही प्रतिमा प्राप्त होती है जिसमे कृष्ण को उनकी प्रिय गोपी राधा के साथ वशीवादन करते हुए दिखाया गया है।[1]

गोवर्धनधारी रूप

कृष्ण के गोवर्धनधारी रूप का वर्णन वैष्णव–ग्रथो से प्राप्त होता है। **श्रीमद्भागवतपुराण** के अनुसार जब इन्द्र ने वर्षा द्वारा सम्पूर्ण ब्रज जलप्लावित करने का विचार किया तो कृष्ण ने अपनी योगमाया द्वारा गोवर्धन पर्वत को उखाड कर सात दिन उँगली पर धारण किये रहे।[2] समस्त ब्रजवासी एव जीव–जन्तुओ ने सात दिन तक उसी पर्वत मे शरण ली थी। गौओ की रक्षा करने के कारण इन्द्र ने उपेन्द्र पद पर उनका अभिषेक करके गोविन्द नाम से उन्हे विभूषित किया।[3]

गोवर्धनधारी कृष्ण की नागहेली और हलेविड से प्रतिमा प्राप्त हुई है जिनका उल्लेख *गोपीनाथ राव* ने भी किया है।[4] इन दोनो स्थानो से प्राप्त गोवर्धनधारी प्रतिमा मे कृष्ण को पर्वत उठाये दिखाया गया है जिसके नीचे अनेक ग्वाल–बाल, गाये एव ब्रजवासी शरण लिये खडे है। यद्यपि इन स्थानो की प्रतिमा मे काफी साम्यता है किन्तु अतर मात्र गोवर्धन–धारण किये बाये और दाये हाथ का दिखाई पडता है।

कालिय–दहन रूप

कृष्णावतार के अन्तर्गत कालिय–दहन रूप कृष्ण की एक रोचक लीला मानी जाती है। विविध पुराणो मे इस रूप का अकन प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण जब कालियनाग का दमन करके उसके ऊपर नित्य कर रहे थे, तो उनका रूप अत्यन्त आकर्षक प्रतीत

---

१ अग्रवाल, उर्मिला खजुराहो स्कल्पर्स एण्ड देयर सिगिनीफिकेन्स नई दिल्ली १९८० पृ० ४०

२ श्रीमद्भागवतपुराण, १० २५ २३ – वीक्ष्यमाणे दधावद्रि सप्ताह नाचलत् पदात्।

३ विष्णुपुराण ५ १२ १२ – उपेन्द्र गवामिन्दो गोविन्दस्त्व भविष्यसि।

४ राव गोपीनाथ एलीमेन्टस ऑव हिन्दी आइकनोग्राफी खड I भाग I मद्रास १९१४–१५, पृ० २१४–१६

हो रहा था। उनके शरीर का वर्ण जल से भरे मेघ के सदृश श्याम था। वे पीताम्बर धारण किये हुए थे एव मयूर पख तथा श्रीवत्स जैसे चिन्ह उनके शरीर की शोभा बढा रहे थे।[1] **विष्णुपुराण** मे भी कृष्ण के कालियनाग दमन का बहुत सुन्दर उल्लेख प्राप्त होता है। इसमे कृष्ण को कालियनाग पर नृत्य करते हुए वर्णित किया है तथा उनके भार के सहन न कर सकने के कारण नाग के फणो से रक्त वमन करने का भी स्वाभाविक उल्लेख प्राप्त होता है।[2]

गोपीनाथ राव ने एलोरा स्थित कैलाश मदिर मे चारो ओर की दीवार पर कालियमर्दन रूप मे कृष्ण को फणो पर नृत्य करते हुए बताया है।[3] राजस्थान के मडोर स्तम्भ एव ओसियॉ के हरिहर मदिर I से भी कालियमर्दन रूप की अत्यन्त सजीव झॉकी प्राप्त होती है।[4]

द्वारिकाधीश रूप

विष्णुपुराण से ज्ञात होता है कि कृष्ण ने समस्त मथुरावासियो एव यादवो की शत्रुओ (कालयवन और जरासन्ध के आक्रमण) से रक्षार्थ हेतु द्वारिकापुरी निर्माण करने की योजना बनाई थी।[5] **अग्निपुराण** मे कृष्ण द्वारा द्वारिका नामक नयी नगरी बसाकर यादवो के साथ निवास करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[6] **ब्रह्मवैवर्तपुराण** मे एक प्रसग का उल्लेख मिलता है जिसमे कहा गया है कि कृष्ण ने गोपवेश त्याग करके राजवेष धारण किया।[7] इसके पश्चात् वे शत्रुओ का नाश करने वाला एव अस्त्रो मे परमश्रेष्ठ

---

१ श्रीमद्भागवतपुराण १० १६ ६–१०
२ विष्णुपुराण ५ ७ ४६
३ राव गोपीनाथ पूर्वोद्धृत पृ० २१२
४ देसाई कल्पना एस॰ आइकनोग्राफी ऑव विष्णु नई दिल्ली १६७३ पृ० १२७
५ विष्णुपुराण पचमअश – २३ ६–१६
६ अग्निपुराणम् (पूर्व भाग) १२ ३० – पुरी तु द्वारका कृत्वान्यवसद्यादवैर्वृत ।
७ ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्मखड १०३ २ – तत्याज गोपवेष च नृपवेष दधार स ।

सुदर्शन चक्र से युक्त हो गये। कृष्ण ने समुद्र से कहा कि मुझे नगर–निर्माण करने के लिए सौ योजन विस्तृत भूमि दो तथा विश्वकर्मा से कहा तुम यहॉ ऐसे नगर का निर्माण करो, जो तीनो लोको मे दुर्लभ, सबके लिए रमणीय स्त्रियो के लिए अत्यन्त सुन्दर, भक्तो के लिए वाछनीय बैकुण्ठ के समान परम उत्कृष्ट समस्त स्वर्गों से परे और सबके लिए अभीष्ट हो। साथ ही उन्होने खगश्रेष्ठ (गरूड) और चक्रश्रेष्ठ (सुदर्शन) को अपने साथ रहने का आदेश दिया।[1] यह वर्णन द्वारका नगरी के निर्माण का सकेत प्रदान करता है।

हरिवशपुराण से भी ज्ञात होता है कि कुबेर ने अनेक द्वारो से युक्त सुन्दर नगरी की रचना करके कृष्ण को इसकी सूचना प्रदान की थी।[2] इसके अनन्तर यादवो के सघ ने समुद्र के तट पर श्रीकृष्ण और बलदेव का अभिषेक कर हर्षित होकर जय–जयकार शब्द की घोषणा की और तब श्रीकृष्ण आदि ने चतुरगिणी सेना एव समस्त प्रजा के साथ उस स्वर्ग के समान द्वारकापुरी मे बडे वैभव के साथ प्रवेश किया।[3] द्वारिका मे स्थित कृष्ण का यही रूप द्वारिकाधीश कहलाया। इसी पुराण मे एक स्थल पर यह उल्लेख प्राप्त होता है कि द्वारिका मे कुबेर ने श्रीकृष्ण को अभिषेक के पश्चात् मुकुट, उत्तम हार, कौस्तुभमणि, दो पीत–वस्त्र, लोक मे अत्यन्त दुर्लभ नक्षत्रमाला, आदि आभूषण, कौमुदी गदा शक्ति नन्दक नामक खडग, शार्ङ्ग नामक धनुष, दो तरकश, वज्रमय बाण तथा सब प्रकार के शस्त्रो से युक्त एव गरूड की ध्वजा सहित दिव्य रथ चमर एव श्वेत छत्र प्रदान किये।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि इन आयुधो

---

१ ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्णजन्मखड १०३७–११

२ जैन पन्नालाल हरिवश पुराण (जिनसेनकृत) – ४१३२

३ पूर्वोक्त, ४१४१–४२
ततो यादवसघास्तावभिषिच्याम्बुधरेत्तटे। जयशब्देन सघुष्य हृष्टा हलगदाधरौ।।
विविशुर्द्वारिका भूत्या चतुरगबलान्विता। सप्रजा कृतपुण्यास्ते प्राप्ता दिवमिव स्वयम्।।

४ पूर्वोक्त ४१३३–३५

एव आभूषणो को कुबेर ने श्रीकृष्ण के द्वारिकाधीश होने के सम्मान मे उपहार स्वरूप प्रदान किया होगा। अन्यत्र भी **हरिवशपुराण** मे श्रीकृष्ण को चक्ररत्न धारण किये अपने बान्धवजनो सहित द्वारिका की ओर जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

ब्रह्मवैवर्तपुराण मे अन्यत्र कहा गया है कि कृष्ण के द्वारिकाधीश रूप के दर्शन के लिए अनेक देव–देवियाँ गण किन्नर आदि द्वारका पधारे। आगे इसमे कहा गया है कि ब्रह्मा, भवानी पार्वती को साथ लिये शिव और अनन्त, धर्म, भास्कर, अग्नि, कुबेर, वरूण, वायु, यमराज, महेन्द्र चन्द्रमा, ग्यारह रुद्र अन्य देवगण मुनिवृन्दा सातो वसुगण, बारह आदित्य, दैत्यगण, गन्धर्व और किन्नर लोग द्वारिकाधीश भगवान श्रीकृष्ण सहित बलभद्र के दर्शन करने के लिए द्वारकापुरी आये।[2]

एस०आर० राव ने द्वारकाधीश मदिर (गुजरात स्थित द्वारका) मे कृष्ण के द्वारकानाथ रूप की एक प्रतिमा का उल्लेख किया है।[3] इसमे द्वारकानाथ को स्थानक मुद्रा मे चतुर्भुजी रूप मे दिखाया गया है। उनके हस्त शख, चक्र एव गदा जैसे आयुधो से युक्त है तथा दाहिने निचला हाथ वरद–मुद्रा मे प्रतीत होता है। द्वारकानाथ की इस प्रतिमा के शिरोभाग मे मुकुट जैसा अलकरण प्राप्त होता है तथा वे गले मे हार वक्षस्थल मे कौस्तुभमणि, भुजबध, कर्णाभूषण आदि धारण किये हुए है। कटि से नीचे भाग मे उनके धोती जैसा वस्त्र सुशोभित हो रहा है। इसके अतिरिक्त उनके दोनो पार्श्वगत भागो मे बौने कद के रूप मे सभवत अनुचर दिखाई पडते है।[4] इस प्रकार यह प्रतिमा द्वारकानाथ स्वरूप को स्पष्ट रूप से उजागर करती है।

---

१ हरिवश पुराण (जिनसेनकृत) ५३४० – सोऽनुयातो ययौ चक्रो द्वारिका प्रतिबान्धवै ।

२ ब्रह्मवैवर्त श्रीकृष्णजन्मखड १०४४ – आयुयुद्वरिका द्रष्टु श्रीकृष्ण च बल तथा।

३ राव, एस०आर० द लॉस्ट सिटी ऑव द्वारका दिल्ली १९९९ प्लेट V पृ० ७२

४ पूर्वोक्त

इन्दुमती मिश्र ने कृष्ण के गोपाल रूप वशीधर रूप गोवर्धन रूप कालिय–मर्दन रूप का सुविस्तार वर्णन किया है। इसके साथ ही साथ कुछ अन्य महत्वपूर्ण रूपो का भी उल्लेख किया है।[1] वे निम्नलिखित है–

(१) जन्म के समय चतुर्भुज बालक का रूप (२) बाल कृष्ण रूप (३) बाल मुकुन्द रूप (४) युद्धवेशधारी रूप, (६) योगीश्वर रूप (७) समाधिस्थ रूप।[2] कृष्ण के उपरोक्त रूपो का कला मे बहुत रोचक ढग से अकन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त ये विभिन्न रूप कृष्ण द्वारा किये अद्भुत कार्यों एव उनकी विशिष्ट अनूठी छवि को द्योतित करते है।

गीतगोविन्द मे कृष्ण का चित्रण

गीतगोविन्द मे कृष्ण के रूप–सौन्दर्य का अति विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। एक स्थल पर कृष्ण को चन्द्राकार चित्र–विचित्र चिह्न से युक्त मनोहर मयूर पखो को केशो मे आवेष्टित किये हुए बताया है तथा उनके शरीर का वर्ण बहुत से इद्रधनुषो से सवलित सघन और स्निग्ध, मेघ के सदृश प्रतीत हो रहा है।[3] अन्यत्र श्रीकृष्ण को मणियो से युक्त, मकराकृति के मनोहर कुण्डलो से विभूषित कपोल वाले, उदार पीताम्बरधारी तथा मुनि, मनुष्य, देवता और असुर रूप श्रेष्ठ कहा है।[4]

गीतगोविन्द मे एक स्थान पर कृष्ण के वशीवादन रूप का बहुत सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। इसमे कहा गया है कि जब कृष्ण वशी बजाते है तो उस समय उनकी

---

१ मिश्र इदुमती पूर्वोद्धृत पृ० २१६
२ पूर्वोक्त, वही पृ०
३ (स०) होता रमेशचन्द्र गीतगोविन्दकाव्यम् इलाहाबाद १६६७ द्वितीय सर्ग श्लोक २ पृ० ११२ –
चन्द्रकचारुमयूरशिखण्डकमण्डलवलयितकेशम्।
प्रचुरपुरन्दरधनुरनुरजितमेदुरमुदिरसुवेशम्।।
४ पूर्वोक्त, श्लोक न० ६ पृ० ११४

ग्रीवा कुछ तिरछी हो जाती है और चचल मस्तक के कारण उनके कानो के हिलते हुए कुण्डल अति सुशोभित होते है।[1]

राधा–प्रतिमा लक्षण

भारत मे वैष्णव, शैव तथा शाक्त ये तीन सम्प्रदाय सर्वत्र मान्य है। वैष्णव विष्णु शैव शिव तथा शाक्त शक्ति की पूजा करते है।[2] देवी या आद्याशक्ति को जगत मे प्रमुख स्थान दिया गया है। कलाकारो ने भी धार्मिक क्षेत्र मे प्रचलित विचारधारा का आदर करते हुए, देवताओ के साथ–साथ उनकी शक्ति को भी कला मे स्थान दिया तथा उनकी अनेक एकाकी एव युगल प्रतिमाएँ निर्मित की। जैसे– विष्णु और लक्ष्मी शिव और पार्वती, रुद्र एव दुर्गा।[3] ऐसे ही राधा भी कृष्ण की शक्ति स्वरूपा एव स्वय कृष्ण अविनाशी सर्वरूप माने गये।[4] इसी कारण कला–जगत मे कृष्ण और राधा की अनेक प्रतिमाएँ बनाई जाने लगी।

राधा की मूर्ति का प्रतिमा लक्षण प्राचीन शिल्प–शास्त्रीय ग्रथो मे अनुपलब्ध है। इनमे कृष्ण की मूर्ति का प्रतिमा लक्षण तो प्राप्त होता है किन्तु राधा के विग्रह का लक्षण विज्ञान अस्पष्ट है यह एक गम्भीर शोध का विषय है कि ऐसा क्यो हुआ? विष्णु के विविध अवतारो मे राम एव कृष्ण अवतार अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जाते है। लक्ष्मी सीता एव भूदेवी आदि के प्रतिमा लक्षण निर्देश उपलब्ध है किन्तु राधा विग्रह पर स्पष्ट विवेचना अप्राप्य है। इसका प्रत्यक्ष निष्कर्ष कुछ लोग यह लगा सकते है कि

---

१ (स०) होता रमेशचन्द्र गीतगोविन्दकाव्यम् तृतीय सर्ग श्लोक ८ पृ० १३८

२ मिश्र, इदुमती पूर्वोद्धृत पृ० १५४

३ उपाध्याय वासुदेव प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान वाराणसी १९८२ पृ० १०६

४ ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्मखण्ड ५.६५

पूर्वमध्यकाल तक राधा–कृष्ण सम्प्रदाय का स्वतत्र अस्तित्व नही रहा होगा। किन्तु इस तथ्य को पूर्णत तर्कसगत नही माना जा सकता है क्योकि उस समय तक भारतीय सस्कृति के साथ राधा–कृष्ण सम्प्रदाय प्राणतत्व के रूप मे सम्पृक्त हो रहा था।

उपर्युक्त कठिनाइयो के परिप्रेक्ष्य मे इस शोध प्रबन्ध मे राधा–विग्रह का विवरण अन्य साहित्यिक साक्ष्यो पर आधारित है। वस्तुत यहॉ राधा विग्रह की लाक्षणिकता की विवेचना का प्रथम मौलिक प्रयास किया गया है। आधुनिक मदिरो मे राधा विग्रह का जो स्वरूप दिखता है उसकी समानता पौराणिक साक्ष्यो मे वर्णित राधा रूप से दिखाई पडती है। अत राधा विग्रह के निर्माण मे इन्ही पौराणिक साक्ष्यो का प्रयोग किया गया होगा।

विष्णु अवतार होने के कारण कृष्ण की प्रारम्भिक मूर्तियॉ अधिकाशत विष्णु–प्रतिमा लक्षण के आधार पर निर्मित की गई है। **पद्मपुराण** मे कृष्ण की शक्ति राधा को साक्षात् महालक्ष्मी और भगवान श्रीकृष्ण को साक्षात् नारायण कहा गया।[1] **गर्गसहिता** मे कृष्ण और राधा को विष्णु और कमलालया कहा गया है।[2] स्पष्ट है कि विष्णु और लक्ष्मी का अवतारपरक रूप जब ब्रजलीला से सम्बद्ध हुआ तो वह कालातर मे कृष्ण और राधा के यथेष्ट रूप मे विकसित हुआ।[3] सभवत इसी कारण प्रारम्भ मे कृष्ण और राधा सम्बन्धी प्रतिमाओ के निर्माण का आधार विष्णु और लक्ष्मी प्रतिमा–लक्षण रहा होगा। अत राधा प्रतिमा लक्षण का अध्ययन करते समय लक्ष्मी के प्रतिमा–लक्षण का विवेचन भी आवश्यक प्रतीत होता है।

---

१ पद्मपुराण पातालखण्ड ८१५५

२ गर्गसहिता गोलोक खण्ड १६ २४ – हरिस्त्व कमलालयेयम्।

३ देव कपिल थ्योरी ऑव इनकार्नेशन इन मैडिवल इडियन लिटरेचर एन इण्टरप्रटेशन वाराणसी १९६३, पृ० ३८५

वैष्णव पुराणो मे लक्ष्मी या श्री को विष्णु की पत्नी कहा गया है।[1] **विष्णुपुराण**[2] मे उन्हे कमल आसन पर विराजमान तथा हाथ मे कमल पुष्प धारण किये हुए बताया है। उनके शरीर का वर्ण स्फटिक मणि के समान है। इसी पुराण मे एक अन्य स्थल पर लक्ष्मी को कमल के समान नेत्रवाली, कमल से उत्पन्न, कमल मे निवास करने वाली तथा हाथ मे कमल पुष्प धारण किये तथा कमल के समान मुख वाली पद्मनाभ विष्णु की प्रिया कहा है।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि कमल का लक्ष्मी से घनिष्ठ सबध था और इसी कारण लक्ष्मी को कमला नाम से सम्बोधित किया जाता है। ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि महाप्रलय के जलप्लावन के पश्चात् नारायण (विष्णु) की नाभि से कमल की उत्पत्ति हुई जिससे इस समस्त सृष्टि का जन्म हुआ।[4] भागवतो ने भी सृष्टि का जन्म पद्म से माना है।[5] इस प्रकार कमल को इस सृष्टि के जन्मदाता रूप का प्रतीक माना गया है। कमल को मातृकुक्षि से उत्पन्न होने वाले शिशु का प्रतीक भी माना गया है।[6] एक अन्य बात लक्ष्मी और कमल के सबध मे प्राप्त होती है कि विष्णु अपनी शक्ति के बिना कोई कार्य नही कर सकते और जब–जब भगवान विष्णु अवतार धारण करते है तो उनकी शक्ति भी उनके सहायक रूप मे उद्भूत होती है।[7] **विष्णुपुराण** मे कहा गया है कि जब विष्णु आदित्य रूप मे हुए तो लक्ष्मी कमल (पद्म) से जन्म लेकर पद्मा कहलाई।[8] इस प्रकार विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल लक्ष्मी का जन्मदाता कहलाया। अतएव कमल को समस्त सृष्टि के उत्पन्नकर्त्ता एव लक्ष्मी का जन्मदाता होने के कारण

---

१ विष्णुपुराण १८ १५

२ विष्णुपुराण १९ १००

३ विष्णुपुराण १९ ११८

४ मत्स्यपुराण (पूर्वभाग) १६४ २

५ अग्रवाल वासुदेवशरण, भारतीय कला वाराणसी १९७७ पृ० ६३

६ पूर्वोक्त वही पृ०

७ विष्णुपुराण १९ १४२

८ विष्णुपुराण, १९ १४३

मातृकुक्षि भाव को द्योतित करने वाला माना गया। ऐसा प्रतीत होता है कि कालातर मे जब लक्ष्मी मे जगजननी[1] की अवधारणा का स्थापन हुआ, तो सभवत मातृत्व–शक्ति के द्योतक रूप मे कमल का लक्ष्मी के साथ तादात्म्य स्थापित हो गया होगा।

अग्निपुराण मे लक्ष्मी के चतुर्भुजी एव द्विभुजी रूप का वर्णन प्राप्त होता है। चतुर्भुजी रूप मे वे दाहिने हाथो मे चक्र एव शख तथा बाये हाथो मे गदा एव कमल धारण करती है।[2] द्विभुजी रूप मे लक्ष्मी को दाहिने हाथ मे कमल तथा बाये हाथ मे श्रीफल (बेल) लिये हुए वर्णित किया है।[3] **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** मे कहा गया है कि जब वे (लक्ष्मी) हरि के समीप रहती है तो वे द्विभुजी रूप मे रहती है[4] और जब वे उनसे पृथक् रहती है तो वह चार भुजाओ से सुशोभित होती है।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि कालातर मे राधा प्रतिमा लक्षण के विकसित होने मे द्विभुजी लक्ष्मी का प्रतिमा लक्षण सहायक सिद्ध हुआ होगा। लक्ष्मी के इस द्विभुजी रूप मे उन्हे अत्यधिक सुन्दर, हाथ मे कमल धारण किये तथा नाना प्रकार के आभूषणो से अलकृत बताया गया है। उनका शरीर गौरवर्ण से युक्त एव श्वेत वस्त्रो से सुसज्जित है।[6] *गोपीनाथ राव*[7] ने **शिल्परत्न** के अनुसार लक्ष्मी को श्वेत वर्ण का बताया है। उनके बाये हाथ मे कमल तथा दाये हाथ मे विल्वफल शोभायमान होता है। अन्यत्र भी लक्ष्मी को दो भुजाओ से युक्त एव केशबन्ध जैसे मुकुट को धारण किये हुए बताया है। वह अपने बाये हाथ मे कमल पकडे हुए है तथा दाया हाथ वरद–मुद्रा मे दिखाया गया है।[8] लक्ष्मी का *उपरोक्त*

---

१ मिश्र इदुमती, पूर्वोद्धृत पृ० १६०
२ अग्निपुराण ५० २०
३ अग्निपुराण ५० १५
४ विष्णुधर्मोत्तरपुराण ८२ २
५ विष्णुधर्मोत्तरपुराण ८२ ३ – पृथक्चतुर्भुजा कार्या देवी सिहासने शुभे।
६ विष्णुधर्मोत्तर पुराण ८२ ३
७ राव गोपीनाथ पूर्वोद्धृत खड I, भाग II दिल्ली १६८५, पृ० ३७३
८ आचार्य, प्रसन्नाकुमार (अनु०) आर्किटेक्चर ऑव मानसार, खड IV नई दिल्ली, १६८० पृ० ५५१

वर्णित द्विभुजी रूप ***स्कन्दपुराण*** *मे कृष्ण के समीप खडी राधा के रूप–वर्णन से साम्य रखता प्रतीत होता है। इस पुराण मे राधा को द्विभुजी रूप मे वर्णित किया है जिसमे वह एक हाथ मे कमल और दूसरे हाथ मे पुष्पमाला धारण किये हुए है।[1] इस वर्णन के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राधा विषयक प्रतिमाओ के निर्माण का आधार लक्ष्मी का द्विभुजी रूप रहा होगा जिसमे लक्ष्मी के विल्वफल का स्थान पुष्पमाला या अन्य विभिन्न हस्तमुद्राओ ने ग्रहण कर लिया होगा।* ओसिया के सचियामाता मदिर के समीप निर्मित एक छोटे मदिर के वितान (Ceiling) मे राधा को एक हाथ मे कमल धारण किये कृष्ण के साथ प्रदर्शित किया गया है[2], जिसे लक्ष्मी से उनके सारूप्य का एक ज्वलन्त उदाहरण माना जा सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि लक्ष्मी के साथ कमल का जो सबध स्थापित हुआ, कालातर मे वह राधा के प्रतिमा–लक्षण मे प्रयोग किया जाने लगा। राधा को भी सृष्टि का आधारस्वरूप माना गया है।[3]

देवीभागतवपुराण मे राधा के स्वरूप का अति सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। इसमे राधा को श्वेतवर्णी बताया है जिनकी कान्ति करोडो चन्द्रमाओ के समान प्रकाशमान रहती है।[4] इसी पुराण मे राधा को श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर विराजने वाली कहा है और उसकी उपमा आकाश स्थित नीले मेघो (कृष्ण) मे विद्युत (राधा) के चमकने से दी है।[5] **देवीभागवतपुराण** मे राधा को एक स्थल पर नीले रग का दिव्य वस्त्र धारण करने वाली तथा नाना प्रकार के दिव्य आभूषणो से युक्त बताया है।[6]

---

१ स्कन्दपुराण II IX २६ ३०

२ भडारकर टेम्पुल्स ऑव ओसियॉ आर्किलाजिकल सर्वे ऑव इडिया एनुअल रिपोर्ट १९०८–९ पृ० १००

३ ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्णजन्मखड १५ ६१ – सृष्टेराधारभूता त्व बीजरूपोऽहमच्युत ।

४ देवीभागवतपुराण – ६ १ ५२

५ देवीभागवतपुराण – ६ १ ५५

६ देवीभागवतपुराण – ६ १ ५१ – बह्निशुद्धाशुकधरा नानालकारभूषिता।

ब्रह्मवैवर्तपुराण मे राधा को अग्नि मे तपाये हुए सुवर्ण की भॉति वस्त्रो को धारण किये हुए तथा मधुर स्मित से युक्त बताया है।[1] इस पुराण मे यह भी वर्णन मिलता है कि उनके अग–प्रत्यग अत्यन्त कोमल है। वह सुन्दरियो से भी सुन्दरी है। वे विशाल नितम्ब, पृथुल श्रोणी एव उन्नत स्तनो से सुशोभित हैं। उनके अधर बन्धूक (दुपहरिया) पुष्प के समान रक्ताभ एव सुन्दर प्रतीत हो रहे है तथा मोतियो की पक्ति की भॉति उनके मनोहर दॉतो की पक्ति शोभायमान हो रही है।[2] राधा का मुख शरद्कालीन करोडो चन्द्रो की शोभा को तिरस्कृत करने वाला प्रतीत हो रहा है और सुन्दर सीमान्त भाग अत्यन्त मनोहर दिखाई पड रहा है। उनके नेत्र शारदीय कमल के सदृश प्रतीत हो रहे है।[3]

ब्रह्मवैवर्तपुराण मे राधा की साज–सज्जा का अत्यन्त सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। वे रत्नो के सारभाग से निर्मित मनोहर वनमाला, हीरे का बना हार रत्ननिर्मित केयूर और कगन और मजीर एव अनेक प्रकार के चित्राकित रत्नजटित आभूषण धारण किये हुए है।[4] एक स्थल पर राधा के पैरो को रत्नो के नूपुर से सुशोभित बताया है।[5] अन्यत्र राधा के मुख की सज्जा का भी वर्णन मिलता है। इसमे कहा गया है कि उनके सुदर कपोलो पर चन्दन, अगुरु, कस्तूरी, कुकुम और सिन्दूर की बूँदो से की गई पत्र–रचना

---

१ ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्मखड ५.२८

२ ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्मखड ५.२९–३०

३ ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्मखड ५.३१ –
शरत्पार्वणकोटीन्दुशोभामृष्टशुभानना।
चारूसीमन्तिनी चारूशरत्पकजलोचना।।

४ ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्मखड ५.३६–३८–
सद्रत्नसारनिर्माणा वनमाला मनोहराम्।।
हार हरिकनिर्माण रत्नकेयूरककणम्।
सद्रत्नसारनिर्माण पाशक सुमनोहरम्।।
अमूल्यरत्ननिर्माण क्वणन्मजीररजितम्।
नानाप्रकार चित्राढय सुदर परिबिभ्रती।।

५ ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्णजन्मखड, ६६.१८

अति आकर्षक प्रतीत हो रही है।[1] **ब्रह्मवैवर्तपुराण** मे राधा की केश–सज्जा का भी बहुत सजीव चित्रण प्राप्त होता है। इसमे राधा की सॅवारी हुई केश–राशि को मालती की सुन्दर माला से अलकृत बताया है।[2] अन्यत्र भी इस पुराण मे राधा के घुॅघराले केश–राशि को मालती की माला से सुशोभित बताया है।[3]

अन्यत्र राधा को चम्पक कुसुम के सदृश श्वेतवर्ण एव मुख को असख्य चन्द्रमाओ की कान्ति के सदृश बताया है। वह नीले वस्त्र धारण करती है तथा अनेक दिव्य रत्नमय आभूषणो से सुसज्जित है। वह बालारूप मे अल्पवर्षीया प्रतीत होती है। उनके अग–प्रत्यग अत्यत सुकोमल है तथा उनका श्रीविग्रह ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानो वह श्री का लहराता हुआ अनन्त सागर हो। राधाजी रासमण्डल मे शान्तस्वरूप एव शाश्वत–यौवन को धारण करती हुई समस्त गोपागनाओ की अधीश्वरी रूप मे रत्नमय सिहासन पर विराजमान है।[4]

राधा को पीतवर्ण का बताने के पीछे एक प्रतीकात्मक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह यह है कि श्याम जो पीताम्बर धारण करते है, वह राधा के शरीर का पीतवर्ण है[5] और इसी प्रकार राधा जिन नीले वस्त्रो को धारण करती है– वह कृष्ण के शरीर का श्याम (नीला) वर्ण माना जाता है। स्पष्ट है कि राधा और कृष्ण प्रेम की साकार–मूर्ति है और उनके द्वारा धारण किये गये वस्त्र प्रतीकात्मक रूप मे उनके शरीर का वर्ण है। यही वर्ण–विषय उनके प्रतिमा–लक्षण मे दृष्टिगत होता है। इस वर्ण–भाव की पुष्टि *बिहारी कृत* '**बिहारी सतसई**' के इस दोहे मे भी दिखाई पडती है–

---

१ ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्मखड ५.३३–३४

२ ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्मखड ५.३४

३ ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृतिखड २.३६ – सुवक्रकबरीभार मालतीमाल्यभूषितम्।

४ श्रीराधा–माधव–चिन्तन गीता प्रेस गोरखपुर स० २०४५, पृ० १३४

५ (स०) वात्स्यायन कपिला, गीतगोविन्द इलाहाबाद, १९८३ पृ० १३

मेरी भव–बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।

जा तन की झाई परै, श्याम हरित दुति होइ।।[1]

अर्थात् जिनके (राधा) शरीर (पीतवर्ण) का प्रतिबिम्ब पडने पर श्याम (नील वर्ण) हरे रग के हो जाते है, ऐसी चतुर राधा मेरे कष्टो को दूर करे।

गीतगोविन्द मे राधा का चित्रण

गीतगोविन्द मे राधा के स्वरूप का अतिविस्तार से वर्णन हुआ है। एक स्थल पर राधा को चचल अलको से युक्त सुन्दर मुखचन्द्रवाली कहा है।[2] अन्यत्र इस काव्य मे राधा के साज–सज्जा का उल्लेख मिलता है। एक श्लोक मे कृष्ण द्वारा राधा के स्तनो पर पत्रलता की रचना, गालो पर चित्र रचना, कटि–प्रदेश मे करधनी पहनाने, केशराशि को मनोहर हार से अलकृत करने, हाथो मे ककण, पैरो मे मणिमय नूपुर पहनाने का वर्णन प्राप्त होता है।[3] कृष्ण द्वारा राधा की केशराशि मे बिजली की सी शोभा वाले कुरुबक पुष्प गूँथने का उल्लेख प्राप्त होता है।[4]

---

१ (स०) पाण्डेय सुधाकर बिहारी सतसई (बिहारीकृत) लालचद्रिका टीका सहित काशी स० २०३४ दोहा न० १ पृ० ३०–३१

२ (स०) होता, रमेशचन्द्र गीतगोविन्दकाव्यम् सप्तम सर्ग प्रबन्ध १४ श्लोक ३ पृ० १७४ – विचलदलकललिताननचन्द्रा।

३ पूर्वोक्त, द्वादश सर्ग, प्रबन्ध २४, श्लोक–१, पृ० २३४–३५

४ पूर्वोक्त, सप्तम सर्ग, प्रबन्ध १५, श्लोक–२, पृ० १७८ – कुरुवककुसुम चपलासुषम रतिपतिमृगकानने।

चतुर्थ अध्याय

प्राचीन संस्कृत-साहित्य में राधाकृष्ण

चतुर्थ अध्याय

प्राचीन सस्कृत साहित्य मे राधा–कृष्ण

भारतीय समाज मे साहित्य शब्द का प्रयोग बडे व्यापक अर्थ मे हुआ है। सस्कृत के आचार्यों ने साहित्य शब्द की विविध प्रकार से परिभाषा करने का प्रयत्न किया है। किसी विशेष विषय की समस्त पुस्तको को उस विषय के साहित्य की सज्ञा प्रदान की जाती है।[1] इस प्रकार नित्य ही हमे अनेक प्रकार के साहित्य के नाम मिलते है, जैसे– ज्योतिष–साहित्य, राजनीति–साहित्य, अर्थशास्त्र साहित्य आदि। इसके अतिरिक्त भी जनसामान्य के मुँह मे रहने वाला भी एक अलिखित साहित्य होता है[2] जिसमे किम्बदन्तियाँ, कथाये, कहावते लोकगीत, आदि का समावेश रहता है। *हजारी प्रसाद द्विवेदी* ने समूचे ग्रन्थ समूह को साहित्य का नाम दिया गया है।[3]

प्राचीन काल से मध्यकाल तक समय–समय पर ऐसे अनेकानेक साहित्य का निर्माण हुआ जिनसे भारतीय समाज और सस्कृति पर विपुल प्रकाश पडता है। साहित्य–सृजन करते समय किसी न किसी भाषा को अवश्य माध्यम बनाया जाता है और तत्सम्बन्धी भाषा मे रचित साहित्य उसी भाषा के साहित्य के नाम जाने जाते है।[4] भारत अनेक भाषा–भाषी देश है, जहाँ अनेक प्रचलित भाषाओ के आधार पर साहित्य की भी रचना हुई है। सस्कृत–साहित्य, हिन्दी–साहित्य, तेलगू–साहित्य, तमिल–साहित्य,

---

१ खण्डेवाल, जयकिशन प्रसाद हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ आगरा पृ० ११

२ पूर्वोक्त

३ पूर्वोक्त

४ पूर्वोक्त पृ० १२

प्राकृत–साहित्य अग्रेजी–साहित्य बगला–साहित्य उडिया साहित्य आदि इसी के ज्वलन्त उदाहरण है। भारतीय परिवेश मे प्रचलित विविध भाषाओ मे लिखे गये साहित्य मे राधा और कृष्ण का सुविस्तार से अकन प्राप्त होता है।[1] सर्वप्रथम राधा और कृष्ण शब्द का उल्लेख सस्कृत–साहित्य मे प्राप्त होता है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि वैदिक आर्यो की सामान्य बोल–चाल की भाषा भी सस्कृत थी तथा उन्होने अपने साहित्य का सृजन भी सस्कृत भाषा मे किया अर्थात् सम्पूर्ण वैदिक वाड्मय की रचना इसी भाषा मे हुई। सर्वप्रथम वैदिक आर्यो द्वारा विकसित साहित्य मे राधा एव कृष्ण शब्द का स्पष्टत उल्लेख प्राप्त होता है। वस्तुत प्राचीन काल से मध्यकाल तक सस्कृत–साहित्य का एक सुविस्तृत इतिहास दिखाई पडता है। अत इस शोध–प्रबन्ध मे सस्कृत–साहित्य के प्राचीन काल से लेकर बारहवी शती ई० तक के प्रमुख ग्रन्थो मे उल्लिखित राधा और कृष्ण सम्बन्धी वर्णन को अध्ययन का विषय बनाया गया है।

प्राचीन सस्कृत–साहित्य मे राधा और कृष्ण

सस्कृत–साहित्य मे राधा और कृष्ण सम्बन्धी अध्ययन करने के पूर्व सक्षेप मे सस्कृत–साहित्य के इतिहास को समझना अति आवश्यक है। सस्कृत भाषा भारतीयो की प्राणभूत भाषा है। भारतवर्ष मे प्राचीनकाल से धार्मिक और लौकिक कार्यो के लिए जिस भाषा का प्रयोग किया जाता रहा है, उसे सस्कृत कहते है।[2] सस्कृत शब्द का अर्थ है– परिष्कृत, निर्दोष, निर्मल, शुद्ध और अलकृत। स्पष्ट है कि भारतीयो ने जिस भाषा को अशुद्धि, अपभ्रश, अपशब्द और भाषागत दोषो से पृथक् रखकर परिष्कृत रूप मे रखा, उसे सस्कृत भाषा के नाम से सम्बोधित किया जाता है।[3] सस्कृत भाषा का यह नाम लगभग ७०० ई० पू० मे पडा माना जाता है, जब प्रमुख *वैयाकरण पाणिनी* ने इस

---

१ उपाध्याय, बलदेव भारतीय वाड्मय मे श्रीराधा पटना, १९६३ (विस्तृत अध्ययन)

२ वरदाचार्य वी० सस्कृत साहित्य का इतिहास इलाहाबाद पृ० १

३ द्विवेदी, आचार्य कपिलदेव सस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास इलाहाबाद, १९९५, पृ० १

भाषा के नियमो का निर्माण किया था।[1] इस समय से पूर्व इसको दैवीवाक् (देववाणी) नाम से व्यवहृत किया जाता था।[2] भारतवर्ष की सभी भाषाएँ निर्विवाद रूप से सस्कृत के साहचर्य से समुन्नत हुई मानी जाती है।

भारत की साहित्यिक भाषा के रूप मे सस्कृत का महत्व और अधिक है क्योकि प्राचीन भारत का अधिकाश साहित्य सस्कृत मे निबद्ध है।[3] दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि भारत का समस्त प्राचीन ज्ञान भडार सस्कृत मे ही है। वैदिक वाड्मय स्मृतिग्रन्थ, पुराण, **रामायण महाभारत** दर्शन धर्मशास्त्र महाकाव्य काव्य, नाटक गद्य–काव्य, गीति–काव्य, आख्यान–साहित्य आदि सस्कृत मे ही है। इसके अतिरिक्त व्याकरण, काव्यशास्त्र, गणित, ज्योतिष, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र आयुर्वेद, धनुर्वेद वास्तुकला, अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र, इतिहास, छन्दशास्त्र, कोशग्रन्थ आदि सस्कृत मे ही है। इस प्रकार ज्ञान–विज्ञान का कोई ऐसा अग नही है, जो सस्कृत–भाषा मे उपलब्ध न हो।[4] बौद्ध एव जैन धर्म के प्रारम्भिक ग्रथ पालि, प्राकृत मे है किन्तु कालातर मे इन्होने भी सस्कृत भाषा को अपने ग्रथो के सृजन का माध्यम बनाया।

सुविधानुसार सस्कृत–साहित्य मे कृष्ण और राधा सम्बन्धी अध्ययन को दो भागो मे विभाजित किया सकता है –

(१) धार्मिक साहित्य और (२) लौकिक साहित्य।

(१) धार्मिक साहित्य

सामान्यत धार्मिक साहित्य मे ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतर ग्रथो का उल्लेख किया है। धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत आने वाले ब्राह्मण ग्रथो मे वेद, उपनिषद्, **रामायण**,

---

१ वरदाचार्य, वी० पूर्वोद्धृत पृ० १

२ पूर्वोक्त वही पृ०

३ मैकडॉनल ए–ए० ए हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरेचर (अनु०) शास्त्री चारूचद्र वाराणसी सवत् २०१६ पृ० ५–६

४ द्विवेदी आचार्य, कपिलदेव पूर्वोद्धृत, पृ० १–२

महाभारत, स्मृति ग्रन्थ एव पुराण आते है, जबकि ब्राह्मणेतर ग्रथो मे बौद्ध एव जैन साहित्य से सम्बन्धित रचनाओ का उल्लेख किया जाता है। प्रारम्भिक बौद्ध ग्रथ पालि एव सस्कृत भाषा दोनो मे लिखे गये। सस्कृत भाषा मे लिखे गये बौद्ध साहित्य मे राधा और कृष्ण के विषय मे कोई स्पष्ट जानकारी प्राप्त नही प्राप्त होती है। इसी प्रकार जैन–साहित्य भी प्राकृत और सस्कृत भाषा मे सृजित किये गये है। सस्कृत भाषा मे लिखे जैन ग्रथो के लेखक श्वेताम्बर एव दिगम्बर दोनो मतो से सम्बन्धित थे।[१] जैनो के प्रारम्भिक काल के अधिकाशत ग्रन्थ प्राकृत भाषा मे ही रचे गये है किन्तु कालान्तर मे जब सस्कृत भाषा का प्रचार–प्रसार हुआ तो जैनो ने भी इस भाषा को अपना लिया और अनेक सस्कृत पुराणो की रचना की।[२] यद्यपि जैन विद्वानो द्वारा रचे सस्कृत पुराणो का रचनाकाल बहुत अधिक स्पष्ट नही है, फिर भी इन पुराणो को सातवी से अठारहवी शती ई० के बीच रखा जाता है।[३] जैन पुराण को दो नामो से सम्बोधित किया जाता है– (१) दिगम्बर इसे पुराण कहते है तथा (२) श्वेताम्बर इसे चरित्र या चरित की सज्ञा प्रदान करते है।[४] सस्कृत भाषा मे लिखे गये जैन ग्रथो मे कृष्ण–सम्बन्धी वर्णन तो प्राप्त होता है किन्तु इनमे राधा का कही नामोल्लेख प्राप्त नही होता। *जिनसेन* कृत **हरिवश पुराण** (७८३ ई०)[५], *गुणभद्ररचित* **उत्तर पुराण**[६], *रविषेण* कृत **पद्मपुराण**।[७] *महासेनाचार्य* कृत **प्रद्युम्न चरित** (१०३१–१०६६ ई०)[८], आचार्य *हेमचन्द्र* रचित **त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र** (विक्रम स० १२१६ से १२२६ के मध्य)[९] आदि जैन ग्रथो मे कृष्ण–सम्बन्धी आख्यान उल्लिखित मिलते है। **हरिवश पुराण** मे कृष्ण–लीला का वृहद् वर्णन प्राप्त होता है।

---

१ शास्त्री देवेन्द्रमुनि भगवान अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण एक अनुशीलन राजस्थान १६७१ पृ० १६६
२ पाण्डेय रामनिहोर प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास इलाहाबाद १६८६ पृ० २१
३ पूर्वोक्त वही पृ०
४ पूर्वोक्त वही पृ०
५ पूर्वोक्त पृ० २२
६ शास्त्री देवेन्द्र मुनि पूर्वोद्धृत पृ० १६६
७ पाण्डेय रामनिहोर, पूर्वोद्धृत पृ० २२
८ शास्त्री, देवेन्द्रमुनि, पूर्वोद्धृत पृ० १६७
६ पूर्वोक्त पृ० १६८

इसमे कृष्ण जन्म से लेकर कृष्ण के जीवन–सम्बन्धी विविध प्रसगो जैसे कालियमर्दन कसवध, उग्रसेन की मुक्ति, सत्यभामा विवाह, रुक्मिणी–विवाह, जरासध के भय से मथुरा प्रस्थान, द्वारका निर्माण[1], आदि का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।

ब्राह्मण साहित्य के अन्तर्गत सामान्यत वेद, ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद वेदाग महाकाव्य, पुराण आदि का उल्लेख किया जाता है। **ऋग्वेद** मे राधा शब्द का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है किन्तु वहॉ उसका कृष्ण की प्रिया रूप मे न प्रयोग होकर अलग अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि विद्वानो ने शब्दोत्पत्ति के आधार पर उसे राधा से जोडने का प्रयास किया है (जैसा कि प्रथम अध्याय मे विवेचित है) किन्तु इतना स्पष्ट है कि कृष्ण की प्रिया के रूप मे राधा का वैदिक साहित्य मे स्पष्ट नामोल्लेख नही प्राप्त होता है।

कृष्ण का **ऋग्वेद सहिता** मे अनेक बार नाम उल्लिखित मिलता है जैसे– **ऋग्वेद** के अष्टम मडल के ७४वे मत्र के स्रष्टा ऋषि कृष्ण बतलाये गये है।[2] इसी प्रकार **ऋग्वेद** के अन्य स्थल पर ऋषि का नाम कृष्ण प्राप्त होता है किन्तु *आर०जी० भण्डारकर* आदि विद्वान इस कृष्ण ऋषि को देवकीपुत्र कृष्ण से भिन्न मानते है।[3] **छान्दोग्योपनिषद्** मे कृष्ण को देवकी–पुत्र तथा उन्हे गुरु घोर–आगिरस से ब्रह्म–विद्या का ज्ञान लेते हुए बताया गया है।[4] **कौषीतकि ब्राह्मण** मे आगिरस ऋषि के शिष्य रूप मे कृष्ण का नाम उल्लिखित मिलता है।[5] महाकाव्यो मे **महाभारत** (चतुर्थ शती ई०पू०)[6] को कृष्ण चरित्र से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विषय–सामग्री प्रदान करने वाला प्रमुख ग्रन्थ

---

१ जैन पन्नालाल हरिवश पुराण नई दिल्ली १९७८ पृ० ४१३२

२ भटटाचार्य सुनील कुमार कृष्ण कल्ट नई दिल्ली १९७८ पृ० १

३ भडारकर आर०जी० वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रेलीजस सिस्टम्स नई दिल्ली १९८७ पृ० १५

४ छान्दोग्योपनिषद् ३ १७ ६–७ –तदेतद्घोर–आगिरस कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाच अपिपास एव स बभूव' सोऽन्तबेलायमेतत्रय प्रतिपद्येत् अक्षितमसि अच्युतमसि प्राणसक्षितमसीति।

५ कौषीतकि ब्राह्मण – ३० ६

६ भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १

माना जाता है। इसके प्रणेता *महर्षि व्यास* थे। इस महाकाव्य मे राधा का नामोल्लेख नही प्राप्त होता है।[1] **महाभारत** मे कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास विविध रूपो मे दिखाई पडता है। **महाभारत** के वनपर्व मे मार्कण्डेय ने प्रलयकाल मे जगत को आत्मसात् करके वटवृक्ष के पत्र मे शयन करने वाले विष्णु को कृष्ण रूप बतलाया है।[2] इसके अतिरिक्त इस महाकाव्य के शान्तिपर्व का नारायणीय भाग कृष्ण के परब्रह्म स्वरूप पर प्रकाश डालता है।[3] सभापर्व मे राजसूय यज्ञ के अवसर पर कृष्ण की अग्रपूजा मे शिशुपाल आदि राजाओ के विरोध करने पर भी भीष्म कृष्ण के विष्णु स्वरूप का वर्णन करते है।[4] अत **महाभारत** मे विष्णु का कृष्ण के साथ एकीकरण स्पष्ट दिखाई पडता है।[5] **महाभारत** के शातिपर्व मे एक स्थल पर कृष्ण के लिए गोविन्द नाम भी प्रयुक्त हुआ है।[6] *मलिक मुहम्मद* ने **महाभारत** मे वर्णित कृष्ण के असख्य नामो (विष्णु नारायण, दामोदर, कृष्ण, गोविन्द, माधव वृष्णिवशीय) का उल्लेख करते हुए कहा है कि ये नाम विष्णु देव के नाम विस्तार एव उनके महत्व दोनो का द्योतक है।[7] स्पष्ट है कि ब्राह्मण–युग से ही जिस विष्णु का महत्व बढने लगा था, कालान्तर मे उसने **महाभारत** युग तक आते–आते अपने परपरित रूप को सर्वोच्च स्थान दिला दिया।[8] इतना अवश्य है कि **महाभारत** के विष्णु रूप एव ऋग्वैदिक विष्णु रूप परस्पर भिन्न थे।[9] **महाभारत**

---

१ मुशी के०एम० कृष्णावतार खड I बम्बई १६७२ पृ० १०८ मुहम्मद मलिक वैष्णव भक्ति–आन्दोलन का अध्ययन नई दिल्ली १६७१ पृ० ७६–७७

२ महाभारत वनपर्व ३ १६१

३ महाभारत शान्तिपर्व, १२ ३२१–३३६

४ महाभारत, सभापर्व २ ३३ ७–३०

५ मलिक मुहम्मद पूर्वोद्धृत, पृ० ३२–३३

६ महाभारत शातिपर्व ३४२ ७०

७ मुहम्मद मलिक, पूर्वोद्धृत, पृ० ३१

८ पूर्वोक्त पृ० ३३

६ पूर्वोक्त वही पृ०

के कुछ स्थलो मे कृष्ण के देवत्वभिन्न मानवरूप पर भी प्रकाश पडता है।[1] **महाभारत** मे एक कुशल राजनीतिज्ञ एव पाण्डवो के सलाहकार रूप मे कृष्ण पूर्णत मानव रूप मे दिखाई पडते है।[2]

पुराणो से भी राधा और कृष्ण के स्वरूप पर स्पष्ट प्रकाश पडता है। प्राचीन भारत के धार्मिक साहित्य मे पुराण ही ऐसे है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण प्रतीत होते है। उसमे उपलब्ध सामग्री भारतीय इतिहास के निर्माण मे सहायक होती है जो अन्यत्र दुर्लभ है।[3] प्रमुख पुराणो की सख्या अट्ठारह बताई गई है जो भिन्न–भिन्न समयो मे रचे गये है। पुराण–साहित्य ने भक्ति–क्षेत्र मे कृष्णावतार को अधिक व्यापक एव आकर्षक रूप प्रदान करके जनसामान्य मे उसे अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया। पुराणो मे कृष्णचरित्र के माधुर्य–पक्ष को प्रस्तुत करने पर विशेष बल दिया गया है। श्रीकृष्ण की विभिन्न रसमयी लीलाओ का भौतिक एव आध्यात्मिक स्वरूप भी पुराणो ने ही निश्चित किया है और श्रीकृष्ण को इतना दिव्य और साथ ही साथ लीलावतारी परमेश्वर बनाया कि लौकिक प्रेम का उसकी लीलाओ मे स्वाभाविक रूप से अन्तर्भाव हो गया। इस प्रकार पुराणो मे श्रृगार के इस माधुर्य योग से भक्ति के क्षेत्र मे जो उन्नयन हुआ, वह परवर्ती काल मे भक्ति सम्प्रदायो का मेरूदड बना।

पुराणो मे कृष्ण के स्वरूप का वर्णन कही विस्तार से प्राप्त होता है, तो कही सक्षेप मे। इन पुराणो मे **विष्णुपुराण**, **श्रीमद्भागवत पुराण**, **हरिवश पुराण**, **पद्मपुराण**, **ब्रह्मवैवर्त पुराण** आदि का नाम कृष्ण के जीवन सम्बन्धी विस्तृत विवरण देने के सन्दर्भ मे विशेष उल्लेखनीय माना जाता है, जबकि अन्य पुराण जैसे **ब्रह्मपुराण वायुपुराण**, **अग्निपुराण**, **लिगपुराण**, तथा **देवीभागवत** आदि मे कृष्ण–सम्बन्धी विवरण सक्षिप्त रूप

---

१ पाण्डे वीणापाणि हरिवश पुराण का सास्कृतिक विवेचन १९६० पृ० ६

२ पूर्वोक्त, वही पृ०, उपाध्याय, बलदेव पूर्वोद्धृत, पृ० ३३

३ पाण्डेय रामनिहोर, पूर्वोद्धृत पृ० १४, वरदाचार्य वी० पूर्वोद्धृत पृ० ८०

मे प्राप्त होता है।[1] इनमे **भागवतपुराण** का नाम विस्तृत रूप से कृष्ण–लीला सम्बन्धी उल्लेख करने मे विशेष उल्लेखनीय है।[2] इस पुराण मे श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार बताया गया है।[3] वैसे भी **भागवतपुराण** को साहित्य की दृष्टि से अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है क्योकि इस पुराण मे भक्ति–शास्त्र का विपुल भडार समाहित है जहॉ वैष्णव धर्म मे स्वीकृत भक्ति को शास्त्रीय रूप प्रदान किया गया है। इतना ही नही वर्तमान समय मे इसे वैष्णव–धर्म की स्थापना का प्रमुख आधार भी माना जाता है।[4] भक्ति सम्प्रदाय मे इस ग्रन्थ को श्रुति के सदृश सम्मान प्राप्त है। अत इसी कारण यह वैष्णवो का अत्यन्त प्रिय पुराण माना जाता है जैसा कि **भागवतपुराण** से भी स्पष्ट होता है–

"श्रीमद्भागवत पुराणममल यद्वैष्णवाना प्रियम्'।[5]

श्रीमद्भागवतपुराण मे कृष्ण के चरित्र की प्रधानता है और उसके आदि, मध्य तथा अन्त सर्वत्र मे श्रीहरि की लीलाओ का गुणगान किया गया है।[6] **श्रीमद्भागवत** मे कृष्ण को परमब्रह्म रूप मे वर्णित किया गया है।[7] **भागवतपुराण** के द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय मे कृष्ण और बलराम के अवतारो का सकेत मिलता है।

इस पुराण का दशम स्कन्ध तो पूर्णत कृष्ण–लीलाओ से परिपूरित प्रतीत होता है। इसमे एक स्थल पर कृष्ण–बलराम दोनो भाइयो का कीचड मे घसीटते हुए चलने तथा उनके पैर के नूपुर व किकिणी के घुंघरू की ध्वनि का बहुत सुन्दर उल्लेख प्राप्त

---

१ उपाध्याय, बलदेव, पूर्वोद्धृत, पृ० ३२, पाण्डे वीणापाणि पूर्वोद्धृत पृ० १५–३०

२ हाजरा, आर०सी०, स्टडीज इन द पौराणिक रिकार्डस ऑन हिन्दू राइटस एण्ड कस्टम्स कलकत्ता १६४० पृ० ५२

३ राय एस०एन० हिस्टोरिकल एण्ड कल्चरल स्टडीज इन द पुराणाज इलाहाबाद १६७८ पृ० २३०–३१

४ स्नातक विजयेन्द्र, राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य नई दिल्ली स० २०१४ वि० पृ० १५

५ श्रीमद्भागवत पुराण – १२ १३ १६–१७

६ श्रीमद्भागवत पुराण १२ १३ ११

७ वही १० ८–४५

होता है।[1] इसके अतिरिक्त इस ग्रथ मे कृष्ण के चतुर्भुज बालक रूप[2], गोपालवेषरूप[3] कालियमर्दन रूप[4] गोवर्धन–धारी[5] रूप आदि का विशद वर्णन प्राप्त होता है। **भागवतपुराण** के दशम स्कन्ध मे रासलीला का रोचक एव अत्यन्त विस्तृत अकन प्राप्त होता है।[6]

विष्णुपुराण के पॉचवे अश मे कृष्ण–लीला का चित्रण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमे गोवर्धनधारी (५ १२) कालियदमन (५ ७) कसवध (५ २०), रास–लीला (५ १३) आदि प्रमुख है। **अग्निपुराण** के द्वादश अध्याय मे कृष्णावतार की कथा एव कृष्ण बाललीला का अत्यन्त विस्तृत वर्णन हुआ है। **अग्निपुराण** मे कृष्ण को भाद्रपद की कृष्णाष्टमी की अर्द्धरात्रि मे चतुर्भुज रूप मे प्रकट होने का उल्लेख प्राप्त होता है।[7] **हरिवशपुराण** मे भी कृष्ण चरित्र का व्यापक चित्रण प्राप्त होता है। इसी पुराण के नानाविध स्थल कृष्ण को विष्णु के अवतार स्वरूप बताते है।[8] **हरिवशपुराण** मे अन्यत्र कृष्ण को साख्य का पुरुष भी कहा गया है।[9] **मत्स्यपुराण** से भी कृष्ण–जन्म का वृत्तान्त प्राप्त होता है। इस पुराण मे कृष्ण को वर्षारम्भ की सर्वप्रथम अमावस्या तिथि को देवकी के सातवे गर्भ से उत्पन्न बताया है।[10] इन पुराणो के अतिरिक्त **कूर्मपुराण गरूडपुराण नारदीयपुराण, स्कदपुराण ब्रह्माण्डपुराण** इत्यादि से भी कृष्ण सम्बन्धी चरित का उल्लेख प्राप्त होता है।

---

१ श्रीमद्भागवतपुराण १० ८ २१–२२
२ वही १० ३ ६–१०
३ वही १० १४ १
४ वही १० १६–२३
५ वही, १० २५ २३
६ वही १० २६–३३
७ अग्निपुराण–१२ ६ – कृष्णाष्टम्या च नभसि अर्द्धरात्रे चतुर्भुज।
८ हरिवशपुराण – १ ५४ १३, १ ५५ ४०
६ वही ३ ८८ १८–३०
१० मत्स्यपुराण (पूर्व भाग) ४६ १४ – प्रथमा या अमावास्या वार्षिकी तु भविष्यति।
तस्या जज्ञे महाबाहु पूर्वं कृष्ण प्रजापति ।।

पुराणो मे राधा के स्वरूप का विशद रूप से वर्णन प्राप्त होता है। यद्यपि सस्कृत साहित्य के काव्य, व्याकरण एव आख्यान आदि मे राधा का उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु उसका स्वरूपाख्यान एव सर्वांगीण विकास पुराणो मे ही दिखाई देता है। पुराणो मे राधा के आध्यात्मिक स्वरूप का जो वर्णन प्राप्त होता है वह इससे पूर्व अन्यत्र दुर्लभ था। वैष्णव साधना का प्रमुख आधार माने जाने वाले ग्रथ **भागवतपुराण** मे राधा का नाम स्पष्टत उपलब्ध नही होता है। **भागवतपुराण**[1] के एक श्लोक मे आये 'अनयाराधितो' पद का विद्वानो ने राधा से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है किन्तु इस श्लोक मे कृष्ण की विशिष्ट गोपी का सकेत मिलता है, न कि राधा नाम का। **भागवतपुराण** मे रासलीला के दिये इस वर्णन मे राधा के अप्रत्यक्ष रूप से अस्तित्व को स्वीकारा जा सकता है। **हरिवशपुराण** एव **विष्णुपुराण** जैसे प्रसिद्ध वैष्णव ग्रथ मे भी राधा का नामोल्लेख नही प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध मे *विजयेन्द्र स्नातक* का विचार है कि इन दोनो पुराणो के रचनाकाल तक सभवत कृष्ण लीलाओ मे राधा को प्रमुखता न मिली हो।[2]

राधा का स्पष्ट एव विशद् रूप से उल्लेख सर्वप्रथम **ब्रह्मवैवर्तपुराण** मे प्राप्त होता है।[3] राधा की उत्पत्ति, स्वरूप आदि का इस पुराण मे आख्यान शैली मे विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार कृष्ण एव राधा की रासलीलाओ का भी सविस्तार वर्णन प्राप्त होता है। **ब्रह्मवैवर्तपुराण** मे एक स्थल पर रासमडल का बहुत रोचक वर्णन किया है– कि पुरुषोत्तम जगदीश्वर को गोलोक के रमणीय वृदावन का रास मडल जो कि मालती एव बेला के जगल से युक्त तथा सैकडो शिखरो से सुशोभित पर्वत वाले था, मे रमण करने की इच्छा हुई और वे दो भागो मे विभक्त हो गये। उनका दाहिना

---

१ भागवत पुराण – १० ३० २४

२ स्नातक विजयेन्द्र पूर्वोद्धृत पृ० १८६

३ पाडे सुस्मिता बर्थ ऑव भक्ति इन इडियन रेलीजन्स एण्ड आर्ट नई दिल्ली १६८२ पृ० १६१

भाग भगवान श्रीकृष्ण रूप मे तथा अर्द्धांग बाया भाग राधिका रूप मे परिणत हुआ। वह रमणी रास की अधीश्वरी और रमण करने के लिए उत्सुक थी। उसने उन सुन्दर प्रियतम को देखकर उन्हे अपने अक मे धारण किया और इसी कारण प्राचीनवेत्ता उसे राधा कहते है।[1] राधा कृष्ण को भजती है और भगवान कृष्ण राधा को भजते है। वे दोनो आपस मे सभी कुछ मे समान है।[2] इस पुराण मे ब्रह्माजी द्वारा राधा और कृष्ण के सविधि विवाह का भी उल्लेख किया गया है।[3] **ब्रह्मवैवर्तपुराण** मे अन्यत्र कृष्ण द्वारा राधा शब्द के उच्चारण करने के महत्व पर प्रकाश भी डाला गया है।[4] पुन कृष्ण कहते है कि राधे! मुझे तुम उतनी प्रिय नही हो, जितना राधा शब्द कहने वाला प्रिय है।[5]

पद्मपुराण मे राधा का अति विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। इस पुराण मे एक स्थल पर राधा को आद्या प्रकृति एव कृष्ण की वल्लभा कहा है। दुर्गा आदि त्रिगुणमयी देवियाँ उसकी कला के करोडवे अश को धारण करती है तथा उनके चरण–रज के स्पर्शमात्र से करोडो विष्णु उत्पन्न होते है।[6] **पद्मपुराण** मे अन्यत्र राधा को मूल प्रकृति कहा गया है और उस प्रकृति के अश रूप मे नाना गोपियाँ विराजमान है।[7] इस पुराण मे राधा को विद्या तथा अविद्यारूपिणी, परा, त्रयी, शक्तिरूपा, मायारूपा चिन्मयी, देवत्रय की उत्पादिका तथा वृन्दावनेश्वरी कहा गया है जिसका आलिगन करके वृन्दावनेश्वर सर्वदा आनन्दमग्न रहते है।[8] **पद्मपुराण** मे राधा के जन्म के विषय मे कहा गया है कि

---

१ ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृति खड ४८ २६–३०, ३७

२ ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृति खड ४८ ३८ – राधा भजति त कृष्ण स च ता च परस्परम।
उभयो सर्वसाम्य च सदा सन्तो वदन्ति च।।

३ ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृतिखड ४६ ४३

४ ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्णजन्मखड (पूर्वार्द्ध) – १५ ७२–७३

५ ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्णजन्मखड (पूर्वार्द्ध) – १५ ७४ – प्रिया न मे तथा राधे राधावक्ता ततोऽधिक ।

६ पद्मपुराण पातालखण्ड ६६ ११८

७ पद्मपुराण पातालखड ७० ४ – ललिताद्या प्रकृत्यशामूलप्रकृति राधिका।

८ पद्मपुराण पातालखड ७७ १३–१७

उनका प्राकट्य भादो मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी को दिन मे वृषभानु की यज्ञभूमि मे हुआ था।[1] इस पुराण के ब्रह्मखण्ड के सप्तम अध्याय मे ही राधाष्टमी के व्रत का भी पूर्ण विधान प्रस्तुत किया गया है। *आर०सी० हाजरा* ने **पद्मपुराण** का रचनाकाल छठी शती ई० के बाद से लेकर चौदहवी शती ई० के बीच माना है।[2] *फर्क्हर* ने इस पुराण के कुछ अशो की रचना को सोलहवी शती के बाद का भी माना है।[3]

देवीभागवतपुराण मे भी राधा के विषय मे स्पष्ट प्रकाश पडता है। इस पुराण के नवम् स्कन्ध के ५०वे अध्याय मे राधा के मत्र का स्वरूप, जपविधि तथा फल का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त **देवीभागवत** के नवम् स्कन्ध मे राधा की अर्चना के बिना कृष्ण की अर्चा करने का किसी को अधिकार नही है वर्णित किया गया है।[4] इसमे एक स्थल कहा गया है कि राधा कृष्ण को प्राणो से भी अधिक प्रिय है और व्यापक परमात्मारूप कृष्ण राधा के अधीन सर्वदा रहते है तथा उनके बिना वे क्षण–भर भी नही रहते।[5] **देवीभागवतपुराण** का रचना काल ग्यारहवी या बारहवी शती के आस माना जा सकता है।[6] **मत्स्यपुराण** मे राधा को वृदावन की अराधित देवी के रूप मे उल्लेख किया गया है।[7] *सुष्मिता पाण्डे* ने भी इस बात की पुष्टि की है।[8] इन

---

१ पद्मपुराण ब्रह्मखड ७ ४० ४१ – भाद्रेमासिसितेपक्षेअष्टमी सञ्ज्ञिकेतिथौ।
वृषभानोर्यज्ञभूमौजातासाराधिकादिवा।।

२ हाजरा आर०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १८१–८२

३ फर्कुहर, जे०एन० एन आउटलाइन ऑव द रेलीजस् लिटरेचर ऑव इडिया लदन १९२० पृ० २३२

४ देवीभागवतपुराण नवम स्कन्ध ५० १६

५ वही नवम स्कन्ध ५० १७ – कृष्णप्राणाधिका देवी सा तदधीनो विभुर्यत।
रासेश्वरी तस्य नित्य तया हीनो न तिष्ठति।।

६ चक्रवर्ती कुणाल रेलीजस् प्रोसेस द पुराणाज एण्ड द मेकिग ऑव ए रीजनल ट्रेडीशन नई दिल्ली २००१ पृ० ५०

७ मत्स्यपुराण – १३ ३८

८ पाण्डे सुस्मिता, पूर्वोद्धृत पृ० १६१

पुराणो के अतिरिक्त **वायुपुराण, वराहपुराण, नारदीयपुराण, आदिपुराण, स्कदपुराण** प्रभृति मे भी राधा का सक्षिप्त रूप से उल्लेख प्राप्त होता है। *शशिभूषण दासगुप्त* ने भी इस बात की पुष्टि की है।[१]

पुराणो मे राधा का इतना विशद् उल्लेख प्राप्त होने के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्कालीन समाज मे राधा भक्ति का पूर्णत विकास हो चुका था और वैष्णवो ने इसे अपने इष्ट देवता कृष्ण की अधीश्वरी के रूप मे स्वीकार कर लिया था।

लौकिक साहित्य

धार्मिक–साहित्य के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय विद्वानो ने अनेक धर्मेतर ग्रथो का भी प्रणयन किया है जिसे हम लौकिक–साहित्य के नाम से भी जानते है।[२] लौकिक–साहित्य के अन्तर्गत ऐतिहासिक एव अर्द्धऐतिहासिक ग्रन्थो तथा जीवनियो का विशेष रूप से उल्लेख किया जाता है जिससे भारतीय इतिहास को जानने मे सहायता मिलती है। सस्कृत भाषा मे प्राप्त लौकिक–साहित्य का अपना विशिष्ट स्वरूप दिखाई पडता है।

कृष्ण और राधा का उल्लेख अनेक सस्कृतनिष्ठ धर्मेतर ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। *पाणिनिकृत* **अष्टाध्यायी**[३] और *पतजलि के* **महाभाष्य**[४] मे कृष्ण का उल्लेख प्राप्त होता है। *एच०सी० रायचौधरी* ने **अष्टाध्यायी** का समय ई० पू० पॉचवी शताब्दी माना है।[५]

---

१ दासगुप्त शशिभूषण राधा का क्रम विकास दर्शन और साहित्य मे वाराणसी १९५६ पृ० १११–११२

२ पाण्डेय रामनिहोर प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास इलाहाबाद १९८६ पृ० २२

३ पाणिनि अष्टाध्यायी ४ ३ ९८

४ पतजलि महाभाष्य ३ २ १११ ३ १ २६

५ रायचौधरी एच०सी० अर्ली हिस्ट्री ऑव द वैष्णव सेक्ट कलकत्ता १९३६ पृ० २८–३०

पतजलि के **महाभाष्य** का रचनाकाल भी ३५० ई० के आस–पास माना जाता है।[1] किन्तु पतजलि पुष्यमित्र शुग के पुरोहित थे और पुष्यमित्र शुग ने द्वितीय शती ई०पू० (१८४ ई० पू०–१४८ ई० पू०) मे शासन किया था।[2] इस आधार पर पतजलि का समय द्वितीय शती ई०पू० माना जा सकता है। राधा का इन दोनो ग्रन्थो मे उल्लेख नही प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट होता है कि ई०पू० पॉचवी से लेकर ई०पू० द्वितीय शती तक राधा का नाम जनसामान्य मे प्रचलित नही हुआ था। सस्कृत–साहित्य के गौरव को अभिवर्द्धन करने वाले ग्रथ *अमरसिह* कृत **अमरकोश** (पॉचवी शती ई०)[3] का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ मे विष्णु के अनेक नामो के सन्दर्भ मे कृष्ण नामोल्लेख प्राप्त होता है[4] किन्तु इसमे राधा का (व्यक्तिवाची) कही भी उल्लेख प्राप्त नही होता है। राधा का सस्कृत साहित्य (लौकिक साहित्य) मे सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख पॉचवी शताब्दी के *विष्णुशर्मा* द्वारा रचित **पचतत्र** नामक ग्रन्थ मे प्राप्त होता है।[5] इसमे श्रीकृष्ण की प्रेयसी एव विशेषप्रिय पात्र गोपी के रूप मे राधा शब्द का प्रयोग किया गया है। **पचतत्र** मे इससे सम्बन्धित एक कथा उल्लिखित मिलती है, जो इस प्रकार है– कि किसी ततुवाय का पुत्र, जिसका नाम कृष्ण था, किसी राजकन्या के प्रेम मे आबद्ध हो जाता है और अतपुर मे गुप्त रूप से राजकन्या से मिलने के लिए अपने एक मित्र (बढई) की सहायता लेता है। तत्पश्चात उसने उडने के लिए लकडी का गरूड (विष्णु का वाहन) तथा अपने और दो हाथ लकडी के लगवाये। इस प्रकार चतुर्भुजी विष्णु का रूप धारण करके वह राजमहल के अतपुर मे पहुॅचता है। इस चतुर्भुजी गरूडारूढ पुरुष को विष्णु

---

१ भट्टाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत पृ० १

२ पाण्डेय रामनिहोर पूर्वोद्धृत, पृ० ४८७

३ भटटाचार्य सुनील कुमार पूर्वोद्धृत, पृ० १७

४ (अमरसिह कृत) अमरकोश प० रामस्वरूपकृत भाषाटीका, बबई, सवत् १६६२ प्रथम काण्ड पृ० ८–६ श्लोक न० १८

५ स्नातक, विजयेन्द्र, पूर्वोद्धृत पृ० १८३, उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० ३६०

समझकर वह राजपुत्री बोली– "कहाँ मैं अपवित्र मानुषी और कहाँ आप त्रैलोक्य के पावन महाप्रभु।' इस पर वह कौलिक कहता है– कि हे सुभगे! तुम यह तो सच बात कह रही हो परन्तु राधा नामक गोपकुल मे उत्पन्न तुम पहले मेरी भार्या थी अब तुम इस रूप मे उत्पन्न हुई हो। इसलिए मेरा अनुराग तुम्हारे प्रति स्वाभाविक है और इसलिये मै तुम्हारे पास आया हूँ।[1]

भट्टनारायण द्वारा रचित **वेणीसहार** नामक नाटक मे राधा और कृष्ण का एक प्रेमी युगल के रूप मे उल्लेख प्राप्त होता है। *बलदेव उपाध्याय* ने **वेणीसहार** को ७५० ई० के आस–पास की रचना माना है।[2] इस नाटक मे एक स्थल पर रास–लीला के रोचक प्रसग के सदर्भ मे कृष्ण और राधा की छवि को उभारने का प्रयास किया गया है– यमुना के किनारे रासक्रीडा मे प्रेम का त्याग करके कुपित राधा कही चली गई। भगवान कृष्ण उसे खोजने के लिए इधर–उधर घूमने लगते है और राधा के पद–चिन्हो पर अपना पैर रखकर रोमाचित हो जाते है। प्रेम की इस पराकाष्ठा एव अभिव्यक्ति को देखकर राधाजी प्रसन्न हो जाती है और कृष्ण के प्रेम की दृढता को देखकर उन्हे वह बडे प्रेम से देखने लगती है।[3]

वेणीसहार के इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि आठवी शती से पूर्व तत्कालीन साहित्य मे राधा और कृष्ण की रासलीला को यथेष्ट स्थान प्राप्त हो चुका था।[4]

---

१ शर्मा विष्णु पचतन्त्रम्, प्रथम तत्रम् कथा ५, पृ० ८४–८५–
कौलिक आह–सुभगे! सत्यमभिहित भवत्या पर कितु राधा नाम मे भार्या गोपकुलप्रसूता प्रथममासीत्।
सा त्वमत्रावतीर्णा। तेनाहमायात। इत्युक्ता सा प्राह।
२ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० ७
३ भटटनारायण वेणीसहार प्रथम अक श्लोक–२–
कालिन्द्या पुलिनेषु केलि कुपितामुत्सृज्य रासे रस।
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषा कसद्विषो राधिकाम्।।
तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्योद्भूतरोमोद्गते।
रक्षुण्णोऽनुनय प्रसन्नदयिता दृष्टस्य पुष्णातु व।।
४ लोढ़ा कल्याणमल, भारतीय साहित्य मे राधा नई दिल्ली, १९८८ पृ० २०

नवी शती की *आनन्दवर्धन* द्वारा कृत **ध्वन्यालोक** नामक प्रसिद्ध रचना मे राधा–कृष्ण से सम्बन्धित दो श्लोक प्राप्त होते है। इसमे एक श्लोक मे कृष्ण द्वारा उद्धव से राधा का कुशलक्षेम पूछने का उल्लेख हुआ है, जो इस प्रकार है– हे भद्र! उन गोपवधुओ के विलास–सुहृत् और राधा के गुप्त साक्षी कालिन्दीतटवर्ती लतागृह कुशल से तो है। अब मदन शय्या के निर्माण के लिए मृदु किसलयो के तोडने का प्रयोजन न रहने पर, वे पल्लव नीले रग के होकर पुराने पड जाते होगे।[1] इसी प्रकार ध्वन्यालोक के एक अन्य पद्य मे राधा और कृष्ण का उल्लेख प्राप्त होता है।[2]

ग्यारहवी शती के प्रसिद्ध कवि *क्षेमेन्द्र* ने **दशावतारचरित** नामक ग्रन्थ मे भगवान विष्णु के दस अवतारो का बडा विशद् उल्लेख किया है जिसमे कृष्णावतार का भी अत्यन्त रोचक वर्णन प्राप्त होता है। *क्षेमेन्द्र* ने कृष्ण की वृदावन लीला के प्रसग मे राधा का नामोल्लेख किया है। कवि ने अपने ग्रन्थ मे राधा को कृष्ण की प्रधान प्रेयसी के रूप मे चित्रित करने का प्रयास किया है। एक स्थल पर राधा को कृष्ण की सर्वप्रिय वल्लभा कहा है–

प्रीत्ये बभूव कृष्णस्य श्यामानिचयचुम्बिन ।
जाती मधुकरस्येव राधेवाधिकवल्लभा ।।[3]

---

१ दाहाल आचार्य लोकमणि लीला सस्कृत–हिन्दी व्याख्या द्वयोपेत वाराणसी दिल्ली १९९१ (आनन्दवर्धनकृत) ध्वन्यालोक द्वितीय उद्योत कारिका ५, पृ० १५६
तेषा गोपवधूविलाससुहृदा राधारह साक्षिणा
क्षेम भद्रकलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुछेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठी भवन्ति विगलन्नीवीत्त्विष पल्लवा ।।

२ पूर्वोक्त तृतीय उद्योत कारिका ४०, पृ० ६२६

३ (स) प्रसाद दुर्गा एण्ड पाण्डुरग काशीनाथ दशावतारचरितम् (क्षेमेन्द्र प्रणीत) नई दिल्ली, पुर्नमुद्रित १९८३ श्लोक न० ८३ पृ० ८२

अर्थात् भौरे को सभी पुष्पो मे जिस प्रकार जाती का पुष्प सर्वप्रिय होता है उसी प्रकार गोपागना–समूह मे कृष्ण को राधा सर्वाधिक प्रिय है।

क्षेमेन्द्र ने अपने काव्य ग्रन्थ मे राधा और कृष्ण के सयोग एव वियोग दोनो पक्षो के चित्रण को प्रस्तुत करने मे सिद्धहस्तता प्राप्त की है। कृष्ण के मथुरा जाते समय कवि ने राधा और कृष्ण की विरहावस्था का बहुत सजीव वर्णन किया है। कृष्ण के वियोग मे एक स्थल पर राधा को नई वर्षा ऋतु के समान बताया है।[1]

विल्हण ने भी सस्कृत मे उच्चकोटि के ऐतिहासिक काव्य **विक्रमाकदेवचरित** की रचना की। यह कल्याणी के चालुक्यवशीय शासक विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६–११२७ ई०)[2] की राजसभा मे निवास करता था। अत *विल्हण* का समय ग्यारहवी शती ई० का उत्तरार्द्ध और बारहवी शती ई० का प्रथम चरण माना जा सकता है। *विल्हण* ने **विक्रमाकदेवचरित** के प्रारम्भ मे विष्णु की वदना करते समय विष्णु की स्मृति मे उतरती राधा का उल्लेख करते हुए लिखा है– भगवान विष्णु के वक्ष पर शोभित, वह कौस्तुभ मणि आप लोगो को आनन्द प्रदान करे जिसमे प्रतिबिम्बित लक्ष्मी को देखकर विष्णु को यमुना की धारा मे जल–क्रीडा करती हुई राधा का स्मरण हो आता है।[3] **विक्रमाकदेवचरित** मे अन्यत्र भी राधा और कृष्ण की लीलाओ का उल्लेख हुआ है।

---

१ दशावतारचरितम् पूर्वोद्धृत श्लोक न० १७६ पृ० ६१ –
राधा–माधव विप्रयोग–विगलज्जीवोपमानैर्मुहु–
र्वाष्पै पीनपयोधराग्रगलितै फुल्लत्कदम्बाकुला।
अच्छिन्न–श्वसनेन वेगगतिना व्याकीर्यमाणे पुर
सर्वाशा–प्रतिबद्ध–मोह–मलिना प्रावृण्नवैवाभवत्।।

२ शास्त्री नीलकठ दक्षिण भारत का इतिहास बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी २००२ पृ० १७४

३ (स) भारद्वाज विश्वनाथ शास्त्री विक्रमाकदेवचरितम् महाकाव्यम् (विल्हणकृत) प्रथम भाग बनारस १९५८ प्रथम सर्ग श्लोक न० ५, पृ० ५
सान्द्रा मुद यच्छतु नन्दको व सोल्लासलक्ष्मीप्रतिबिम्बगर्भ।
कुर्वन्नजस्र यमुना–प्रवाह सलीलराधास्मरण मुरारे।।

बलदेव उपाध्याय[1] ने अनेक अन्य सस्कृत ग्रन्थो की ओर ध्यान आकर्षित किया है जिसमे राधा कृष्ण विषयक प्रसगो का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमे *त्रिविक्रम भटट* कृत **नलचम्पू**, *टीकाकार वल्लभदेव* द्वारा *माघकृत* **शिशुपालवध** की टीका **सस्कृत कविता–सग्रह कवीन्द्रवचन समुच्चय** (जिसके सकलनकर्ता का नाम अज्ञात है) आदि विशेष उल्लेखनीय है। इन ग्रन्थो का समय दसवी शती के आस–पास माना जाता है।[2]

सस्कृत–साहित्य मे राधा और कृष्ण का स्पष्ट एव विशद् उल्लेख *जयदेव* कृत **गीतगोविन्द** मे मिलता है। **गीतगोविन्द** सस्कृत–काव्य मे अपनी शैली के कारण एक श्रेष्ठ कृति मानी जाती है। *जयदेव* बगाल के अन्तिम स्वतन्त्र हिन्दू राजा लक्ष्मणसेन (११७६–१२०३ ई०) के राजसभा के सम्मानीय कवि थे।[3] *जयदेव* के पिता का नाम भोजदेव तथा माता का नाम राधादेवी था।[4] *जयदेव* का विवाह पद्मावती नामक कन्या के साथ हुआ था[5] और उसके ही जीवनकाल मे ही *जयदेव* ने **गीतगोविन्द** की रचना जैसा कि इस गीतकाव्य से स्पष्ट होता है–

> वाग्देवताचरितचित्रितचित्तसद्मा
> पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती।
> श्रीवासुदेवरतिकेलिकथासमेत–
> मेत करोति जयदेवकवि प्रबन्धम्।।[6]

जयदेव द्वारा रचित **गीतगोविन्द** उनकी एकमात्र ऐसी उपलब्ध कृति है जिसमे भगवान श्रीकृष्ण एव रासेश्वरी श्रीराधाजी की ललित–लीलाओ का चित्रण अतिविस्तार

---

१ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० ३–६
२ पूर्वोक्त
३ मुशी के०एम०, पूर्वोद्धृत पृ० १०८ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत पृ० २४३
४ उपाध्याय बलदेव सस्कृत–वाड्मय का वृहत् इतिहास चतुर्थ खड लखनऊ १९९७ पृ० ४८६
५ उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत २४५
६ (स०) वात्स्यायन कपिला गीतगोविन्द (जयदेवकृत) इलाहाबाद १९८३ प्रथम सर्ग श्लोक न० २ पृ० ९७

से हुआ है। अत इसी कारण सस्कृत–काव्य मे **गीतगोविन्द** को **मेघदूत** काव्य के सदृश स्थान प्राप्त है। इस सम्बन्ध मे *कपिला वात्स्यायन*[1] ने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिस युग मे **मेघदूत** काव्य की रचना हुई थी तब सस्कृत–काव्य एव नाटक–साहित्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था, किन्तु जब **गीतगोविन्द** का सृजन हुआ तो उस समय तक सस्कृत–काव्य का ह्रास हो चुका था और उसमे मात्र शब्दो का अलकरण एव कौशल ही अवशेष था। अत ऐसे वातावरण मे **गीतगोविन्द** का सस्कृत–काव्य के क्षेत्र मे पुन जीवन प्रदान करने के कारण महत्व द्विगुणित हो जाता है। **गीतगोविन्द** मे इसके अतिरिक्त अर्थ और भाव का श्रृगार और अध्यात्म का सगीत और ताल का जो अद्भुत सम्मिश्रण दिखाई पडता है, वह अन्यत्र काव्य मे अनुपलब्ध प्रतीत होता है।[2]

बारहवी शती के उत्तरार्द्ध मे लिखे इस काव्यग्रन्थ ने तत्कालीन भारतीय–साहित्यिक जगत को एक नवीन मोड प्रदान किया जिसमे विषय की नवीनता, विचारो की मौलिकता तथा अभूतपूर्व शैली एव नई गतिविधियो का सन्निवेश था।[3] यद्यपि इस परिवर्तन का मूल तत्व प्राचीन परम्परा मे पहले से ही विद्यमान था किन्तु अन्तर केवल अब इतना है कि यह उचित समय आने पर प्रस्फुटित हो गया। इससे पहले भी श्रृगारिक रचनाओ का सृजन हुआ किन्तु उनमे नायक–नायिका को अनिर्दिष्ट रखा जाता था और उनका नामोल्लेख न करके 'स'– सा' आदि सर्वनाम रूपो से ही काम चला लिया जाता था किन्तु बारहवी शती ई० मे श्रृगारिक रचनाओ की सख्या मे अत्यधिक वृद्धि हो जाने से इन रचनाओ मे व्यक्ति विशेष की श्रृगारिक चेष्टाओ एव भावनाओ का अद्भुत समावेश किया जाने लगा। इसके अतिरिक्त इन रचनाओ मे भक्ति और श्रृगार का अद्भुत मिश्रण प्रयोग किया जाने लगा और इनमे निर्दिष्ट

---

१ (स०) वात्स्यायन कपिला पूर्वोद्धृत पृ० ६

२ पूर्वोक्त पृ० १०

३ द्विवेदी प्रेमशकर गीतगोविन्द 'साहित्यिक एव कलागत अनुशीलन खड I वाराणसी १९८८ पृ० २१

नायक–नायिका की भूमिका निभाने का कार्य कृष्ण और राधा ने किया। यद्यपि अनेक रचनाएँ सीताराम तथा शिव–पार्वती को लेकर भी रची गई किन्तु वह राधा और कृष्ण की लीलाओ के समक्ष अपने प्रभाव को स्थापित कर सकने मे असमर्थ सिद्ध हुई।[1] इस सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि बारहवी शती ई० मे बगाल मे कृष्ण और राधा की उपासना का उदय हो रहा था और राधा–कृष्ण की इस शृगारिक उपासना के विकास पर बौद्ध तान्त्रिक पद्धति का पूर्णत प्रभाव था, जिसे ऐतिहासिक दृष्टि से भी पूर्णसम्मत माना जा सकता है।[2] इसी परिवेश ने *जयदेव* के **गीतगोविन्द** मे राधा और कृष्ण को एक शृगारिक नायिका एव नायक के रूप मे चित्रित करने को प्रेरित किया होगा।

जयदेव के **गीतगोविन्द**[3] मे १२ सर्ग तथा २४ प्रबन्ध है। इस काव्य मे केवल तीन चरित्र है– सखी राधा और कृष्ण। ग्रन्थारम्भ मे मगलाचरण प्रस्तावना ग्रथ का प्रयोजन एव कवि परिचय स्पष्ट रूप से दिया गया है। प्रथम चार पद्य क्रमश शार्दूलविक्रीडित वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, तथा पुन शार्दूलविक्रीडित जैसे प्रसिद्ध वर्णित वृत्तो मे से है। इसके अनन्तर इस काव्य मे दशावतारो का वर्णन भी विशेष महत्व रखता है जो मालवराग और रूपकताल मे उपनिबद्ध है। **गीतगोविन्द** के प्रत्येक गीत को प्रबन्ध कहा गया है और प्रबन्ध के प्रारम्भ मे प्रसिद्ध वर्णिक वृत्तो मे वर्ण्य–विषय का निर्देश दिया गया है।

काव्य–वर्णन

गीतगोविन्द मे स्थित प्रत्येक सर्ग अपने छोटे कथानक से ही अतिम तात्पर्य की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित कर लेता है। प्रत्येक सर्ग के भिन्न–भिन्न अभिधान बडे

---

१ द्विवेदी, प्रेमशकर पूर्वोद्धृत वही पृ० २१

२ पूर्वोक्त वही पृ०

३ उपाध्याय बलदेव, संस्कृत–वाऽमय का वृहत् इतिहास पूर्वोद्धृत पृ० ४८६

ही ललित एव अन्वर्थक है। प्रथम सर्ग मे काव्य का आरम्भ बसत ऋतु से होता है जिसमे प्रकृति अपने द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओ से शृगार किये हुए है। इसके साथ–साथ इस सर्ग मे श्रीकृष्ण का अन्य वज्रगोपियो के साथ केलि–सम्पादन का भी बहुत विस्तृत एव सुन्दर वर्णन किया गया है। एक स्थल पर कहा गया है–

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे।।
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते
नृत्यति युवतिजनेन सम सखि विरहिजनस्य दुरन्ते।।[1]

अर्थात् सुन्दर लौग लता, मलय समीर से युक्त एव भ्रमर–समूह तथा कोकिलो की कूँज से गुजायमान वन मे वसत ऋतु के अवसर पर कृष्ण अनेक व्रजयुवतियो के साथ नृत्य–लीला कर रहे है। इसी प्रकार सम्पूर्ण सर्ग मे मधुमास की सुन्दर झॉकी प्रस्तुत की गई है। द्वितीय सर्ग[2] मे राधा कृष्ण द्वारा किये गये इस दुर्व्यवहार से दु खी एव क्रोधित होकर अकेली कुज मे सताप करती हुई वर्णित की गई है और अचानक सखी के पहुँचने पर कृष्ण को स्वय से मिलाने के लिए प्रार्थना करती है। इस प्रकार काव्यकार ने इस सर्ग मे विरहणी राधा का बहुत सजीव चित्रण किया है। तृतीय सर्ग मे कृष्ण को अपने आचरण पर राधा की अवहेलना पर पश्चाताप होता है। अत वह राधा

---

१ (स०) वात्स्यायन कपिला गीतगोविन्द (जयदेवकृत) प्रथम सर्ग प्रबन्ध ४ श्लोक न० १ पृ० १००

२ पूर्वोक्त द्वितीय सर्ग प्रबन्ध ६ श्लोक न० १ पृ० १०३–
विहरति वने राधा साधारणप्रणये हरौ
विगलितनिजोत्कर्षादीर्ष्यावशेन गतान्यत।
क्वचिदपि लताकुजे गुजन्मधुव्रतमण्डली–
मुखरशिखरे लीना दीनाप्युवाच रह सखीम्।।

को अपने हृदय मे प्रतिष्ठित कर व्रज–सुन्दरियो को छोड देते है।[1] साथ ही राधा की खोज मे असफल होकर कृष्ण यमुना के तट के निकट बने कुज मे विषाद करने लगते है। इस प्रकार कृष्ण के विरहावस्था का जो चित्रण *जयदेव* ने अपने **गीतगोविन्द** मे किया है वह अन्यत्र सस्कृत–काव्य मे अनुपलब्ध होता है। अत इसे *जयदेव* की मौलिक विशेषता माना जा सकता है।

जयदेव ने **गीतगोविन्द** के चतुर्थ सर्ग मे राधा की सखी को कृष्ण की खोज मे भ्रमण करते हुए बताया है और तत्पश्चात् दु खी कृष्ण को ढूँढने पर राधा की विरहावस्था का वर्णन भी सखी द्वारा करवाया है। पॉचवे सर्ग मे कृष्ण द्वारा अपनी त्रुटि स्वीकारने तथा अनुनय–विनय कर राधा को मना लाने के लिए सखी को भेजने का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। सखी कृष्ण की विरह–दशा का एव उनके उत्कृष्ट अनुराग का वर्णन करके राधा से अभिसार की प्रार्थना करती है।[2] यहॉ कवि ने सखी को एक दूती (सदेशवाहक) के रूप मे चित्रित किया है।

छठे सर्ग मे सखी लौटकर श्रीकृष्ण से राधा के मिलने की सूचना देती है जो वासगृह मे उत्सुकता के साथ बैठी हुई है। सखी राधा की नि सीम व्याकुलता की अभिव्यजना करते हुए कृष्ण से कहती है–कि राधा आपके अनुपस्थित आगमन की सभावना से अधकार–पटल का ही आलिगन एव चुबन करती है।[3] सातवे सर्ग मे सखी को अकेली लौटी देखकर उसे विश्वास नही होता कि वह व्रजनदन अर्थात् कृष्ण को

---

१ (स०) वात्स्यायन कपिला गीतगोविन्द (जयदेव) तृतीय सर्ग प्रबन्ध ७ श्लोक न० १ पृ० १०६ – राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरी ।

२ पूर्वोक्त पचम सर्ग प्रबन्ध १० श्लोक न० १ पृ० ११०
अहमिह निवसामि याहि राधामनुनय मद्वचनेन चानयेथा ।
इतिमधुरिपुणा सखी नियुक्ता स्वयमिदमेत्य पुनर्जगाद राधाम्।।

३ पूर्वोक्त पृ० ११३

साथ लिये बिना लौटी है।[1] इस सर्ग मे *जयदेव* ने प्रेम के वियोग पक्ष का स्पष्ट चित्रण किया है। आठवे सर्ग मे राधा को खण्डिता रूप मे कवि ने दिखाया है।[2] इस सर्ग मे राधा को बहुत दु खित होते दिखाया गया है और माधव के निकुज मे मिलने के दिये स्वय वचन पर उनके न पधारने पर वह अपने निर्मल यौवन को व्यर्थ समझती है।[3] नवे सर्ग मे *जयदेव* ने राधा को कलहान्तरिता के रूप मे वर्णित किया है।[4] दशम् सर्ग मे मानिनी राधा के मान–भजन का उल्लेख प्राप्त होता है। कवि ने व्रजनदन (कृष्ण) की ओर से राधा के मान–मर्दन करने का सफल प्रयास इस प्रकार किया है– प्रिये चारूशीले मुञ्च मयि मानमनिदानम् की अष्टपदी मे कृष्ण राधा के क्रोध की शाति के लिए नवीन श्रृगारिक उपायो के अवलम्बन को श्रेयस्कर समझते है।[5]

जयदेव के **गीतगोविन्द** के अन्तिम दो सर्गों (ग्यारहवे व बारहवे) मे सयोग–श्रृगार का पूर्णतम विकास दिखाई पडता है। प्रथम से लेकर दशम सर्ग तक राधा और कृष्ण की विरहावस्था का सजीव चित्रण मिलता है किन्तु इन दो सर्गों मे कवि ने राधा और कृष्ण के मिलनजन्य आनन्दोल्लास का बडी सूक्ष्मता एव भव्यता से उल्लेख किया है। ग्यारहवे सर्ग मे सखी अपने अथक प्रयास मे सफलता प्राप्त करती है। वह राधा को सुसज्जित करके निकुज तक पहुँचा आती है, जहाँ कृष्ण उनके मिलन की प्रतीक्षा कर रहे थे।[6] इस मिलन की चरम परिणति बारहवे सर्ग मे तब दृष्टिगत

---

१ (स०) वात्स्यायन कपिला पूर्वोद्धृत पृ० ११५

२ उपाध्याय बलदेव भारतीय वाङमय मे श्रीराधा पूर्वोद्धृत, पृ० २४७

३ (स०) वात्स्यायन कपिला पूर्वोद्धृत पृ० १२०

४ पूर्वोक्त नवम सर्ग प्रबन्ध १८ श्लोक न० १ पृ० १२१ –
अनुचिन्तितहरिचरिता कलहान्तरितामुवाच रह सखी।।

५ पूर्वोक्त पृ० १२३–२५

६ पूर्वोक्त एकादश सर्ग पृ० १२५–१२६

होती है जब माधव की करूण प्रार्थना पर राधा सुरत–शय्या को अलकृत करती है।[1] इस प्रकार राधा और कृष्ण के सामान्य एव असीम रति–केलि के वर्णन से **गीतगोविन्द** समाप्त होता है। उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि *जयदेव* ने अपने प्रसिद्ध सस्कृत–काव्य **गीतगोविन्द** मे राधा और कृष्ण के वर्णन मे श्रृगार रस के दोनो पक्षो (सयोग एव वियोग) को उभारने मे सिद्धहस्तता प्राप्त की है।

कुछ आलोचको ने *जयदेव* के **गीतगोविन्द** मे इतना विशद् श्रृगार वर्णन को देखकर इसे अश्लील–काव्य की सज्ञा प्रदान की है। किन्तु यदि देखा जायॅ तो किसी भी काव्य–साहित्य मे श्रृगार पक्ष बहुत महत्वपूर्ण होता है, क्योकि इसी श्रृगार से भक्ति का निर्माण होता है।[2] ठीक उसी प्रकार जयदेव की भक्ति भी माधुर्यभाव से पूर्ण थी जिसका उल्लेख उन्होने **गीतगोविन्द** के आरम्भ मे स्पष्ट किया है–

यदि हरिस्मरणे सरस मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमलकान्त पदावली
श्रृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्।।[3]

अर्थात् सरस मन मे विलास कला द्वारा हरिस्मरण का कौतूहल हो, तो उसी को जयदेव की कोमलकात पदावली सयुक्त मधुरवाणी को सुनना चाहिये। निसदेह जयदेव के हृदय मे कृष्ण के प्रति प्रबल उत्साह एव अगाध भक्ति थी जिसकी अभिव्यक्ति उन्होने श्रृगार के जिस विशिष्ट माध्यम से की, वह श्रृगारिक प्रतीत होना स्वाभाविक है। वैसे भी भारत मे भक्ति की परम्परा मे प्रेम, सुकुमारता, सेवा, माधुर्य उदारता मानसिक

---

१ (स०) वात्स्यायन, कपिला पूर्वोद्धृत द्वादश सर्ग प्रबन्ध २३ श्लोक न० १ पृ० १३०–
प्रसवशयने निक्षिप्ताक्षीमुवाच हरि प्रियाम्।।

२ पूर्वोक्त पृ० १२

३ पूर्वोक्त प्रथम सर्ग प्रथम प्रबन्ध श्लोक न० ३ पृ० ६७

द्रवण और अनेक कोमल भावनाये समाहित है जिनकी चरम परिणति आराध्य के साथ पूर्ण एकत्व मे प्राप्त होती है।[1] *जयदेव* द्वारा प्रयुक्त श्रृगार एव रति शब्दो का अर्थ लौकिक कृतियो मे प्रयुक्त इन शब्दो के अर्थ के रूप मे नही स्वीकार करना चाहिए, जयदेव ने व्यापक आध्यात्मिक एव भावपरक प्रतीकात्मक अर्थ मे इनका प्रयोग किया है जो सामान्य बुद्धि से परे है। जयदेव ने परब्रह्म को दिव्यनायक श्रीकृष्ण एव दिव्यनायिका श्रीराधाजी की श्रृगारिक एव ललित लीलाओ के माध्यम प्रस्तुत किया है। **गीतगोविन्द** के मगलाचरण की श्रृगारिक मनोवृत्ति इस बात का ज्वलन्त उदाहरण मानी जा सकती है–

नन्द राधा से कहते है आकाश मेघाच्छन्न है। घने तमाल वृक्षो के कारण वनो मे अँधेरा छा गया है। इसके अतिरिक्त रात भी घनघोर काली है और राधा! कृष्ण बहुत डरे हुए है। क्या तुम उसे कृपया घर तक छोड दोगी? राधा नही कैसे कह सकती है? इसके अतिरिक्त क्या राधा यह नही चाहती थी– ऐसा वातावरण इत्यादि? अतएव वे दोनो यमुना के किनारे–किनारे एक दूसरे से सटे हुए अधकार मे मनोहारी लता–कुजो तथा विशाल निर्जन वृक्षो के नीचे विविध प्रेम–क्रीडाएँ करते हुए अत्यन्त मन्थर गति से चल पडे।[2]

स्पष्टत कहा जा सकता है कि *जयदेव* ने **गीतगोविन्द** मे जिस श्रृगारिक भाव को प्रस्तुत किया, वह भक्ति की अजस्रधारा से ओत–प्रोत था। इस प्रकार *जयदेव* ने अपने काव्य मे अतिप्राचीन काल से समानान्तर रूप से चली आ रही प्रमुख दो धाराओ

---

१ (स०) वात्स्यायन कपिला पूर्वोद्धृत पृ० ३६

२ पूर्वोक्त प्रथम सर्ग प्रथम प्रबन्ध श्लोक न० १ पृ० ६७
मेघैर्मेदुरमम्बर वनभुव श्यमास्तमालद्रुमै–
र्नक्त भीरूरय त्वमेव तदिम राधे! गृह प्रापय।
इत्थ नन्दनिदेशतश्चलितयो प्रत्यध्वकुञ्जद्रुम
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहकेलय ।।

(श्रृगारिक एव धार्मिक) का अनोखा सगम इस काव्य मे किया जिसका प्रभाव कालातर मे अन्य साहित्यिक ग्रन्थो मे भी दिखाई पडता है। *एस०एन० दास गुप्ता* और *एस०के० डे* ने ए हिस्ट्री ऑव द सस्कृत लिटरेचर (पृष्ठ ६६७) मे इस सम्बन्ध मे कहा है कि यद्यपि यह काव्य श्रृगारिक स्वरूप लिये हुए है, विशेष रूप से साधारण पाठक के लिए– किन्तु हरिभक्तो के हृदय मे इसके गीत किसी भी प्रकार की यौन–भावना का सचार नही करते बल्कि उनके हृदय मे राधा और कृष्ण की अलौकिक लीलाओ का प्रकाश आलोकित करते है। यह कृष्ण रूपी परमात्मा प्राप्ति के लिए राधा रूपी आत्मा की कामना की उतनी अभिव्यक्ति नही करता। एक सच्चे वैष्णव के लिए यह राधा–कृष्ण की परम लीलाओ का एक चित्रण है जिसमे भक्त धार्मिक अनुभूति और भक्ति के साथ प्रविष्ट होता है।

स्पष्ट है कि बारहवी शती ई० तक राधा और कृष्ण का सस्कृत साहित्य मे पूर्णत विकास हो चुका था। **गीतगोविन्द** की साहित्यिक लोकप्रियता विशेष उल्लेखनीय है। इसने न केवल भारतीय साहित्य के अनेक विद्वानो को अपनी ओर आकर्षित एव प्रभावित किया अपितु ससार के अनेक विद्वत्जनो ने इसको अनेक भाषाओ मे अनूदित किया। भारतीय साहित्य प्रेमियो ने इसी कृति के अनुकरण पर अनेक ग्रन्थो की रचना की जिनमे *भानुदत्त* कृत **गीतगौरीपति** *विष्णुसुत–कल्याण* कृत **गीतगगाधर**, *मैथिलीकृष्ण दत्त* कृत **गीतगोपीपति** आदि प्रमुख है।[1] अत इसे सस्कृत–साहित्य का अमूल्य धरोहर माना जा सकता है, जिसने गीतिकाव्य परम्परा को बनाये रखने के लिए न केवल अथक प्रयास किया, अपितु राधा और कृष्ण का इतना विशद् अकन करके सस्कृत–साहित्य को गौरवान्वित किया।

---

१ वैद्य के०एल० पहाडी चित्रलकला दिल्ली १९६६ पृ० ५६

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि राधा–कृष्ण सम्प्रदाय का प्रथम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ *जयदेव* का **गीतगोविन्द** ही है। पूर्वमध्यकाल के अतिम चरण तक आते–आते राधाकृष्ण सम्प्रदाय की स्वतत्र प्रतिष्ठा हो चुकी थी– इसका प्रत्यक्ष और ठोस प्रमाण *जयदेव* की रचना मे उपलब्ध होता है। इसके पश्चात् इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित बहुसख्यक ग्रथ अनेक भाषाओ मे विरचित हुए।

•

पंचम् अध्याय

धर्म और दर्शन में राधा-कृष्ण तत्व

पचम अध्याय

धर्म और दर्शन मे राधा–कृष्ण तत्त्व

धर्म

धर्म शब्द मे जाति विशेष की सभ्यता, सस्कृति आचार–विचार रहन–सहन रीति–रिवाज तथा जीवन–प्रणाली की उन तमाम प्रक्रिया एव निदर्शन सन्निहित होता है।[1] अग्रेजी भाषा मे भी धर्म के लिए 'रिलीजन' शब्द का प्रयोग हुआ है। हमारी भाषा मे रिलीजन का कोई उचित पर्याय प्राप्त नही होता है[2]। यदि शब्दकोष मे देखा जायॅ तो रिलीजन के कई अर्थ प्राप्त होते है, जैसे– किसी जाति, मत, पथ या सम्प्रदाय के रीति अथवा आचार–कर्म, नियम, प्रयोग (व्यवहार), रीति–रिवाज, अधिनियम धार्मिक या नैतिक गुण पवित्रता अच्छे कार्य कर्त्तव्य व्यवहार के लिये निर्धारित क्रिया–विधि सत्य, न्याय, निष्पक्षता, समदर्शिता ईश्वर–भक्ति, पुण्यात्मा होने का गुण मर्यादा या शिष्टाचार, नैतिकता, नीतिशास्त्र, स्वभाव, चरित्र, आवश्यक गुण, विशेषता लक्षण उपाधि–विशेषण ढग और भक्ति आदि सभी रिलीजन के शाब्दिक अर्थ बताये गये है।[3] धर्म की परिभाषा भी हमारे दार्शनिको, चिन्तको एव मनीषियो ने अपने–अपने समय विचार और चिन्तन के परिणामस्वरूप भिन्न–भिन्न रूपो मे प्रस्तुत की है। धर्म का सामान्य अर्थ वस्तु

---

१ काणे पाण्डुरग वामन धर्मशास्त्र का इतिहास (तृतीय भाग) उत्तरप्रदेश शासन लखनऊ १६७५, इन्ट्रोडक्शन

२ देवराज सस्कृति का दार्शनिक विवेचन प्रकाशन व्यूरो उ०प्र० १६५७ पृ० ३१८, मिश्र हृदय नारायण विश्व धर्म इलाहाबाद, १६६० पृ० ३

३ आप्टे वर्मन शिवराम, द स्टूडेन्ट्स सस्कृत–इगलिश डिक्शनरी पृ० २६८

विशेष/व्यक्ति विशेष/समाज विशेष की मूल प्रकृति/स्वभाव के रूप मे किया जाता है जैसे अग्नि तत्व की मूल प्रकृति ज्वलनशीलता है जो इसका धर्म है। इस अर्थ मे भारतीय सस्कृति मे जीवन की समग्र दृष्टि एव सम्पूर्ण जीवन दृष्टि धर्म ही है। सकीर्ण अर्थ मे धर्म के अनेक अर्थ किए जाते है। **महाभारत** मे धारण करने वाले को धर्म कहा गया है और धर्म प्रजा को धारण करता है।[1] 'धारणाद् धर्म इत्याहु' के अनुसार धर्म को जीवन का मूलाधार माना जा सकता है। इसी से मनुष्य को प्रेरणा और प्रकाश उपलब्ध होता है और यही धर्म जीवन की गतिविधि और प्रगति मे सहायक होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म वस्तुत सकुचित न होकर एक विशद् महान और उदात्त भावना से प्रकाशमान होता है।

इसमे सदेह नही है कि धर्म के विभिन्न अर्थों को विभिन्न रूपो मे लिया जाता है। चाहे कोई धर्म को आचार नीति तक ही सीमित रखे, या फिर परम्परा, रीति–रिवाज या कर्मकाण्ड की निर्धारित क्रिया–विधि तक या फिर व्यक्तिगत जीवन के चरित्र और व्यवहार से सम्बन्धित गुणो को मानवतावादी दृष्टिकोण प्रदान करके उसे सर्वोपरि धर्म का नाम दे किन्तु आध्यात्मिक अर्थ मे धर्म का अर्थ ईश्वर–भक्ति से लिया जाता है जो मानव को अभिप्रेत करता है।[2] अत धर्म एक प्रकार का ऐसा आध्यात्मिक अविष्कार है जिसमे बुद्धि के द्वारा अतीत परमात्मा का अनुभव प्राप्त किया जाता है।[3] इस प्रकार धर्म क्रियात्मक एव प्राप्ति रूप है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि धर्म कर्त्तव्यो की एक व्यवस्था की अभिव्यक्ति करता है जिसमे व्यक्ति स्वय ही अपने अन्तस् मे आध्यात्मिक अनुभूति करता है और नैतिकता को जीवन मे आचरित करता है।

---

१ महाभारत कर्णपर्व १०६ ५८ – धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजा ।
यत्स्याद्धारणसयुक्त स धर्म इति निश्चय ।।

२ मिश्र हृदय नारायण पूर्वोद्धृत पृ० ४

३ वरदाचार्य वी० (अनु०) द्विवेदी कपिल देव, सस्कृत–साहित्य का इतिहास इलाहाबाद पृ० ३१८

विश्व मे जितने भी धर्म है उनका अपना महत्त्व और स्वत्व होता है किन्तु हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति की अपनी विशेष महत्ता और सत्ता रही है। यह विश्व के प्राचीनतम धर्मों मे परिगणित किया जाता है।[1] **ऋग्वेद** को हिन्दू धर्म का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। यदि हिन्दुओ के धार्मिक–विश्वासो–विचारो का विश्लेषण किया जायॅ तो हिन्दू धर्म की अनेक मान्यताएँ **ऋग्वेद** से भी पूर्व की प्रतीत होती है।[2] अत हिन्दू धर्म अनादिकाल से अनन्तकाल तक चलायमान रहा है। धर्म के उदय होने के यदि मूलस्रोत का अध्ययन करे तो स्पष्ट होता है कि मानव को जब अपनी असहायता एव असमर्थता का बोध होने लगा तो उसको यह भी विश्वास होने लगा कि अवश्य ही कोई ऐसी अज्ञात शक्ति है जो उसके स्वय के नियत्रण से बाहर है और जिस पर वह पूर्णतया आश्रित भी है। अत उसने अपने को इस अपरिमित शक्ति के समक्ष पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया और उसने आत्म–रक्षा एव उसके विनाशकारी दुष्प्रभावो से बचने के लिए उस अज्ञात शक्ति को अधिक से अधिक अपने अनुकूल बनाने के लिए उपाय प्रारम्भ कर दिये। परिणामस्वरूप मानव ने प्राकृतिक शक्तियो के प्रकोपो से बचने के लिए एव हिसक पशुओ से जीवन की रक्षा के लिए उनकी पूजा–अर्चना शुरू कर दी और धीरे–धीरे धर्म के क्षेत्र मे प्रकृति–पूजा पशु–पूजा, अग्नि–पूजा, सूर्य–पूजा, भूत–प्रेत पूजा, जादू–टोना पितृपूजा, झाड–फूॅक टोटेमवाद[3] आदि समावेश हो गया।[4] कालातर मे प्रकृति–पूजा का स्थान देव–पूजा ने ले लिया और प्रत्येक प्राकृतिक शक्ति को किसी देवता से सम्बद्ध माना जाने लगा। क्रमश इन देवताओ पर मानवीय गुणो का आरोपण

---

१ पाण्डेय सगमलाल हिन्दू धर्म विश्व के प्रमुख धर्म भारत सरकार नई दिल्ली १६६८ पृ० १

२ पूर्वोक्त

३ स्पेन्सर आनन्द अण्डर स्टैण्डिग रेलीजन थ्योरीज एण्ड मेथडोलॉजी पटियाला–नई दिल्ली १६६७ पृ० ५८

४ पाण्डेय, सगमलाल पूर्वोद्धृत पृ० IX

करके उनकी आराधना की जाने लगी और इस प्रकार हिन्दू धर्म ने धर्म के सभी उपर्युक्त तत्वो को अपने मे समाहित कर लिया। हिन्दू धर्म मे ईश्वर–प्राप्ति के अनेक मार्ग बतलाये गये है जिनमे कर्म–मार्ग, भक्ति–मार्ग ज्ञान–मार्ग एव योग–मार्ग प्रमुख है।[१] यद्यपि हिन्दू धर्म मे विविध उपासना–मार्ग है किन्तु सबका गन्तव्य एक है। इस उपासनाओ की विविधता मनुष्यो की रुचि एव उसकी धर्म–कर्म मे योग्यता (अधिकार) के कारण दिखाई पडती है।[२]

हिन्दू अपने इष्ट देवी–देवताओ की पूजा–अर्चना विभिन्न प्रकार से करते है। उनकी पूजा–पद्धति मे जीवन के प्रति आस्था निष्ठा एव अनुराग निहित होता है।[३] हिन्दू धर्म मे पूजा–पद्धति के साथ–साथ व्रत उत्सव कर्मकाण्ड एव तीर्थ को भी महत्त्व प्रदान किया गया है। व्रत उत्सव, कर्मकाण्ड और तीर्थ का भारत मे न केवल धार्मिक जीवन मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है अपितु भारत के सास्कृतिक एव सामाजिक जीवन मे भी इसने एक अमिट छाप बनाये रखी है। इनके पीछे वैज्ञानिक आधार भी है। इसी कारण आज भी हिन्दू धर्म आदिकाल से अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है।

व्रत, उत्सव, पूजन–अर्चन एव तीर्थ

व्रत शब्द की गणना सस्कृत के उन शब्दो मे होती है जिनका प्रचलन सहस्रो वर्ष प्राचीन है। *पाण्डुरग वामन काणे*[४] ने 'सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश' मे उल्लिखित व्रत सम्बन्धी अर्थ का उल्लेख किया है। इस कोश मे व्रत की उत्पत्ति वृ (वरण करना या चुनना) से मानी गई है तथा इस कोश मे व्रत शब्द के अनेक महत्वपूर्ण अर्थ भी बताये गये है जो इस प्रकार है–(१) सकल्प, आदेश, विधि, निर्दिष्ट व्यवस्था (२) वशता

---

१ पाण्डेय सगमलाल पूर्वोद्धृत पृ० ३

२ पूर्वोक्त

३ मिश्र जयशकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास दिल्ली १९६२ पृ० ६८५

४ काणे पाण्डुरग वामन धर्मशास्त्र का इतिहास (चतुर्थ भाग) पूर्वोद्धृत पृ० ३

आज्ञापरता सेवा (३) स्वामित्व अथवा रिक्थ, (४) व्यवस्था निर्धारित उत्तराधिकार क्षेत्र (५) वृत्ति व्यापार आचारिक कर्म प्रवृत्ति मे सलग्नता आचार अथवा रीति (६) धार्मिक कार्य उपासना, कर्त्तव्यता (७) कोई अनुष्ठान धार्मिक या तपस्या–सम्बन्धी कर्म या आचारण–सेवन सकल्प पुनीत कर्म, (८) सामान्य रूप से सकल्प, निश्चित हेतु (६) अन्य विशिष्ट अर्थ। *वी०एम० आप्टे* ने वृत से व्रत शब्द को व्युत्पन्न माना है।[1] इसमे उन्होने वृ का अर्थ वरण करना या चुनना तथा रक्षण करना या आवेष्टित करना ही मात्र नही माना है बल्कि वृत् शब्द का अर्थ आगे बढना या प्रवृत्त रहना या आरम्भ करना अभिमुख होना चतुर्दिक घूम जाना एक ही स्थान पर परिभ्रमण करना आदि भी माना है।[2] अत व्रत शब्द का अर्थ न केवल विधि, कर्म का क्रम या विधि आचार–विधि है, प्रत्युत इसका अर्थ चक्राकार गति या परिभ्रमण तथा वृत्ताकार मार्ग से भी है। वैदिक सहिताओ मे कही–कही व्रत को किसी देवता या देवताओ के आदेश के रूप मे लिया गया है।[3] **तैत्तिरीय सहिता** (४ ३ ११ १ २ ३) आदि इसका ज्वलन्त उदाहरण है। स्पष्ट है कि व्रत का अर्थ अति व्यापक है। हिन्दू–धर्म मे व्रत का महात्म्य पुरातन समय से लेकर आज तक विद्यमान है। इसमे तत् देवी–देवता से सम्बन्धित उपवास, पूजा–अर्चना एव धार्मिक–कर्मकाण्ड इत्यादि प्रमुख कृत्य किये जाते है।

हिन्दू–धर्म मे वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत उनके इष्टदेव विष्णु एव उनके अवतार तथा उसी से जुडे अन्य प्रसगो को सम्मिलित किया जाता है।[4] इनमे विष्णु, कृष्ण राम, राधाकृष्ण नृसिह आदि कोई एक वैष्णवो के इष्टदेव हो सकते है। धर्म मे राधा और कृष्ण तत्व का अध्ययन करने पर उनसे जुडे व्रत, उत्सव पूजन–अर्चन एव तीर्थ–स्थानो

---

१ आप्टे वी०एम० दकन कालेज रिसर्च इन्स्टीटयूट पूना के बुलेटिन तृतीय खण्ड पृ० ४०७–४८८

२ काणे पाण्डुरग वामन, पूर्वोद्धृत पृ० ३–४

३ पूर्वोद्धृत

४ पाण्डे सगमलाल पूर्वोद्धृत पृ० ४८

के महत्व पर प्रकाश पडता है। राधाष्टमी व्रत, कृष्ण–जन्माष्टमी व्रत शरद्पूर्णिमोत्सव अन्नकूट महोत्सव या गोवर्धन–पूजा आदि प्रमुख व्रतोत्सव है, जो आज भी प्रचलित है।

राधाष्टमी व्रत

भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी को राधाष्टमी का व्रत होता है। **पद्मपुराण** के ब्रह्मखण्ड के सप्तम अध्याय मे 'राधाष्टमी' के व्रत का पूर्ण विधान है। **पद्मपुराण** मे राधा के जन्म के विषय मे कहा गया है कि भादो मास के शुक्लपक्ष की अष्टमी को वृषभानु की यज्ञभूति मे राधा का प्राकट्य हुआ था।[1] इस पुराण मे राधाष्टमी के उत्तम महात्म्य की भी विस्तार से चर्चा की गई है। इसमे कहा गया है कि इस व्रत को करने से करोडो जन्मो मे किये हुए पाप और ब्रह्महत्या आदि जो महान पाप होते है वे सभी तत्क्षण मे ही नष्ट हो जाया करते है। सहस्र एकादशी के व्रतो का जो फल मनुष्य प्राप्त करता है, उससे सौ गुना अधिक राधाष्टमी के व्रत को करने से प्राप्त होता है। इतना ही नही मेरू पर्वत के तुल्य सुवर्ण का दान करने से जो पुण्य–फल प्राप्त किया जाता है, वह एक बार राधाष्टमी के करने से उससे भी शतगुण अधिक फल होता है। कन्या के सहस्र दान करने से जो पुण्य–फल मनुष्यो के द्वारा प्राप्त किया जाता है वृषभानुसुता श्रीराधा के जन्म की अष्टमी के दिन उपवास करने से वही फल प्राप्त होता है। गगा आदि तीर्थों मे स्नान करके जो फल उपलब्ध होता है, उसी फल को श्रीकृष्ण की प्रिया श्रीराधा की अष्टमी के उपवास से मनुष्य प्राप्त करता है।[2]

भाद्रपद की शुक्लाष्टमी को श्रीराधा के त्रिभुवनपावन परम पवित्र सर्वत्यागमय प्रेम की स्मृति को जगाने वाली मगलमयी परम पुण्यतिथि के रूप मनाया जाता है।[3] लगभग

---

१ पद्मपुराण ब्रह्मखड, ७४०–४१

२ पद्मपुराण ब्रह्मखड ७७–११

३ श्री राधा–माधव चितन गीताप्रेस, गोरखपुर स० २०४५, पृ० २१६

सम्पूर्ण भारत के विभिन्न स्थानो पर राधाष्टमी महोत्सव मनाया जाता है। इस महोत्सव के प्रारम्भ का उद्देश्य श्रृगार–प्रचार की अल्प–मात्र कल्पना न करके विषयासक्ति त्यागपूर्वक भगवान के प्रति केवल विशुद्ध–प्रेम के उदय होने से है।[1] आज भी ब्रज के प्रसिद्ध धार्मिक स्थल वृन्दावन मे 'श्री बाकेबिहारी जी के मदिर' मे मनाये जाने वाले विभिन्न वार्षिकोत्सव मे राधाष्टमी महोत्सव का अपना विशेष महत्व है।[2] राधाष्टमी के दिन इस मदिर मे एक दिवसीय रासलीला का आयोजन किया जाता है।[3]

कृष्ण–जन्माष्टमी

भाद्रपद मास की कृष्ण पक्ष की अष्टमी को श्रीकृष्ण जन्माष्टमी का व्रत होता है। ऐसा कहा जाता है कि भाद्रपद मास, कृष्ण पक्ष, रोहिणी नक्षत्र हर्षण योग वृष लग्न, अष्टमी तिथि की अर्द्धरात्रि के समय चन्द्रोदयकाल मे जब समस्त जगत् अन्धकार मे डूबा था तब कोटि–कोटि सूर्यसमप्रभा, देवकीनदन, यशोदानदन भगवान श्रीकृष्ण का प्राकट्य हुआ।[4] **अग्नि पुराण** मे भी भाद्रपद की कृष्णाष्टमी की अर्द्धरात्रि के समय भगवान कृष्ण के प्रकट होने का उल्लेख हुआ है।[5] **पद्मपुराण** मे कृष्ण का जन्म भाद्रपदमास मे सित पक्ष की अष्टमी तिथि को हुआ ऐसा बताया गया है।[6]

पद्म पुराण मे कृष्ण–जन्माष्टमी के महात्म्य का भी अत्यन्त विस्तार से उल्लेख हुआ है। इस पुराण मे कहा गया है, जो मनुष्य श्रीकृष्ण के जन्म की अष्टमी को व्रतोपवास आदि किया करता है और भक्ति भाव से जो इसको पूर्णरूप से करता है,

---

१ श्रीराधा माधव–चितन पूर्वोद्धृत पृ० २१७
२ मीतल प्रभुदयाल ब्रज की कलाओ का इतिहास मथुरा, १९७५, पृ० ५५३–५४
३ पूर्वोक्त पृ० ५५४
४ चतुर्वेदी श्रीपुरूषोत्तम शर्मा भारतीय व्रतोत्सव वाराणसी १९५७ पृ० १२१, दैनिक समाचार पत्र–अमर उजाला तिथि २८ अगस्त, २००२, पृ० ६
५ (अनु०) झा, तारिणीश अग्नि पुराणम् (पूर्व भाग) १२६
६ पद्मपुराण ब्रह्मखड १३६ – भाद्रेमास्यसिताष्टम्यायस्याजातो जनार्दन ।।

वह अन्त मे विष्णु के पुर मे करोडो कुलो से युक्त होकर निवास प्राप्त किया करता है।[1] आगे इस पुराण मे कृष्ण–जन्माष्टमी यदि बुधवार अथवा सोमवार से युक्त हो तो वह करोडो कुलो को विमुक्ति प्रदान करने वाली होती है, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।[2] **पद्मपुराण** मे यह भी कहा गया है कि जो इस कृष्ण–जन्माष्टमी का व्रत नही करता है, वह 'नरो' मे महान् अधम नर होता है। वह यहॉ ससार मे तो महान दु खो की प्राप्ति करता है और अन्त मे भी मृत्योपरात नरक मे निवास किया करता है, जहॉ उसे नारकीय यातनाएँ सहन करनी पडती है।[3]

पाण्डुरग वामन काणे ने शास्त्रीय अनुशीलन के आधार पर बताया है कि कृष्ण–जन्माष्टमी व्रतोत्सव मे निम्नलिखित प्रमुख कृत्य किये जाने चाहिए जिसमे उपवास, कृष्ण–पूजा जागर (रात का जागरण स्त्रोत पाठ एव कृष्ण जीवन से सम्बन्धित कथाएँ सुनना) एव पारण आदि प्रमुख रूप से है।[4] धर्मशास्त्रो मे उल्लिखित है कि इस दिन प्रात व्रती को सूर्य, सोम (चन्द्र) यम, काल, दोनो सन्ध्याओ (प्रात एव साय), पचभूतो दिन, क्षपा (रात्रि), पवन, दिक्पालो, भूमि, आकाश, खचरो (वायु–दिशाओ के निवासियो) एव देवो का आह्वान करना चाहिए, जिससे वे उपस्थित हो। तत्पश्चात् अपने हाथ मे जलपूर्ण ताम्रपत्र लेकर जन्माष्टमी व्रत का सकल्प करना चाहिए। व्रती को देवकी के शुभ सूतिकागृह का निर्माण करना चाहिए जिसमे मगल–कलश स्थापित करके उसे आम्रदलो एव पुष्पमालाओ से सुसज्जित करना चाहिए। व्रत करने वाले को मध्याह्न मे तिल के साथ किसी नदी मे स्नान करते हुए सकल्प लेना चाहिए– कि मै कृष्ण की पूजा उनके सहगामियो के साथ करूँगा। उसे सोने, चॉदी या किसी अन्य

---

१ पद्मपुराण ब्रह्मखड १३२ – कृष्णजन्माष्टमीब्रह्मन्भक्त्याकरोतियो नर।
अतेविष्णुपुरयातिकुलकोटियुतोद्विज।।

२ पद्मपुराण, ब्रह्मखड, १३३

३ पद्मपुराण ब्रह्माण्ड १३५

४ काणे पाण्डुरग वामन, धर्मशास्त्र का इतिहास (चतुर्थ भाग) पूर्वोद्धृत, पृ० ५६

धातु की कृष्ण की प्रतिमा बनवानी चाहिए और मन्त्रो के साथ उसकी प्राण–प्रतिष्ठा करनी चाहिए। तदन्तर देवकी व उनके शिशु श्रीकृष्ण का ध्यान करना चाहिए और वसुदेव देवकी, नन्द यशोदा बलदेव चण्डिका की पूजा–स्नान, धूप गन्ध, नैवेद्य आदि के साथ मन्त्रो को करना चाहिए।[1]

धर्मशास्त्रो मे अन्यत्र पूजन के पश्चात् इस दिन शख से चन्द्रमा एव श्रीकृष्ण के लिए अर्घ्यदान का भी विधान बताया गया है।[2] रात्रि मे जागरण एव भगवत्कीर्तन जन्माष्टमी उत्सव का प्रधान अग है। इसलिये व्रती को रात्रि भर कृष्ण के स्त्रोतो, पौराणिक कथाओ, गीतो एव नृत्यो को करना चाहिए। तत्पश्चात् 'शान्तिरस्तु शिव चास्तु' का पाठ करके कृष्ण–प्रतिमा को ब्राह्मण को देना चाहिए।[3]

किन्तु आजकल समस्त मन्दिरो और भगवद्–भक्तो के गृहो मे कृष्ण–जन्माष्टमी के दिन अर्द्धरात्रि को पञ्चामृत स्नान और विशिष्ट रूप से सेवा श्रृगारादि को ही इस उत्सव का प्रधान विधान माना जाता है।[4] इसके अनन्तर षोडशोपचार से या यथाउपलब्ध उपचारो से पूजन किया जाता है। जन्माष्टमी समग्र भारतवर्ष का सर्वमान्य उत्सव है। ब्रज (मथुरा वृन्दावन), श्रीनाथद्वारा (राजस्थान), द्वारिकापुरी (गुजरात) मे यह उत्सव विशिष्ट रूप से होता है।[5] मथुरा नगरी मे कस के कारागार का वह परम धन्य स्थान है, जहॉ सर्वात्मा, सर्वमय और सर्वातीत योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण का प्राकट्य हुआ था जिसे श्रीकृष्ण जन्मभूमि के नाम से जाना जाता है। आज भी वहॉ बडी धूमधाम एव विधिवत् पूजा–अर्चना के साथ कृष्ण–जन्मोत्सव का आयोजन किया जाता है।

---

१ काणे पाण्डुरग वामन पूर्वोद्धृत वही, पृ० चतुर्वेदी श्री पुरूषोत्तम शर्मा भारतीय व्रतोत्सव पूर्वोद्धृत पृ० १२२

२ चतुर्वेदी, श्री पुरूषोत्तम शर्मा पूर्वोक्त, पृ० ११४

३ काणे पाण्डुरग वामन पूर्वोद्धृत, पृ० ५६

४ चतुर्वेदी श्री पुरूषोत्तम शर्मा, पूर्वोद्धृत पृ० ११४

५ पूर्वोक्त पृ० ११४–११५

शरत्पूर्णिमोत्सव

शरद् पूर्णिमा का उत्सव आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को होता है।[1] यह उत्सव रात्रि मे किया जाता है।[2] जिस दिन पूर्ण चन्द्र हो अर्थात् सम्पूर्ण रात्रि मे पूर्णिमा हो, वह दिन उचित होता है। यदि सम्पूर्ण पूर्णिमा न मिले तो अधिकाश पूर्णिमा जिस दिन हो, उस दिन इस उत्सव को मनाया जाना चाहिए। यह दिवस भगवान कृष्ण के रासोत्सव का दिन है।[3] कहा जाता है कि इसी शरद्पूर्णिमा की चन्द्र ज्योत्स्ना मे अमृत वर्षा के समय श्रीकृष्ण ने सोलह सहस्र गोपियो के साथ महारास रचाया था।[4] **श्रीमद्भागवतपुराण** के दशम स्कन्ध मे २९वे अध्याय से लेकर ३३वे अध्याय तक भगवान् कृष्ण की रासलीला का प्रसग वर्णित है।[5] एक स्थल पर उल्लेख मिलता है कि मल्लिका के विकसित कुसुमो वाली शरद् ऋतु की रमणीय रात्रि को देखकर भगवान ने योगमाया का आश्रय लेकर रमण करने की इच्छा व्यक्त की।[6]

भागवतपुराण मे उल्लिखित है कि पूर्णचन्द्र के प्रकाश से समस्त जीवो का ताप दूर हो गया।[7] **विष्णुपुराण** मे शरद पूर्णिमा एव रास का विशद् उल्लेख प्राप्त होता है। इस पुराण मे कहा गया है कि रास रूप रस के आरम्भ करने की उत्कण्ठा वाले श्रीकृष्ण ने गोपियो से आवृत होकर शरद के चन्द्रमा से सुशोभित उस रात्रि को सम्मान प्रदान किया।[8]

---

१ चतुर्वेदी श्रीपुरूषोत्तम शर्मा पूर्वोद्धृत पृ० १८१

२ पूर्वोक्त पृ० १८१, श्रीशरण भारतीय व्रत एव त्यौहार कोश दिल्ली १९८६ पृ० ११९

३ चतुर्वेदी पूर्वोद्धृत पृ० १८२, श्री शरण पूर्वोद्धृत पृ० ११९

४ श्रीशरण पूर्वोद्धृत पृ० ११९

५ बनर्जी पी० दि ब्लू गॉड नई दिल्ली पृ० ५–६

६ श्रीमदभागवतपुराण १० २९ १

७ श्रीमद्भागवतपुराण १० २९ २

८ विष्णुपुराण ५ १३ २३ – गोपीपरिवृतो रात्रि शरच्चन्द्रमनोरमाम्।
मानयामास गोविन्दो रासारम्भरसोत्सुक ।।

इस सदर्भ मे रासलीला का शाब्दिक एव आध्यात्मिक अर्थ भी समझना अतिआवश्यक है। रास शब्द रस से बना है। रसो वै स अर्थात् भगवान् स्वय रस रूप है– आनद रूप है।[1] आनद रूप प्रभु से समस्त प्राणी प्रकट हुए है। यह रसरूप ब्रह्म केन्द्र है और उसकी परिधि मे ब्रह्माड का यह चक्र है जिसे उसकी 'लीला कहा जाता है। वृदावन के जगलो मे पूर्णचन्द्र की चॉदनी मे कृष्ण ने अनेक गोपियो के साथ नृत्य किया, जिसमे एक विशेष गोपी राधा भी सम्मिलित थी। जब रास आरम्भ हुआ तो कृष्ण ने ऐसा विभ्रम उत्पन्न किया जिसमे प्रत्येक गोपी को अपने साथ एक कृष्ण के साथ नृत्य करने की अनुभूति हुई। यही रासक्रीडा या रासलीला के नाम से प्रसिद्ध हुई।[2] रासलीला का आध्यात्मिक पक्ष भी है। इस अध्यात्म पक्ष मे कृष्ण परमात्मा है और राधा तथा गोपियॉ जैसे अनेक जीव, वृदावन सहस्र दल कमल है। यही आत्मा और परमात्मा का मिलन होता है और इस रासलीला मे गोपियॉ एक जीव या आत्मा के रूप मे उस परमात्मा से मिलन करने का प्रयास करती है।[3] वैष्णव भक्ति मे राधा, कृष्ण की पूरक शक्ति मानी गई है जो रास मे सर्वदा कृष्ण के साथ विराजती है।[4]

शरदपूर्णिमोत्सव विशेषत कृष्णमन्दिरो एव विष्णुमन्दिरो मे और सामान्यत सभी देव मन्दिरो मे मनाया जाता है। इस दिन विशेष सेवा–पूजा के अतिरिक्त भगवान के सायकाल के भोग मे खीर अथवा दूध अवश्य रहना चाहिए।[5] पूर्णचन्द्र की इस रात्रि के खुले वातावरण मे भगवान कृष्ण को विराजमान करके उनका दर्शन व स्मरण करना भी इस उत्सव का प्रमुख कृत्य माना जाता है।[6] इस दिन भगवान् कृष्ण का शृगार श्वेत वस्त्रो एव मोतियो से किया जाना चाहिए। वृदावन स्थित श्रीबाकेबिहारी जी के मन्दिर

---

१ (स) अग्रवाल वासुदेवशरण पोद्दार अभिनदन ग्रथ मथुरा सवत् २०१० पृ० ६५५

२ गुप्ता शक्ति एम०, विष्णु एण्ड हिज इनकार्नेशन्स नई दिल्ली १६७४ पृ० २६–३०

३ पूर्वोक्त वही पृ०, (स), अग्रवाल वासुदेवशरण पूर्वोद्धृत पृ० ६५५

४ (स) अग्रवाल, वासुदेवशरण, पूर्वोद्धृत पृ० ६५६

५ चतुर्वेदी श्री पुरूषोत्तम शर्मा पूर्वोद्धृत पृ० १८२

६ पूर्वोक्त, पृ० १८२–८३

मे आज भी शरदपूर्णिमा के अवसर पर ठाकुर जी का बहुत ढग से श्रृगार इत्यादि किया जाता है तथा भक्तगणो को इस महोत्सव के दिन उनके मुकुट एव बशी के दर्शन का लाभ प्राप्त होता है।[1]

शरदपूर्णिमोत्सव धार्मिक दृष्टि के साथ–साथ मनुष्य के जीवन के लिए वैज्ञानिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। ऐसा माना जाता है कि शरद ऋतु मे पित्त का प्रकोप हो जाता है जिसका उल्लेख **चरकसहिता** मे किया गया है।[2] अत पित्त कोप के शमन के लिए चन्द्रमा की चॉदनी का सेवन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मन को भी शान्ति मिलती है।[3] **चरकसहिता** मे अन्यत्र भी शरद ऋतु एव चन्द्र–ज्योत्सना का वर्णन हुआ है। एक स्थल पर कहा गया है कि शरद ऋतु मे उत्पन्न होने वाले पुष्पो की मालाऍ निर्मल वस्त्र और सायकाल के समय चन्द्र किरणे प्रशस्त होती है।[4]

अन्नकूट या गोवर्धन पूजा

अन्नकूट या गोवर्धनपूजा का उत्सव कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को मनाया जाता है। वैदिक काल मे आश्विन अथवा कार्तिक मास की अमावस्या अथवा पूर्णिमा के दिन नवीन उत्पन्न व्रीहियो (चावलो) के द्वारा आग्रयथेष्टि[5] नामक एक यज्ञ किया जाता था। इस आग्रयथेष्टि यज्ञ के प्रधान देवता इन्द्र, अग्नि, विश्वेदेवा और द्यावापृथिवी थे।[6] इनमे सबसे प्रधान देवता इन्द्र माने जाते थे। इस बात की पुष्टि इससे

---

१ चतुर्वेदी श्रीपुरूषोत्तम शर्मा पूर्वोद्धृत पृ० १८२–८३

२ चरक सहिता सूत्रस्थान, ६४१

३ चतुर्वेदी श्री पुरूषोत्तम शर्मा पूर्वोद्धृत पृ० १८३

४ चरक सहिता सूत्रस्थान ६४८ – शारदानि च माल्यानि वासासि विमलानि च।
शरत्काले प्रशस्यन्ते प्रदोषे चेन्दुरश्मय ।।

५ धर्मसिन्धु – आश्विनकार्तिकयो पौर्णमास्याममावस्याया वा शुक्लपक्षगत–कृत्तिकादिविशाखान्तनक्षत्रेषु शुक्लपक्षस्थरेवत्या या व्रीह्याग्रयणम्।

६ धर्मसिन्धु – इन्द्राग्निविश्वेदेवार्थमष्टौ व्रीहिमुष्टीन्निरूप्य

होती है कि जो आग्रयथेष्टि यज्ञ नही करता था, उसे समिन्द्रराया' (ऋक् सहिता १४ १५) मन्त्र का सौ बार जाप करना पडता था और इसमे मात्र इन्द्र से ही प्रार्थना की जाती थी। स्पष्ट है कि इस यज्ञ मे इन्द्र की प्रधानता होती थी और जिसने कालान्तर मे द्वापर युग के अन्त मे इन्द्र–याग के नाम प्रसिद्धि पाई।[1] भगवान् कृष्ण के अवतार के समय भी इन्द्र–याग प्रचलित था।[2] किन्तु बाद मे भगवान कृष्ण ने इन्द्र–याग के स्थान पर गौ–ब्राह्मण और गोवर्धन पर्वत का याग प्रारम्भ करवाया।[3] आगे चलकर यही अन्नकूट के नाम से प्रचलित हुआ। अन्नकूट का शाब्दिक अर्थ अन्नसमूह है। अनेक प्रकार के अन्न समर्पित और वितरण करने के कारण ही यह उत्सव अन्नकूट के नाम से विख्यात हुआ।[4] *पी०वी० काणे* के अनुसार **स्मृतिकौस्तुभ** (पृ० १७४) मे भी गोवर्धन–पूजा को अन्नकूट (भोजन का टीला या शिखर) कहा गया है।[5] **विष्णुपुराण** (५ ११ ५–२५) मे भी गोवर्धन–पूजा का विशद् उल्लेख प्राप्त होता है।

वर्तमान मे यह उत्सव समस्त भारतवर्ष मे बडी धूमधाम से मनाया जाता है। इस उत्सव मे प्रत्यक्ष गोवर्धन पर्वत के स्थान पर गोबर का गोवर्धन बनाया जाता है और उसके समक्ष भगवान् कृष्ण और गायो का पूजन किया जाता है।[6] अन्नकूट के रूप मे मन्दिरो मे विविध सामग्रियॉ निर्मित की जाती है, जिनमे अन्न, शाक–पाकादि का भगवान् को भोग लगाकर उसे महाप्रसाद के रूप मे सर्वसाधारण मे वितरित किया

---

१ चतुर्वेदी श्री पुरूषोत्तम शर्मा पूर्वोद्धृत पृ० २१४
२ श्रीमद्भागवतपुराण – १० २४ १ – अपश्यन्निवसन् गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान्।
३ श्रीमद्भागवतपुराण – १० २४ २५
४ चतुर्वेदी पूर्वोद्धृत पृ० २१४
५ काणे पाण्डरेग पूर्वोद्धृत, पृ० ७७
६ पूर्वोक्त, पृ० २१५

जाता है।[1] दीपावली की तरह इस दिन भी दीपोत्सव का विधान है।[2] गुजरात–महाराष्ट्रादि देशो मे इसी दिन से नव वर्षारम्भ भी मानते है।[3] बिहार एव उडीसा मे आजकल प्रचलित उत्सव गायदॉड (गायदाण), जो कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को अपराह्न मे सम्पादित किया जाता है, को भी गोवर्धन–पूजा या अन्नकूट का ही एक रूप माना जा सकता है।[4]

पूजन–अर्चन

देव पूजा धर्म का विशिष्ट और अनिवार्य अग है। इसके बिना धार्मिक जीवन सम्भव नही है। विशेषत हिन्दू धर्म मे देवी–देवता के पूजन–अर्चन की अपनी एक विशिष्ट पद्धति होती है जो उदान्त और पावन होती है तथा वह पूजक को उसके इष्टदेव के सम्मुख प्रस्तुत करती है।[5] पुष्प, दीप, धूप, नैवेद्य एव नाना उपचारो के माध्यम से किया जाने वाले भगवान का यही पूजन–अर्चन भक्ति भी कहलाता है।[6] सामान्यत मानव बाह्य मन मे निवास करता है और बहिर्मुखी मन बिना किसी बाह्य प्रतीक के यह जानने मे अक्षम होता है कि अन्तर्मन मे क्या भाव उदित हो रहे है। अत पूजा–अर्चना द्वारा बाह्य विधान किया जाता है जिसमे बाह्य उपकरणो की सहायता ली जाती है। इसी पूजा–अर्चना द्वारा मनुष्य अपने मन को दैनन्दिन–जीवन की साधारण चेतना से हटाकर ईश्वर के प्रति श्रद्धा, निकटता, समर्पण विस्मय, अभीप्सा आदि जैसे

---

१ चतुर्वेदी पूर्वोक्त पृ० २१५

२ पूर्वोक्त पृ० २१०

३ पूर्वोक्त, वही पृ०

४ काणे पाण्डुरग वामन पूर्वोद्धृत पृ० ७७

५ विश्व के प्रमुख धर्म पूर्वोद्धृत पृ० ४४

६ श्रीवास्तव मीरा मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण–भक्ति धारा और चैतन्य–सम्प्रदाय इलाहाबाद १९६८ पृ० १२१

भावो को जगाने का प्रयास कर सकता है।[1] स्पष्ट है कि पूजा भक्त मे अराधना के भाव को जाग्रत करती है।

प्राय वैष्णवगण अपने इष्ट की पूजा–अर्चना मदिर या घर मे मूर्ति रखकर करते है। राधा और कृष्ण के उपासको ने भी अपने इष्ट देवी–देवता के लिए पूजा को अधिक महत्व दिया। **श्रीदेवीभागवतपुराण** मे उल्लिखित है कि सभी वैष्णवो को भगवती राधा का पूजन अवश्य करना चाहिए।[2] इसी पुराण मे यह भी कहा गया है कि इनकी अराधना सब कामनाओ को देने वाली होने के कारण ही यह राधा कहलाई।[3] **देवीभागवतपुराण** मे राधा के पूजन–विधि का अति विस्तार से वर्णन हुआ है। इसमे लिखा है कि राधा देवी का हृदय मे ध्यान करके तत्पश्चात् ब़ाह्य रूप से शालिग्राम, कलश अथवा अष्टदल यन्त्र मे देवी की भावना करके विधिवत पूजन करे।[4] सर्वप्रथम देवी का आह्वाहन करके उन्हे मूलमत्र के उच्चारण द्वारा आसनादि देना चाहिए। तत्पश्चात् चरणो मे पाद्य, मस्तक पर अर्घ्य तथा मुख मे तीन बार आचमन देना चाहिए। फिर नाना सुगन्धित तैलादि द्रव्यो से स्नान एव वस्त्र अर्पित करके विविध अलकारादि से अलकृत करके चन्दन–लेप एव अनेकविध पुष्प–मालाये और मजरी युक्त तुलसी भेट करना चाहिए।[5] तत्पश्चात् राधा के पवित्र परिवार और पूर्व, अग्निकोण और वायव्यकोण के मध्य मे राधा के दिशा रूपी अगो के पूजा का विधान बतलाया गया है।[6] इसी पुराण मे भगवती राधा के वाञ्छाचिन्तामणि षडाक्षर मूल मत्र का भी उल्लेख प्राप्त होता है जो

---

१ श्रीवास्तव मीरा पूर्वोद्धृत वही पृ०

२ श्रीदेवीभागवतपुराण, नवम स्कन्ध ५० १६ – वैष्णवै सकलैस्तस्मात्कर्त्तव्य राधिकार्चनम।

३ श्रीदेवीभागवतपुराण नवम स्कन्ध, ५० १८

४ देवीभागवतपुराण ५० २८

५ देवीभागवतपुराण, ५० २६ ३३

६ देवीभागवतपुराण, नवम स्कन्ध ५० ३४

धर्म और अर्थ का प्रकाशक है।[1] देवी के मत्र का प्रयत्नपूर्वक सहस्र सख्या मे जप करना चाहिए।[2] भक्तिपूर्वक दूध, मधु घृत इत्यादि स्वादिष्ट पदार्थों से युक्त तिलो के द्वारा हवन करना चाहिए। तत्पश्चात् भगवती राधा को प्रसन्न करने वाला स्तोत्र का पाठ करना चाहिए।[3] **देवीभागवतपुराण** मे उल्लिखित है कि इस प्रकार पराप्रकृति राजेश्वरी श्रीराधा का पूजन करने वाला मनुष्य भगवान विष्णु के समान होकर सदा के लिए गोलोक को प्राप्त होता है।[4] शाक्त धर्म मे सामान्यत आद्याशक्ति देवी की पूजा का जो विधान वर्णित है, लगभग वही विधान पराप्रकृति राजेश्वरी श्रीराधा की अर्चा मे स्वीकार्य किया गया है।

विविध वैष्णव–ग्रन्थो मे कृष्ण की पूजा और उसके महात्म्य का उल्लेख प्राप्त होता है। **श्रीमद्भगवद्गीता** मे कृष्ण ने स्वय कहा है कि जो अपने सारे कार्यों को मुझमे अर्पित करके अविचलित भाव से मेरी भक्ति करते हुए पूजा करता है और अपने चित्त को मुझ पर एकाग्र करके निरन्तर मेरा ध्यान करता है, उसको मै जन्म–मृत्यु के सागर से शीघ्र उद्धार करता हूँ।[5] **महाभारत** मे कहा गया है कि जो लोग कमलनयन श्रीकृष्ण की पूजा–अर्चना नही करता, उसे जीवित रहते हुए मृत्युतुल्य समझना चाहिए तथा उनके साथ कभी बात भी नही करना चाहिए।[6]

तीर्थ

सभी धर्मों मे कुछ विशिष्ट स्थलो की पवित्रता पर बल दिया गया है और वहाँ जाने के लिए धार्मिक–व्यवस्था का भी वर्णन प्राप्त होता है। अतिप्राचीनकाल से भारत

---

१ देवीभागवतपुराण नवम स्कन्ध ५० २१
२ देवीभागवतपुराण नवम स्कन्ध ५० ४०
३ देवीभागवतपुराण नवम स्कन्ध ५० ४५
४ देवीभागवतपुराण नवम स्कन्ध ५० ४१
५ श्रीमदभगवद्गीता १२ ६–७
६ महाभारत सभापर्व ३६ ६

मे तीर्थस्थानो की यात्राओ को करने से होने वाले लाभ का महात्म्य हमारे धार्मिक ग्रन्थो मे वर्णित है। इस प्रकार तीर्थ शब्द से किसी धार्मिक स्थल की अवधारणा स्पष्ट होती है। सर्वप्रथम **विष्णुस्मृति** (तीसरी सदी की रचना) से धार्मिक भावना से अनुप्रेरित होकर आम जनता द्वारा तीर्थयात्रा करने की प्रथा का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] भारतवर्ष जिस प्रकार कई राज्यो मे विभाजित है, ठीक उसी प्रकार यहाँ के निवासी तरह–तरह के सम्प्रदायो एव उपसम्प्रदायो के अनुयायी भी है, किन्तु इन तीर्थस्थानो व उनकी यात्राओ ने भारतीय सस्कृति एव देश की महत्वपूर्ण मौलिक एकता की भावना को सवर्धित रहने मे जो सहयोग प्रदान किया है वह सराहनीय है। पवित्र स्थानो से सम्बन्धित परम्पराओ, तीर्थयात्रियो की सयमशीलता, पवित्र एव दार्शनिक लोगो के समागम एव तीर्थों के वातावरण ने यात्रियो को न केवल एक उच्च आध्यात्मिक स्तर पर अवस्थित करने का प्रयास किया है, अपितु उनके मन मे एक ऐसी श्रद्धा–भक्ति की भावना का विकास किया है जो उन्हे तीर्थयात्रा से लौटने के उपरान्त भी दीर्घकाल तक अनुप्राणित किये रहती है।[2] स्पष्ट है कि तीर्थयात्रा करना ऐसा साधन है जो साधारण लोगो को स्वार्थमय जीवन कर्मों से दूर रखने मे सहायक होता है और उन्हे उच्चतर एव दीर्घकालीन महान नैतिक एव आध्यात्मिक जीवन–मूल्यो के विषय मे सोचने के लिए उत्तेजित करता रहता है।

हिन्दू धार्मिक मान्यताओ के अनुसार इन पवित्र तीर्थ स्थलो पर देवो का निवास रहता है, अत इसी भावना से उत्पन्न स्पष्ट लाभ एव विश्वास के कारण हमारे प्राचीन धर्मशास्त्रकारो ने तीर्थों की यात्राओ पर विशेष बल दिया है। **विष्णुधर्मसूत्र** (२ १६–१७) मे वर्णित सामान्य धर्म के अन्तर्गत आने वाली अनेक बातो मे तीर्थयात्रा का भी उल्लेख प्राप्त होता है– क्षमा, सत्य, दम (मानस सयम), शौच, दान, इन्द्रिय–सयम, अहिसा, गुरूशुश्रूषा, तीर्थयात्रा, दया, आर्जव (ऋजुता), लोभशून्यता देवब्राह्मणपूजन एव

---

१ नदी रमेद्रनाथ, प्राचीन भारत मे धर्म के सामाजिक आधार नई दिल्ली १९६८ पृ० ४४
२ काणे पाण्डुरग वामन धर्मशास्त्र का इतिहास (तृतीय भाग) पूर्वोद्धृत, पृ० १२९९–१३००

अनभ्यसूया (ईर्ष्या से मुक्ति)। **ऋग्वेद** एव अन्य वैदिक सहिताओ मे तीर्थ शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ है। **ऋग्वेद** (१० ३१ ३) मे वर्णित उक्ति 'तीर्थे न दस्ममुप यन्त्यूमा' मे तीर्थ शब्द का सम्भवत अर्थ–एक पवित्र स्थान से माना गया है। तीर्थ स्थान एव उसकी यात्रा के महात्म्य का अनेक पुराणो मे उल्लेख प्राप्त होता है। **कूर्मपुराण**[1] मे कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने धर्मों (कर्त्तव्यो) को छोडकर तीर्थ सेवन करता है, वह न केवल तीर्थयात्रा का फल इस लोक मे पाता है और न उस लोक मे।

धार्मिक क्षेत्र मे कृष्ण और राधा से जुडे अनेक पवित्र तीर्थ स्थल है जिसमे मथुरा एव उसके उपतीर्थ (वृन्दावन, गोवर्धन इत्यादि) पुरूषोत्तम तीर्थ, द्वारका तीर्थ आदि प्रमुख है। **स्कन्दपुराण** मे वर्णित कतिपय पुण्य क्षेत्रो मे मथुरा पुरूषोत्तम एव द्वारका का उल्लेख मिलता है जो सभी अर्थों का साधन है।[2]

मथुरा एव उसके उपतीर्थ

मथुरा तीर्थ के विषय मे अनेक पुराणो मे उल्लेख मिलता है। **हरिवश पुराण** मे मथुरा का अत्यन्त सुन्दर वर्णन मिलता है कि मथुरा मध्य–देश का ककुद (अर्थात अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थल) है। यह लक्ष्मी का निवास–स्थल है या पृथिवी का श्रृग है। इसके समान कोई अन्य नही है और यह प्रभूत धन–धान्य से पूर्ण है।[3] **नारदीयपुराण** मे मथुरा का मण्डल २० योजनो तक विस्तृत बताया है और इसमे मथुरा पुरी बीच मे स्थित थी।[4] भगवान स्वय कहते है कि मथुरा नाम से विख्यात जो मेरा उत्तम क्षेत्र है वह मेरी परमप्रिय प्रशस्त एव रमणीय जन्मभूमि है और यह मथुरा नगरी, सभी धर्मों से

---

१ कूर्मपुराण – २ ४४ २०

२ स्कन्दपुराण, प्रथम खण्ड २६ २१–२३

३ हरिवशपुराण विष्णुपर्व ५७ २–३

४ नारदीयपुराण उत्तरार्ध, ७९ २०–२१ – विशतिर्योजनाना तु माथुर परिमण्डलम्।
तन्मध्ये मथुरा नाम पुरी सर्वोत्तमोत्तमा।।

विमुक्त रहने वाले दुष्टात्मा को भी नरक की पीडा से दूर करने वाला बनाती है।[1] **वराहपुराण** मे भी मथुरा तीर्थ की प्रशसा वर्णित है। इस पुराण मे भगवान ने कहा है कि मथुरा मेरा परमप्रिय क्षेत्र है जिसकी समता का न तो कोई क्षेत्र अन्तरिक्ष मे और न ही पाताल मे और न मनुष्यलोक मे। वह मथुरापुरी परम रम्य एव सुप्रशन्त है तथा मेरे ही जन्म–ग्रहण करने की पावनभूमि है और जो व्यक्ति मथुरा पुरी मे निवास करता है वह मोक्ष की अवश्य प्राप्ति करता है।[2] **वराहपुराण** मे उल्लिखित है कि वाराणसी पुरी मे पूरे एक सहस्र वर्ष तक निवास करने से जो पुण्य होता है, वह मथुरा मे एक ही क्षण तक निवास करने से होता है।[3]

वृन्दावन ब्रजमण्डल का एक पवित्र स्थल है जिसे मन्दिरो की नगरी के नाम से भी जाना जाता है।[4] **विष्णुपुराण** मे उल्लेख मिलता है कि वृन्दावन यमुना के किनारे मथुरा के उत्तर–पश्चिम मे पॉच योजन विस्तार मे फैला हुआ था। **पद्मपुराण** (४ ६९ ६) मे इसे पृथ्वी पर बैकुण्ठ माना है। **वराहपुराण** के १५३वे अध्याय मे मथुरा के समीप स्थित १२ वनो का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमे वृन्दावन की भी विस्तार से चर्चा की गई है। **नारदीयपुराण**[5] मे वृन्दावन का अतिसुन्दर वर्णन किया गया है। यह कृष्ण की लीला–भूमि मानी जाती है। **मत्स्यपुराण** (१३ ३८) मे राधा को वृन्दावन की देवी दाक्षायणी माना है। वृन्दावन की महिमा का वर्णन अनेक स्थलो पर भी प्राप्त होता है। एक स्थल पर कहा गया है कि श्री राधाजी के चरण कमलो के दास्य–लास्य की प्राप्ति के लिए अभिज्ञ व्यक्ति जो–जो साधन एव उपदेश करते है, उसमे मुझ जैसे व्यक्ति को

---

१ कल्याण–सक्षिप्त स्कन्दपुराणाक सख्या–१ गीता प्रेस गोरखपुर स० २०५६ पृ० ३५२

२ वराहपुराण (द्वितीय खण्ड) १५२ ४–६

३ वराहपुराण (द्वितीय खण्ड) १५२ ७ – पूर्णं वर्ष सहस्र तु वाराणस्या तु यत्फलम्।
तत्फल लभते देवि मथुराया क्षणेहि हि।।

४ मीतल प्रभुदयाल पूर्वोद्धृत, पृ० ५५२

५ नारदीयपुराण उत्तरार्ध, ७६ १०–१८

कोई फल नही मिलता अतएव पापी या पुण्यात्मा, निन्दित या वन्दनीय होकर भी निश्चित रूप से श्रीराधाजी को प्रकाशित करने वाले श्रीवृन्दावन की शरण ले, तो वह अत्युत्तम होगा।[1]

वराहपुराण मे अन्यत्र भी वृन्दावन के महात्म्य का उल्लेख मिलता है। इस पुराण मे कहा गया है कि जो वृन्दा के द्वारा परिरक्षित हो, ऐसा वन मेरा अतीव प्रिय वन है। यह वन महापातको का विनाश करने वाला है।[2] इस वृन्दावन के और गोविन्द के दर्शन से मनुष्य यमपुरी जाने से मुक्त हो जाता है और उसे महान पुण्यशालियो की गति प्राप्त होती है।[3] **पद्मपुराण** के पाताल खण्ड के ६६वे से लेकर अनेक अध्यायो मे वृन्दावन की महिमा का गुणगान किया गया है। इस पुराण के एक स्थल पर कहा गया है कि वृन्दावन पूर्ण ब्रह्मसुख का आश्रय है और गोविन्द के देह से अभिन्न है जिसके धूलिकण के स्पर्शमात्र से साधको को मुक्ति प्राप्त हो जाती है।[4]

मथुरा के समीप स्थित गोवर्धन क्षेत्र को एक प्रसिद्ध उपतीर्थ माना जाता है। **वराहपुराण** मे उल्लेख मिलता है कि मथुरापुरी के पश्चिम भाग के निकट मे ही दो योजन की दूरी पर गोवर्धन क्षेत्र है जो कि परम दुर्लभ है।[5] **विष्णुपुराण** मे गोवर्धन की महत्ता का अत्यन्त विस्तार से वर्णन मिलता है कि भगवान कृष्ण ने इन्द्र द्वारा की गई अतिवर्षा से गोप–गोपियो एव पशुओ की रक्षा के लिए गोवर्धन पर्वत को अपनी कनिष्ठा

---

१ श्रीवृन्दावन–महिमामृतम् श्रीधाम वृन्दावन द्वितीय सस्करण पृ० १६५, श्लोक न० ४७

२ वराहपुराण (द्वितीय खण्ड), १५३ ३६ – मम चैव प्रिय भूमे महापातक नाशनम्।

३ वराहपुराण (द्वितीय खण्ड) १५३ ४०

४ पद्मपुराण पाताल खण्ड ६६ ७२ – गोविददेहतोऽभिन्न पूर्णब्रह्मसुखाश्रयम्।
मुक्तिस्तत्ररज स्पर्शात्तन्माहात्म्य किमुच्यते।।

५ वराहपुराण (द्वितीय खण्ड), १६४ १ अस्ति गोवर्धन नाम क्षेत्रपरम दुर्लभम्।
मथुरा पश्चिमे भागे अदूराद्योनन द्वयम्।।

अगुली पर उठा लिया था।[1] **वराहपुराण** मे भी गोवर्धन क्षेत्र के महात्म्य का उल्लेख प्राप्त होता है। इस पुराण मे गोवर्धन क्षेत्र मे हरि का दर्शन एव अन्नकूट की परिक्रमा के महत्व को वर्णित करते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य गोवर्धन की परिक्रमा करके परमदेव श्रीहरि का दर्शन करता है उसे राजसूय एव अश्वमेध यज्ञो के करने के समान पुण्यफल प्राप्त होता है, इसमे कोई सशय नही है।[2]

गोवर्धन मे श्रीकृष्ण ने राधा के साथ समाश्लेष करके ही अपने नाम से एक कुण्ड को विदित किया जो कृष्ण–कुण्ड के नाम से प्रसिद्ध हुआ और यह तीर्थ भी माना जाता है। उसी के समीप मे एक कुण्ड और विद्यमान है जिसे राधा कुण्ड के नाम से जाना जाता है जो सब पापो के हरण करने मे परम अद्भत एव शुभ है।[3]

पुरूषोत्तम तीर्थ

भारत के चार प्रधान तीर्थो मे पुरूषोत्तम तीर्थ का प्रमुख स्थान है। इसे जगन्नाथ पुरी के नाम से भी जाना जाता है और इसका प्राचीन नाम पुरूषोत्तम तीर्थ है। पुरूषोत्तम क्षेत्र मे भगवान श्रीश मानव–लीला से काष्ठमयी मूर्ति धारण करके विराजमान है। वे दर्शन मात्र से ही मुक्ति प्रदान कर देने वाले है और साक्षात् समस्त तीर्थों के पुण्य–फल को देने वाले है।[4] इस क्षेत्र मे भगवान श्रीकृष्ण के साथ–साथ बलभद्र और सुभद्रा जी के दर्शन करके मनुष्य अपने करोडो जन्मो के पापो का नाश कर लेता है।[5] पुरूषोत्तम क्षेत्र के महात्म्य के विषय मे उल्लेख मिलता है कि यह प्रदेश पृथ्वी के

---

१ विष्णुपुराण – ५ ११ १५–२५

२ वराहपुराण (द्वितीय खण्ड) – १६४ ६–७

३ वराहपुराण (द्वितीय खण्ड) – १६५ १३ – स्वनान्मा विदित कुण्ड कृत तीर्थं मरद्त ।
राधा कुण्डमिति ख्यात सर्व पापहर शुभम् ।।

४ स्कन्दपुराण प्रथम खण्ड २४ ३

५ स्कन्दपुराणाक सख्या १ गीता प्रेस, गोरखपुर स० २०५६ पृ० २६१

समस्त तीर्थों के पुण्यफल को प्रदान करने वाला है।[1] **स्कदपुराण** मे अन्यत्र उल्लेख मिलता है कि व्रतो मे, तीर्थों मे, यज्ञ और दानो मे जो विमल आत्मा वालो को पुण्य मिलता है, वह एक दिन यहॉ पर निवास करने से सब प्राप्त हो जाता है।[2]

द्वारका

भगवान श्रीकृष्ण ने जरासन्ध के आक्रमण से समस्त मथुरा के यादवो की रक्षा हेतु एक द्वारका नामक नगरी का निर्माण करवाया था।[3] अत यह स्थान द्वारकापुरी के नाम से जाना जाता है जो एक प्रमुख तीर्थ स्थल भी है। द्वारकापुरी ऐसा पुण्य तीर्थस्थल है जहॉ शख, चक्र और गदा धारण करने वाले चतुर्भुज श्रीकृष्णजी विद्यमान है और वहॉ जाने से मनुष्य मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।[4] अन्यत्र उल्लिखित है कि एक हजार भार सुवर्ण दान करने से जो फल मिलता है, उससे कोटि गुना फल द्वारका मे श्रीकृष्ण के मुख का दर्शन करने से मिल जाता है।[5] कलियुग मे यदि चाण्डाल भी द्वारकापुरी मे निवास करता है, तो वह यतियो की गति पाता है।[6] द्वारका एव उसके अन्य प्रसिद्ध तीर्थ स्थलो का भी अपना एक महात्म्य है। **वराहपुराण** मे लिखा है कि द्वारका स्थित गुह्य स्थल समस्त पापो के भय से मुक्ति प्रदान करने वाला है।[7]

स्पष्ट है हिन्दू धर्म मे जिस व्रत, उत्सव, पूजन–पद्धति एव तीर्थ को विशेष महत्व दिया जाता है, उसमे राधा एव कृष्ण के धार्मिक स्वरूप पर स्पष्ट प्रकाश पडता है जिसे वर्तमान मे भी प्रासगिक माना जाता है।

---

१ स्कन्दपुराण, प्रथम खण्ड २४ ३१ – स प्रदेश पृथिव्या हि सर्वतीर्थफलप्रद ।।

२ स्कन्दपुराण प्रथम खण्ड २४ ४३

३ विष्णुपुराण, पचम अश – २३ ६–१६

४ स्कन्दपुराणाक सख्या १ पूर्वोद्धृत पृ० १०५४

५ पूर्वोक्त, पृ० १०५५

६ पूर्वोक्त, पृ० १०६५

७ वराहपुराण द्वितीय खण्ड, १४६ ३

दर्शन

दर्शन शब्द का भारतीय परिप्रेक्ष्य मे एक महत्वपूर्ण स्थान है। सस्कृत की 'दृश' धातु मे 'यु' (अन्) प्रत्यय लगाकर दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति हुई है– दृश्यते' अनेन इति दर्शनम्, अर्थात् जिस शास्त्र द्वारा देखा जायॅ या जिस पदार्थ का ज्ञान प्राप्त किया जाय वही दर्शन या दर्शनशास्त्र है।[1] सामान्यत दर्शन का अभिप्राय ज्ञान प्राप्ति की इच्छा से लिया जाता है।[2] यह ज्ञान आध्यात्मिक–जगत के साथ विश्व के ज्ञान के विषय मे भी होता है। इसमे जीव और प्रकृति की उत्पत्ति तथा विकास का भी विशद् विवेचन किया जाता है। साथ ही इसके द्वारा ही किसी निर्णय पर पहुॅचने के लिए युक्तियो का आश्रय भी लिया जाता है। अत दर्शन व्यक्ति को विचारात्मक पहलू प्रदान करता है।

विश्व की समस्त वस्तुओ जिनको हम देखते है अथवा जानते है, उसको दो वर्गो मे विभाजित किया जाता है– (१) तथ्य समूह तथा (२) मूल्य–जगत्। इसमे तथ्य–जगत वैज्ञानिक अध्ययन का विषय है, जबकि मूल्य–जगत् का अनुचिन्तन दर्शन का कार्य माना जाता है। इस प्रकार दर्शन के क्षेत्र मे नैतिक, कलात्मक या सौन्दर्यपरकता के अतिरिक्त आध्यात्मिकता, अर्थात् सभी तरह के मूल्यो का समावेश है।[3] स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन मे मुख्यत आध्यात्मिक मूल्यो पर विचार किया गया है।

यद्यपि दर्शन और धर्म का बाह्य दृष्टिकोण भिन्न–भिन्न है, किन्तु भारतीय परिवेश मे इन दोनो का एकत्र ही वर्णन किया जाता है और दोनो के मध्य मे कोई विभेदक रेखा नही खीची जा सकती है। भारतवर्ष मे ऐसा कोई दर्शन नही है जिसमे धर्म का समोवश न हो। दर्शन ज्ञान का द्वार उद्घाटित करता है और धर्म द्वार का

---

१ व्यास शिष्य कुॅवर लाल, वैदिक दर्शन, दिल्ली १९८०–८१ पृ० १

२ वरदाचार्य वी०, द्विवेदी कपिलदेव (अनु०), सस्कृत–साहित्य का इतिहास इलाहाबाद पृ० ३१८

३ (स०) देवराज नन्दकिशोर, भारतीय दर्शन लखनऊ १९०३ पृ० २

मार्ग प्रदर्शित करता है। दर्शन मनुष्य की अनुभूतियो की युक्तिपूर्ण व्याख्या करके सम्पूर्ण विश्व के आधारभूत सिद्धान्तो की खोज करता है। धर्म भी आध्यात्मिक मूल्यो के द्वारा सम्पूर्ण विश्व की व्याख्या करने का प्रयास करता है।[1] अत धर्म एव दर्शन को वस्तुत एक ही वस्तु के दो पहलू माना जा सकता है। इन दोनो मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। यदि एक दृष्टिकोण से देखा जायॅ तो दर्शन धर्म का सैद्धान्तिक आधार है। सामान्यत समस्त धर्मों की एक दार्शनिक पृष्ठभूमि होती है। प्रत्येक धर्म मे प्राय ईश्वर जीव जगत, कर्म और पुनर्जन्म–सम्बन्धी विषयो के मूलभूत कुछ सिद्धान्त होते है। धर्म इन सिद्धान्तो मे विश्वास करता है और धार्मिक अनुभूतियो से इन विषयो से सम्बन्धित विचारो को पुष्ट करता है, किन्तु इनका सैद्धान्तिक निरूपण दर्शन ही करता है। दर्शन इन सिद्धान्तो की मीमासा करके धर्म का आधार पुष्ट एव सबल करता है।[2] इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से धर्म एव दर्शन मे स्वाभाविक सम्बन्ध स्पष्ट होता है। दूसरे दृष्टिकोण से विचार किया जायॅ तो धर्म, दर्शन का व्यावहारिक रूप है। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी सिद्धान्त तब तक निर्मूल्य है, जब तक कि वह व्यवहार मे न आ सके। धर्म दर्शन द्वारा स्थापित सिद्धान्तो को व्यवहृत करके उसे अर्थ एव मूल्य प्रदान करता है।[3] स्पष्ट होता है कि अपने इन्ही स्वाभाविक सम्बन्धो के कारण भारतीय दर्शन कभी धर्म से अलग नही हुआ। इसलिए भारतीय–दर्शन आध्यात्मिक है, जीवन के निकट है।

भारतीय धर्म–दर्शन जगत मे पुष्पित–पल्लवित हुए विभिन्न वैष्णव–सम्प्रदायो मे रामानुज के विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय मध्वाचार्य का द्वैत, निम्बार्क का द्वैताद्वैत या भेदाभेद,

---

१ सिन्हा हरेन्द्र प्रसाद धर्म–दर्शन की रूपरेखा पृ० ४७–४८

२ पूर्वोक्त वही पृ०

३ पूर्वोक्त वही पृ०

वल्लभ का शुद्धाद्वैत, चैतन्य का अचिन्त्यभेदाभेद का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[1] इन सभी वैष्णव सम्प्रदायो मे श्रुति का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म सगुण ईश्वर ही है जो सर्वज्ञ, सर्वगुणसम्पन्न सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, परम उपास्य देव तथा उपासक जीवो को मुक्ति देने वाला है।[2] कोई सम्प्रदाय ईश्वर को नारायण–विष्णु मानकर उसके ऐश्वर्य को महत्व देते हुए बैकुण्ठ लोक मे परमपद–प्राप्ति को मोक्ष मानता है तो कोई कृष्ण मानकर प्रेम–भावना द्वारा माधुर्य रूप के रसपूर्ण आनन्दमय ब्रह्म से सम्पर्क को।[3] परन्तु सायुज्य–सारूप्य–सामीप्य–सालोक्य रूप मोक्ष को सभी स्वीकार करते है। ईश्वर की शक्ति रूप माया का अगीकार जीव को ब्रह्म का अश ज्ञानरूप अणु ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता, अनेक जड से भिन्न तत्त्व मानना एव भक्ति को मोक्ष का साधन मानना, (मध्वाचार्य को छोडकर) ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानना आदि इन सभी के सर्वमान्य सिद्धान्त है।[4]

भारतीय वैष्णव सम्प्रदायो ने अधिकाशत अपने दार्शनिक चिन्तन–बिन्दु का आधार राधा–कृष्ण तत्व को बनाया है जिनमे निम्बार्क–सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय वल्लभ सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय या सखी सम्प्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[5] इन सम्प्रदायो के अतिरिक्त प्रचलित सम्प्रदायो मे भी कृष्णोपासना पर बल दिया जिनमे रामानुज, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी जैसे आचार्यों का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है जिन्होने अपने सम्प्रदाय मे कृष्ण की उपासना को स्थान दिया।

---

१ (स०) देवराज नन्दकिशोर पूर्वोद्धृत पृ० ५६४–६५

२ पूर्वोक्त वही पृ०

३ पूर्वोक्त वही पृ०

४ पूर्वोक्त वही पृ०

५ मुहम्मद मलिक वैष्णव भक्ति आदोलन का अध्ययन दिल्ली १६७१, पृ० ३६७ स्नातक विजयेन्द्र राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य दिल्ली स० २०१४ वि०, (विस्तृत अध्ययन)

किन्तु उनके उपास्य–देव कृष्ण के रूपो मे अन्तर था। रामानुजाचार्य ने कृष्ण के नारायण रूप की मध्वाचार्य ने कृष्ण को स्वय विष्णु स्वरूप माना जो सर्वगुण–सम्पन्न परमात्मा थे तथा विष्णुस्वामी ने कृष्ण के गोपाल रूप को महत्व प्रदान किया किन्तु सर्वप्रथम निम्बार्क ने अपने दर्शन मे कृष्णोपासना के अन्तर्गत कृष्ण के साथ–साथ राधातत्व को भी स्वीकार किया।[1] राधा–कृष्ण के युगल रूप को सर्वप्रथम अपने सम्प्रदाय मे स्थान देने के कारण निम्बार्क–सम्प्रदाय का दर्शन–जगत मे विशेष महत्व है। यहॉ पर सक्षेप मे राधा और कृष्ण से जुडे उपरोक्त वर्णित कुछ सम्प्रदायो का अध्ययन इस प्रकार कर सकते है–

निम्बार्क सम्प्रदाय

निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री निम्बार्क आचार्य थे। ये तेलगू ब्राह्मण थे। इन्होने १२वी शती ई० मे निम्बार्क सम्प्रदाय की स्थापना की।[2] इस सम्प्रदाय के अनुसार जीव, जगत् और ईश्वर भिन्न–भिन्न होते हुए भी जीव तथा जगत् का व्यापार एव अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है। जीवात्मा अवस्था–भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी। जीवात्मा अणुरूप मे विभिन्न शरीरो मे पृथक्–पृथक् है। यह अनादिमाया से बद्ध तथा तीन गुणो से सयुक्त है। ईश्वर की कृपा से ही उसे अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है। निम्बार्क सम्प्रदाय मे ब्रह्म को अद्वैत अविभक्त तथा निर्विकार स्वरूप बताया है।[3] वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ एव सब गुणो का आश्रय भी है। यद्यपि ब्रह्म निर्विकार है तो भी माया के कारण उसका स्वाभाविक आनन्द अनन्त रूपो

---

१ मुहम्मद मलिक पूर्वोद्धृत पृ० ३६७

२ मुहम्मद मलिक पूर्वोद्धृत पृ० २७५, वरदाचार्य वी० पूर्वोद्धृत पृ० ३६८, उपाध्याय बलदेव भारतीय वाडमय मे श्रीराधा पटना १९६३ पृ० ७१, चटर्जी ए०एन० श्रीकृष्ण चैतन्य ए हिस्टोरिकल स्टडी ऑन गौडीय वैष्णविज्म, नई दिल्ली १९८३ पृ० १०२

३ मुहम्मद, मलिक, पूर्वोद्धृत पृ० २७६

मे अनुभूत होता है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि ब्रह्म मे ऐसी शक्ति है कि वह अपने को अविकृत एव अविभक्त रखते हुए नाना रूपात्मक पदार्थों मे उत्पन्न करके आनन्द का उपभोग कर सकता है। जीव और ईश्वर का सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान तथा अश तथा अशी का है। उस ईश्वर के नारायण, भगवान् कृष्ण, परमब्रह्म, पुरूषोत्तम आदि विविध नाम है।[1]

निम्बार्क सम्प्रदाय के उपास्य देव कृष्ण और राधा है। इनका मत है कि ब्रह्म की उपासना कृष्ण और राधा के रूप मे की जाती है।[2] श्री निम्बार्क के अनुसार भक्ति किसी भी भाव से की जा सकती है और साधक को किसी विशेष भाव की आवश्यकता नही है। श्रीकृष्ण तो केवल स्मरणमात्र से अविद्या पर्यन्त समस्त अनर्थों को हरने वाले है। अत वे हरि कहलाते है।[3]

वे अपनी प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति राधा तथा अन्य आह्लादिनी गोपी स्वरूपा शक्तियो से परिवेष्टित रहते है।[4] निम्बार्क ने राधा को अनुरूप–सौभगा माना है, अर्थात् उनका स्वरूप कृष्ण के अनुरूप ही है। जिस तरह कृष्ण सर्वेश्वर है उसी तरह राधा भी सर्वेश्वरी है। राधा वृषभानु की कन्या है, जो सदा कृष्ण के वामाग मे सुशोभित होती है। वे हजार सखियो से परिसेवित और सब कामनाओ को पूर्ण करने वाली है।[5] जैसा कि निम्बार्क रचित **दशश्लोकी** के पॉचवे श्लोक मे वर्णित है –

अगे तु वामे वृषभानुजा मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रै परिसेविता सदा स्मरेम देवी सकलेष्टकामदाम्।।

---

१ मुहम्मद मलिक पूर्वोद्धृत पृ० २७६

२ पूर्वोक्त पृ० २७७, वरदाचार्य वी० पूर्वोद्धृत पृ० ३६८, दासगुप्त शशिभूषण, श्रीराधा का क्रम विकास–दर्शन और साहित्य मे वाराणसी १६५६, पृ० १८१ भडारकर आर० जी० वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रेलिजस सिस्टम्स नई दिल्ली १६८७ पृ० ६२–६६

३ मुहम्मद मलिक पूर्वोद्धृत पृ० २७७

४ पूर्वोक्त वही पृ०

५ मुहम्मद, मलिक, पूर्वोद्धृत, पृ० २७७, दासगुप्त शशिभूषण पूर्वोद्धृत, पृ० १८१

निम्बार्क मे राधा को स्वकीया और विवाहिता माना है।[1] निम्बार्क सम्प्रदाय की भक्ति–साधना मे शरणागति की धारा का अजस्र प्रवाह दिखाई पडता है। अत इसी कारण निम्बार्क–सम्प्रदाय की साधनारूपिणी भक्ति और रामानुज के श्री सम्प्रदाय के भक्ति–योग मे साम्यता दिखाई पडती है।[2] रामानुज और निम्बार्क के भक्ति सिद्धातो मे दो अन्तर दिखाई पडता है– (१) रामानुज के भक्ति भाव को उपनिषदो मे विहित उपासना की कोटि तक पहुँचा दिया और उसके मौलिक रूप को बदल दिया किन्तु निम्बार्क ने भक्ति के सहज मूलभाव को यथावत् प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। (२) रामानुज ने भक्ति को नारायण–लक्ष्मी, भू और लीला तक सीमित रखा है। जबकि निम्बार्क ने अपनी भक्ति–साधना मे कृष्ण और सखियो द्वारा परिवेष्टित राधा को भी प्रधानता दी है। अत निम्बार्क ने अपने सम्प्रदाय मे प्रेम–लक्षण–रागात्मिका पराभक्ति को भक्ति–साधना का चरम लक्ष्य माना है। इस प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय मे राधा–कृष्ण को परमब्रह्म स्वरूप प्रदान किया गया है। इस सम्प्रदाय को सनक–सम्प्रदाय भी कहते है।

चैतन्य सम्प्रदाय

वैष्णव धर्म के विभिन्न सम्प्रदायो के प्रवर्त्तको, आचार्यों ने अपने–अपने सम्प्रदायो की दार्शनिक भित्ति को सुदृढ किया है। चैतन्य महाप्रभु का नाम वैष्णव धर्म के प्रचारको मे विशेष उल्लेखनीय है, जिन्होने समस्त उत्तरी–भारत को, विशेषत बगाल को भक्ति रस से आप्लावित करने का सतत् प्रयास किया था।[3] चैतन्य महाप्रभु का जन्म १४८५ ई० मे बगाल के नदिया नामक स्थान मे हुआ था।[4] इनका जन्म का नाम विश्वम्भर था,

---

१ मुहम्मद, मलिक पूर्वोद्धृत पृ० २७७

२ पूर्वोक्त, वही पृ०, दासगुप्त, शशिभूषण पूर्वोद्धृत, पृ० १८१

३ चटर्जी ए०एन०, पूर्वोद्धृत पृ० १००, मुहम्मद, मलिक पूर्वोद्धृत पृ० ३७३, मुकर्जी एस०सी०, ए स्टडी ऑफ वैष्णविज्म इन एन्शियन्ट एण्ड मैडिवल बगाल कलकत्ता १९६६ पृ० १६१

४ मुहम्मद, मलिक पूर्वोद्धृत पृ० ३७३, वरदाचार्य वी० पूर्वोद्धृत पृ० ३७०

बाद मे वे अपने अनुयायियो द्वारा कृष्ण–चैतन्य कहलाने लगे। इनके मतानुसार भक्ति का स्थान ज्ञान और योग दोनो से ऊँचा है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इनके जीवन पर निम्बार्क, विल्वमगल जयदेव, चडीदास, विद्यापति जैसे भक्तो और कवियो का प्रभाव पडा, जिसके फलस्वरूप चैतन्य मे प्रेममय कृष्ण के प्रति प्रगाढ श्रृगारिक भक्ति का भाव उद्भूत दिखाई पडता है।[1] इसी कारण चैतन्य–सम्प्रदाय मे कृष्ण और राधा की पूजा के समय जो भक्तिभाव उत्पन्न होता है, उसे रस माना जाता है[2]

चैतन्य–सम्प्रदाय के दार्शनिक मत को अचिन्त्यभेदाभेद के नाम से जाना जाता है। चैतन्य महाप्रभु के अचिन्त्य व भेदाभेद के आधार पर *जीव गोस्वामी* और *कृष्णदास कविराज गोस्वामी* ने दार्शनिक सिद्धान्त के रूप मे अचिन्त्य भेदाभेदवाद की प्रतिष्ठा की।[3] *कृष्णदास कविराज* ने '**श्रीचैतन्यचरितामृत**' मे इस दार्शनिक मत का विशद वर्णन किया है।[4] दार्शनिक दृष्टिकोण से अचिन्त्यभेदाभेद की व्याख्या करते हुए *जीवगोस्वामी* ने **सर्वसवादिनी** मे कहा है कि भगवान श्रीकृष्ण एव उनकी स्वरूपादि शक्तियो मे परस्पर अभिन्न रूप से चिन्तन करना अशक्य होने से उनमे भेद प्रतीत होता है और भिन्न रूप से चिन्तन करना अशक्य होने के कारण परस्पर अभेद प्रतीत होता है अतएव शक्ति एव शक्तिमान मे भेद एव अभेद दोनो स्वीकृत है परन्तु यह अचिन्त्य है– शक्ति–शक्ति मतोभेदाभेदवागीकृतौ तौ च अचिन्त्यौ इति' इस प्रकार इनमे अचिन्त्य भेदाभेद सम्बन्ध है।[5]

---

१ चटर्जी ए०एन० पूर्वोद्धृत पृ० १०४ मुहम्मद मलिक पूर्वोद्धृत पृ० ३७४

२ वरदाचार्य वी० पूर्वोद्धृत पृ० ३७० चटर्जी ए०एन० पूर्वोद्धृत पृ० १०५, भडारकर आर०जी०, पूर्वोद्धृत पृ० ८२–८५

३ लोढा कल्याणमल भक्ति तत्व–दर्शन–साहित्य–कला, कलकत्ता, १९६५, पृ० २३६

४ कविराज कृष्णदास चैतन्य चरितामृत २२५१०८

५ लोढा कल्याणमल पूर्वोद्धृत पृ० २३६, चटर्जी ए०एन०, पूर्वोद्धृत, पृ० १०५

चैतन्य–सम्प्रदाय मे परमब्रह्म कृष्ण को सत्–चित्–आनद स्वरूप माना है। वे सगुण और निर्गुण दोनो है। वे समस्त रूपो मे आदि, अशी आश्रय, ईश्वर और चिदानन्द स्वरूप है। एक ही तत्व के तीन नाम है– ब्रह्म, परमात्मा और भगवान। श्रीकृष्ण ज्ञानियो के लिए परमब्रह्म, योगियो के लिए परमात्मा एव भक्तो के लिए भगवान है। किन्तु चैतन्य मत मे कृष्ण के भगवान स्वरूप को श्रेयस्कर माना है जो उनका पूर्णतम स्वरूप है। यदि दार्शनिक दृष्टि से विवेचन किया जायॅ, तो ब्रह्म और परमात्मा दोनो भगवान की आशिक अभिव्यक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित होते है। अत कृष्ण के भगवान रूप मे ब्रह्म की पूर्णाभिव्यक्ति मानी जा सकती है और इस प्रकार कृष्ण ही परमब्रह्म है।[१]

चैतन्य–सम्प्रदाय मे सगुण रूपधारी माधुर्यमडित कृष्ण रूप ही आराध्य माना गया है।[२] वे भावनिधि है। उनमे ऐश्वर्य, सौदर्य, माधुर्य आदि का पूर्णतम विकास होने पर भी माधुर्य का प्राधान्य है। माधुर्य ही भगवान का सार है। श्रीकृष्ण नित्यविहारी है और उनकी प्रकट और अप्रकट दोनो लीलाऍ नित्य है। अपने स्वरूप–माधुरी के आस्वादन के लिए वे भूलोक–वृदावन मे अवतीर्ण होते है।[३]

शक्ति तत्व

चैतन्य सम्प्रदाय मे परमब्रह्म कृष्ण की अनत शक्तियो मे अतरगा, बहिरगा एव तटस्था शक्ति को प्रमुख माना गया है।[४] इनमे अतरगा शक्ति सर्वप्रधान है, जो सत्, चित् तथा आनन्द युक्त है।[५] अतरगा मे राधा, बहिरगा मे भौतिक वस्तुओ सहित प्रकृति

---

१ लोढा कल्याणमल पूर्वोद्धृत पृ० २३७

२ पूर्वोक्त वही पृ०, मुहम्मद, मलिक पूर्वोद्धृत, पृ० ३७७, चटर्जी, ए०एन० पूर्वोद्धृत, पृ० ११०–१११

३ लोढा, कल्याणमल, पूर्वोद्धृत पृ० २३७, मुहम्मद, मलिक, पूर्वोद्धृत पृ० ३७७

४ चैतन्य चरितामृत – २८ ११५–११७

५ मुहम्मद मलिक, पूर्वोद्धृत, पृ० ३७६, चटर्जी ए०एन० पूर्वोद्धृत पृ० १११–११२

अर्थात् माया तथा तटस्था शक्ति मे जीव को स्थान दिया गया है। श्रीकृष्ण के स्वरूप एव प्रभाव के विद्यमान होने के कारण राधा अतरग शक्ति कही गई है। इस शक्ति के विस्तार से लीला पुरूषोत्तम कृष्ण अतरग लीला–विलास के द्वारा अपने स्वरूपगत अनिर्वचनीय आनद की अनुभूति करते है। चद्रा, ललिता, विशाखा आदि गोपियॉ इसी अतरग शक्ति की वृत्तियॉ है। श्रीकृष्ण के सत् चित् व आनद स्वरूप के अनुसार उनकी अतरगा शक्ति के भी तीन रूप है– सधिनी, सवित् एव आह्लादिनी।[१] आह्लादिनी शक्ति आनदरूपिणी होने के कारण सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। आह्लादिनी शक्ति राधा कृष्ण को पूर्ण आनदस्वादन कराती है।[२]

चैतन्य–सम्प्रदाय मे पूर्ण शक्तिमान कृष्ण एव उनकी पराशक्ति राधा मे परस्पर भेद एव अभेद दोनो माना गया है। ये दोनो एक साथ नित्य एव सत्य है। तत्वत राधा–कृष्ण अद्वैत है, तथा ये लीलारस के आस्वादन हेतु दो रूप धारण करते है। ये युगल रूप एव सयुक्त रूप दोनो मे समान है। इनमे रूप का अन्तर है, तत्वगत भेद नही। कृष्ण श्यामवर्णी और राधा गौराग।[३] अत इनका युगल रूप श्याम–गौर होता है परन्तु दोनो परस्पर सम्मिलित होने पर कृष्ण वर्ण गौरवर्ण से आवृत हो जाता है। *जीवगोस्वामी* ने **तत्व सदर्भ** के अन्तर्गत एक श्लोक मे लिखा है कि राधा भाव–द्युतियुक्त कृष्ण ही गौर हरि है, जो अत कृष्ण और बहिर्गौर थे।[४] स्वय चैतन्य महाप्रभु दोनो के मिलित विग्रह माने जाते है, अत इसी कारण उनका स्वरूप गौराग है।[५] चैतन्य सम्प्रदाय मे यह स्पष्टत कहा गया है कि राधा के महाभावपरक प्रेमानन्द

---

१ मुहम्मद मलिक पूर्वोद्धृत पृ० ३७६–७७, चटर्जी ए०एन० पूर्वोद्धृत, पृ० ११०–१११ लोढा कल्याणमल पूर्वोद्धृत पृ० २३८

२ चैतन्य चरितामृत – २८११८–१२३ १४५६

३ लोढा कल्याणमल पूर्वोद्धृत पृ० २३८

४ जीवागोस्वामी तत्व सदर्भ श्लोक स० २ – अन्त कृष्ण बहिर्गौर दर्शितागादिवैभवम्।
कलौ सकीर्त्तनाद्यै स्म कृष्ण चैतन्यमाश्रिता ।।

५ लोढा, कल्याणमल पूर्वोद्धृत पृ० २३८,

५(अ) प्रयाग स्थित स्थानीय गौडीय मठ के निवर्तमान मुख्य पुरोहित त्रिदण्डी स्वामी भक्ति आचार्य अवधूत महाराज से हुई व्यक्तिगत भेटवार्ता द्वारा भी इस तथ्य की पुष्टि पर प्रकाश पडता है।

का आस्वादन करने हेतु कृष्ण स्वय चैतन्य महाप्रभु के रूप मे आविर्भूत हुए और उन्होने स्वय के अद्भुत प्रेम–माधुर्य के उसी रूप के अनुभव का आनन्द प्राप्त किया, जिसका राधा ने आस्वादन किया था। अत इसी कारण चैतन्य राधाभाव युक्त होकर गौर कृष्ण के रूप मे अवतरित हुए।[1]

अत व्यावहारिक एव पारमार्थिक दोनो दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि आह्लादिनी शक्ति ही सम्पूर्ण शक्ति है और इनसे स्वतत्र किसी शक्ति की अवस्थिति नही है और न ही इनसे परे कोई शक्ति है। पुरूषोत्तम कृष्ण से अभिन्न यही शक्ति राधा के नाम से जानी जाती है।[2] यद्यपि आख्यानो एव प्रचलित किवदन्तियो मे चाहे राधा को भले ही आभीरबाला या परकीया नायिका माना गया हो, किन्तु धार्मिक एव दार्शनिक दृष्टि से वे शक्तिमान कृष्ण की साक्षात् पूर्णशक्ति है। राधा–कृष्ण के अद्वय–द्वय सम्बन्ध पर विचार करते हुए दार्शनिको ने कहा है कि कृष्ण अद्वयतत्व है और यही अद्वयतत्व द्वैताभास मे ही अपनी पूर्णता सम्पादित करता है। एक की स्वतन्त्रता एव पूर्णता मे यह द्वैतता बाधक तत्व नही है, बल्कि एक की पूर्णता ही द्वैत–सा प्रतिभासित होने मे है। इसलिये राधा और कृष्ण दो दिखते हुए भी एक ही है अर्थात् वे एक अद्वय ही है।[3] वही एक तत्व शक्ति रूप से राधा है और शक्तिमान रूप से कृष्ण। शक्ति से अलग न तो शक्तिमान की स्थिति सम्भव है और न शक्तिमान से स्वतन्त्र शक्ति की। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि जहाँ एक है वही दूसरा अवश्य विद्यमान है। जिस प्रकार अग्नि से दाहकता, दूध से धवलता, शर्करा से मिठास को पृथक् कर पाना असम्भव है, ठीक उसी प्रकार शक्ति और शक्तिमान राधा और

---

१ कविराज कृष्णदास चैतन्य चरितामृत ११५,६ व १४१०३–१३०

२ चटर्जी, ए०एन० पूर्वोद्धृत, पृ० ११०–१११, श्रीवास्तव मीरा, पूर्वोद्धृत पृ० ३६–३७, लोढा कल्याणमल, पूर्वोद्धृत, पृ० २३७–३८, उपाध्याय बलदेव पूर्वोद्धृत, पृ० १४२–१४५

३ श्रीवास्तव, मीरा, पूर्वोद्धृत पृ० ३६–३७

कृष्ण की पृथक स्वरूप मे कल्पना करना दुष्कर है।[1] **ब्रह्मवैवर्तपुराण** मे भी राधा और कृष्ण की अभिन्नता का विशद् वर्णन प्राप्त होता है।[2] इस प्रकार चैतन्य सम्प्रदाय के अनुसार राधा और कृष्ण मे अचिन्त्य–भेदाभेद सम्बन्ध है।

वल्लभ–सम्प्रदाय

वल्लाभचार्य (१४८१–१५३३) चैतन्य के समकालीन माने जाते है।[3] वल्लाभचार्य तैलग ब्राह्मण के पुत्र थे जो आन्ध्र–प्रदेश के निवासी थे। इनके द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धात शुद्धाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[4] वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म, सत् चित् और आनन्द स्वरूप है। वह व्यापक और सर्वशक्तिमान् है। वह स्वतन्त्र, सर्वज्ञ एव गुणो से परे है।[5] वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म सुगण और निर्गुण दोनो प्रकार का है। वह ससार का कर्त्ता, धर्त्ता और सहर्त्ता है तथा समस्त जीवात्मा मे अन्तर्यामी रूप से विद्यमान रहता है। वह जगत का उपादान और निमित्त कारण है। वह पूर्ण है तथा उसे पुरूषोत्तम कहा जाता है। वह आनन्दमय स्वरूप है। अत इन रूपो मे ब्रह्म सगुण है। ब्रह्म मे साधारण मानवीय कोई गुण न होने के कारण उसे निर्गुण कहा जाता है।[6] समस्त जीव ब्रह्म का अश होने के कारण आनन्दमय ब्रह्म के समान है। अत जीव और ब्रह्म एक है। वल्लभ के अनुसार जगत् सत्य है क्योकि लीला नायक भगवान स्वय जगत् के रूप मे फैला हुआ है। अत माया से अलिप्त नितान्त शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का

---

१ श्रीवास्तव मीरा, पूर्वोद्धृत पृ० ३७
२ ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्णजन्मखड, १५५८–५६
३ चटर्जी ए०एन० पूर्वोद्धृत पृ० ११७
४ मुहम्मद, मलिक पूर्वोद्धृत पृ० ३६६, वरदाचार्य वी०, पूर्वोद्धृत पृ० ३६७–६८
५ पूर्वोद्धृत, वही पृ०, वरदाचार्य, वी० पूर्वोद्धृत, भण्डारकर, आर०जी० पूर्वोद्धृत पृ० ७६–८२
६ पूर्वोक्त वही पृ०, वरदाचार्य वी०, पूर्वोक्त, वही पृ०

कारण है। इस प्रकार वल्लभाचार्य के अनुसार जिस प्रकार ब्रह्म सत्य है, उसी प्रकार जीव और जगत भी सत्य है।[1]

वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म की पूजा कृष्ण के रूप मे होती है जिसे भक्तगण गोपीजनवल्लभ और गोवर्धननाथ या श्रीनाथ के नाम से भी पुकारते है।[2] ब्रह्म का अनुग्रह भक्ति और आत्म–समर्पण द्वारा प्राप्त होता है। जीव जब तक भगवान के अनुग्रह को प्राप्त नही कर पाता, तब तक उसे आनन्द की प्राप्ति नही हो सकती।[3] अपनी भक्ति–साधना–मार्ग के कारण शुद्धाद्वैतवाद पुष्टि–मार्ग के नाम से भी जाना जाता है। श्रीकृष्ण अपनी आनन्द–शक्तियो से परिवेष्टित होकर अपने भक्तो के साथ वैकुण्ठ मे नित्य–लीला करते है। भगवान मे अनन्त शक्तियॉ है जिनमे श्री, पुष्टि गिरा कान्त्या श्रीस्वामिनी चन्द्रावली, राधा, यमुना आदि बारह प्रधान है। क्रीडा हेतु भगवान का समग्र परिवार इस पृथ्वी पर अवतरित होता है और तब वैकुण्ठ ही गोकुल के रूप मे विराजता है।[4] वल्लभाचार्य के अनुसार कृष्ण की प्राप्ति ही मुक्ति है और इस मुक्ति की प्राप्ति के लिए वे निवृत्ति–मार्ग से प्रवृत्ति–मार्ग को श्रेष्ठ मानते है। वल्लभाचार्य राधाकृष्ण सम्प्रदाय के महान अनुयायी थे, किन्तु इन्होने अपने सम्प्रदाय मे राधा की अपेक्षा कृष्ण को अधिक महत्व प्रदान किया। यद्यपि वल्लभ सम्प्रदाय मे राधा कृष्ण के अभेद सम्बन्ध को स्वीकार किया गया किन्तु उपास्य रूप मे राधा–कृष्ण के युगल स्वरूप की प्रतिष्ठा कम हुई। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि आराध्य रूप मे जितना महत्व कृष्ण को दिया गया, उतना राधा को नही। अत इस सम्प्रदाय के मूल इष्टदेव कृष्ण ही है।

---

१ भडारकर आर०जी० पूर्वोद्धृत पृ० ७६–८२, मुहम्मद मलिक पूर्वोद्धृत पृ० ३७०–३७१, वरदाचार्य वी० पूर्वोद्धृत पृ० ३६७

२ चटर्जी ए०एन० पूर्वोद्धृत पृ० ११८, वरदाचार्य वी० पूर्वोद्धृत पृ० ३६७

३ चटर्जी ए०एन० पूर्वोक्त, मुहम्मद मलिक पूर्वोद्धृत पृ० ३७०–३७१

४ मुहम्मद, मलिक पूर्वोद्धृत पृ० ३७१

राधावल्लभ सम्प्रदाय

सोलहवी शती के पूर्वार्द्ध मे ब्रजभूमि मे राधा–कृष्ण की उपासना को लेकर एक अन्य सम्प्रदाय प्रचलित हुआ, जो राधावल्लभ सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक हित हरिवश माने जाते है।[1] इस भक्ति–प्रधान सम्प्रदाय ने राधा–कृष्ण की युगल उपासना को स्वीकार किया है।[2] साथ ही राधा और कृष्ण की प्रेम और आनन्द लीला के ध्यान और मनन मे तथा युगल–मूर्ति की पूजा मे परमानन्द प्राप्ति का साधन घोषित किया। यद्यपि इस सम्प्रदाय मे राधा–कृष्ण का युगल रूप तो स्वीकार्य किया गया है किन्तु उपास्य रूप मे कृष्ण से राधा की पूजा और भक्ति को अधिक महत्वपूर्ण माना है।[3] इस सम्प्रदाय मे राधा की स्थिति कृष्ण की शक्ति के रूप मे मात्र न होकर स्वतन्त्र रूप मे प्रतिष्ठित की गई है। राधा आनन्दस्वरूपिणी परादेवता है और कृष्ण उनके अधीन है। निकुजलीला मे ब्रजलीला की भॉति इसमे कृष्ण का प्राधान्य न होकर राधा का प्राधान्य माना गया है।[4] राधा सच्चिदानन्दमयी तथा सर्वेश्वरी है। अत इस सम्प्रदाय मे राधा ही अधिष्ठातृदेवी है।

राधावल्लभ–सम्प्रदाय को कुछ विद्वानो ने निम्बार्क मत की वृन्दावनी शाखा का माना है तथा कुछ विद्वानो ने चैतन्य मत के अन्तर्गत रखा है। इस सम्बन्ध मे *विजयेन्द्र स्नातक* ने स्पष्ट प्रकाश डालते हुए कहा है, "कि यह सम्प्रदाय अपनी साधना पद्धति,

---

१ मुहम्मद मलिक पूर्वोद्धृत पृ० ३७८, शर्मा रामकिशोर हिन्दी साहित्य का इतिहास इलाहाबाद १९८९ पृ० १८६ स्नातक विजयेन्द्र, पूर्वोद्धृत पृ० ५०–५२

२ श्रीवास्तव मीरा पूर्वोद्धृत, पृ० ४२, स्नातक विजयेन्द्र पूर्वोद्धृत ५०–५२ द्विवेदी कृष्णवल्लभ हिन्दू धर्म का गौरव ग्रथ, प्रकाशनालय लखनऊ २००२ पृ० २०६

३ मुहम्मद, मलिक पूर्वोद्धृत पृ० ३७८, स्नातक विजयेन्द्र पूर्वोद्धृत, पृ० ५०–५२

४ मुहम्मद मलिक पूर्वोद्धृत पृ० ३७९ स्नातक विजयेन्द्र, पूर्वोद्धृत पृ० ५०–५२ श्रीवास्तव मीरा पूर्वोद्धृत, पृ० ४१–४२

विचार–भावना एव सेवा–पूजा आदि मे किसी सम्प्रदाय का अनुगत नही है।"[1] ऐसा प्रतीत होता है कि हितहरिवंश ने विभिन्न सम्प्रदायो की पद्धतियो को मानकर अपनी स्वतन्त्र प्रणाली से इस सम्प्रदाय की स्थापना की थी। किन्तु इतना अवश्य स्पष्ट है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय का मूलाधार राधा–प्रेम है। इसमे राधाकृष्ण प्रेम को निष्काम प्रेम की सज्ञा प्रदान की गई तथा राधा की अराधना के बिना कृष्ण की अराधना को निषेध बताया गया है।

हरिदासी अथवा सखी सम्प्रदाय

सोलहवी शती मे राधा–कृष्ण की युगल–उपासना को लेकर एक और सम्प्रदाय प्रचलित हुआ, जो सखी सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है।[2] इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास जी थे तथा इन्ही के नाम पर इस भक्ति सम्प्रदाय को हरिदासी सम्प्रदाय भी कहा जाता है। हरिदास ने राधा–कृष्ण की उपासना को सखी–भाव से करने को भगवत्प्राप्ति का एकमात्र साधन बताया है।[3] सखी–भाव मे तन्मय भावना की चरम स्थिति है, इसमे सखी का स्वकीया और परकीया का भेद सम्भव नही है। इस सम्प्रदाय मे रस–भक्ति पर विशेष आग्रह होने के कारण यह ज्ञान प्रधान होकर विशुद्ध भाव प्रधान है।

साख्य–दर्शन और राधा–कृष्ण

साख्य–दर्शन मे भी राधा–कृष्ण भाव का दार्शनिक दृष्टि से विवेचन करने का आग्रह किया गया है। साख्य–दर्शन के पुरुष–प्रकृतिवाद को कृष्ण एव राधा से जोडने

---

१ स्नातक विजयेन्द्र पूर्वोद्धृत, पृ० ५३
२ मुहम्मद, मलिक पूर्वोद्धृत पृ० ३८०, शर्मा रामकिशोर, पूर्वोद्धृत, पृ० १८७
३ मुहम्मद मलिक, पूर्वोद्धृत पृ० ३८०–८१, शर्मा रामकिशोर, पूर्वोद्धृत पृ० १८७

का विद्वानो ने प्रयास किया है। इसमे पुरुष और प्रकृति के स्वरूप को विवृत करने के लिए कृष्ण (पुरुष) और राधा (प्रकृति) की कल्पना की गई।[1] *मुशीराम शर्मा* ने भी भारतीय साधना और सूर साहित्य' मे इस सम्बन्ध मे प्रकाश डालते हुए कहा है 'कि हमारी सम्मति मे इस नवीन वैष्णव धर्म की राधा अपने मूल रूप मे साख्य की प्रकृति ही है।[2] **ब्रह्मवैवर्तपुराण** मे भी कृष्ण राधा से कहते है कि मेरे अगस्वरूप तुम ईश्वरी मूल–प्रकृति हो।[3]

यद्यपि अनेक विद्वतजनो ने साख्य के प्रकृति–पुरुष के सदृश राधाकृष्ण के स्वरूप का भी दार्शनिक चिन्तन किया है किन्तु साख्य के प्रकृति–पुरुष और राधा–कृष्ण मे मूलभूत अन्तर दिखाई पडता है। सच्चिदानन्दमयी राधा साख्य की प्रकृति की भॉति जड एव निगुणात्मिका न होकर मूलप्रकृति, पराप्रकृति एव भगवान की आत्म–माया है।[4] इसी प्रकार साख्य के पुरुष की भॉति कृष्ण भी इस प्रकृति से निर्लिप्त, तटस्थ एव द्रष्टा मात्र न होकर शक्ति के वैचित्र्य मे रस लेने वाले, उसके नियन्ता पुरुषोत्तम है।[5] राधाकृष्ण मे उपनिषद् के ईश्वर शक्ति की अद्वैतता है न कि साख्य के प्रकृति–पुरुष की तरह विच्छेद सम्बन्ध है। जिस प्रकार साख्य की ईश्वर शक्ति प्रकृति पुरुष से परे है[6] उसी प्रकार राधा–कृष्ण भी साख्य प्रतिपादित, जड–प्रकृति और साक्षी पुरुष से परे है।[7]

---

१ स्नातक विजयेन्द्र पूर्वोद्धृत पृ० १७५

२ पूर्वोक्त वही पृ०

३ ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्णजन्मखड १५६८

४ श्रीवास्तव मीरा पूर्वोद्धृत, पृ० ३६

५ पूर्वोक्त, वही पृ०

६ सिन्हा हरेन्द्र प्रसाद भारतीय दर्शन की रूपरेखा, दिल्ली १९८३ पृ० २५४–२५६

७ श्रीवास्तव मीरा पूर्वोद्धृत, पृ० ३६

अत कहा जा सकता है कि धर्म एव दर्शन के क्षेत्र मे शक्ति और शक्तिमान रूप मे राधा कृष्ण का अभेद सत्य होने पर भी अखण्ड अद्वयस्वरूप के अन्दर विशेषविजृम्भित भेद कार्य होने पर राधादिरूप विभाव का वैलक्षण्य विभावित होने पर ही श्रृगार अभिलाषित सिद्ध होता है। स्पष्ट है कि धर्म एव दर्शन मे राधाकृष्ण तत्व चिन्तन एक अप्रतिम स्वरूप–सौष्ठव को प्रस्तुत करता है।

•

षष्ठम् अध्याय

राधाकृष्ण सम्प्रदाय एवं पूर्वमध्यकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

षष्टम्–अध्याय

राधाकृष्ण सम्प्रदाय एव पूर्वमध्यकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मानव सभ्यता एव सस्कृति के विविध पक्षो के विकास की तर्कसगत भौतिक पृष्ठभूमि होती है। इसी पृष्ठभूमि के अध्ययन एव विश्लेषण को इतिहासकार अपनी गवेषणा की विषयवस्तु बनाते है। ऐतिहासिक प्रणाली का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि सभ्यता का कोई भी पक्ष शून्य मे जन्म नही लेता। स्थूल एव सूक्ष्म दोनो ही धरातलो पर, सभ्यता के विविध पक्षो के विकास के लिए अलग–अलग ऐतिहासिक कालखण्डो मे विविध कार्यकारी शक्तियॉ, क्रिया एव प्रतिक्रिया से उत्पन्न परिवर्तन की दिशाएँ सतत् क्रियाशील रहती है जो बाह्य स्तर पर सभ्यता का मूर्त स्वरूप निर्धारित करती है तथा आभ्यान्तरिक स्तर पर चेतना को प्रभावित करती है। किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय के उद्भव एव विकास का इतिहास ज्ञात करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उन ऐतिहासिक प्रवृत्तियो, प्रतिक्रियाओ, घटको, सहित सपूर्ण सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि का सुसगत अध्ययन किया जाय जिसमे उस सम्प्रदाय विशेष का उद्भव एव विकास सभव हुआ हो।

मानव सस्कृति के प्रभातकाल मे ही ईश्वर और मानव के बीच सम्बन्ध स्थापित होने लगा था। भारत मे वैदिक युग के पश्चात् जब तत्कालीन समाज का विस्तृत विकास हुआ तब धार्मिक क्रिया–कलापो मे भी विकासशील परिवर्तन आये। फलत उसके आयाम मे भी वृद्धि हुई। रामायण एव महाभारत जैसे महाकाव्यो मे हिन्दू धर्म की चर्चा अति विस्तार से की गई है जिसमे जगन्नियन्ता देवाधिदेव विष्णु के अवतार और

पृथ्वी पर सत् की प्रतिष्ठा का भी वर्णन हुआ है। राम और कृष्ण विष्णु के ही अवतार माने गये है। हिन्दू समाज मे विष्णु के अवतार रूप मे कृष्ण की प्रतिष्ठा अधिक रही है। वैसे कृष्ण के उपासको का आविर्भाव महाभारत–युग से ही प्रारम्भ हो चुका था, जो वासुदेव–कृष्ण की उपासना करते थे और इसका सम्यक् प्रचार पूर्वमध्यकाल एव उसके परवर्तीकाल मे दिखाई देता है।

भारतीय इतिहास मे साधारणत पूर्वमध्यकाल का आरम्भ ७वी शती ई० से लेकर १२वी शती और मध्यकाल या उत्तरमध्यकाल की अवधि मुस्लिम साम्राज्य के स्थापित होने से लेकर ब्रिटिश शासन की नीव पडने से पूर्व मे मानी जाती है।[1] पूर्वमध्यकालीन अवधि निर्धारण के सबध मे अनेक इतिहासकारो ने अपने मत प्रस्तुत किये है। *सी०वी० वैद्य*[2] *वी०ए० स्मिथ*[3] आदि विद्वानो ने अपने–अपने अनुसार पूर्वकालीन भारतीय इतिहास को युगो मे विभाजित करने का प्रयास किया है। निष्कर्षत पूर्वमध्यकाल का काल–निर्धारण लगभग ७वी शती ई० से लेकर १२वी या १३वी शती तक किया जाना उचित प्रतीत होता है।

भारतीय इतिहास मे सातवी शती ई० से लेकर बारहवी शती तक का कालखण्ड अपने युगान्तरकारी परिवर्तनो के कारण विशिष्ट महत्त्व रखता है। कतिपय इतिहासकारो ने इस युग को प्राचीन एव मध्यकालीन इतिहास का सधिकाल मानते हुए इसे सक्रान्ति–काल की सज्ञा प्रदान की है।[4] यह युग हिन्दू–सस्कृति के प्रतिरक्षात्मक स्वरूप के उदय एव विकास का काल था। लगभग इसी समय ऐसा माना जा सकता है कि

---

१ गोपाल लल्लनजी द इकनोमिक लाइफ ऑव नार्दर्न इडिया दिल्ली १९८९ पृ० २२९

२ वैद्य सी०वी० हिस्ट्री ऑव मैडिवल हिन्दू इडिया, पूना खड I पृ० १

३ गोपाल लल्लनजी पूर्वोद्धृत पृ० २२५–२६

४ शर्मा रामशरण प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास दिल्ली १९९३ पृ० २६४–६५, सिह देवीप्रसाद हिन्दू समाज मे परिवर्तन की प्रक्रिया, गोरखपुर, १९८४ पृ० ३, शर्मा रामशरण, प्राब्लम ऑफ ट्राजिशन फ्राम एनशियट टु मेडिवल इन इडियन हिस्ट्री' दि इडियन हिस्टोरिकल रिव्यू, जिल्द १ अक १ (मार्च १९७४), रे, निहार रजन 'दि मेडवियल फैक्टर इन इडियन हिस्ट्री' अध्यक्षीय अभिभाषण, प्रोसीडिग्स ऑफ दि इडियन हिस्ट्री काग्रेस, २९वॉ सत्र पटियाला, १९६८

जब कृष्ण को एक स्वतन्त्र देवता के रूप मे वैष्णव धर्म मे स्थान दिया जाने लगा था। इसका सबसे सबल प्रमाण वैष्णव धर्म का मेरूदण्ड माना जाने वाला प्रसिद्ध ग्रथ **भागवतपुराण** है। **भागवतपुराण** मे कृष्ण एव उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक कथानको का विस्तार से उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त **भागवतपुराण** मे जिस रति—भाव की प्रतिष्ठा की गई और साथ ही लौकिक कालुष्य का परिहार करके जिस रसमयी भूमिका को प्रस्तुत किया गया, वही भक्ति—सम्प्रदायो की आधार—भूमि मानी गई।[1] **भागवतपुराण** का समय ६०० ई० से लेकर १००० ई० के मध्य निर्धारित किया जाता है।[2] ८वी शती ई० से लेकर १०वी शती के बीच निर्मित अनेक मन्दिरो मे भी कृष्ण एव उनके जीवन से जुडी घटनाओ को मूर्तिशिल्प के प्रमुख विषय के आधार रूप मे प्रस्तुत किया गया। ओसियॉ के हरिहर मदिर सख्या १, २ एव ३, सूर्य मन्दिर सख्या ३ एव विष्णु मदिर सख्या १ के बाह्य एव आन्तरिक भागो पर कृष्ण सम्बन्धी अनेक कथाएँ क्रमबद्ध रूप से अकित की गई है।[3] इसी प्रकार खजुराहो स्थित लक्ष्मण—मन्दिर से भी कृष्ण एव उनकी लीलाओ से सम्बन्धित प्रसगो का उत्कीर्णन् प्राप्त होता है।[4] इसके अलावा भारत के विभिन्न क्षेत्रो से कृष्ण व उनकी जुडी कथाओ के मूर्तिशिल्प प्रचुरता से प्राप्त होते है। विविध आभिलेखिक साक्ष्यो मे भी कृष्ण को धार्मिक देवतारूप मानने का सकेत प्राप्त होता है। इस सदर्भ मे मडोर से प्राप्त ८वी—९वी शती के एक प्रतिहारकालीन अभिलेख को प्रस्तुत किया जा सकता है[5] जिसमे विष्णु के लिए प्रयुक्त अनेक विशेषणो जैसे केशव हरि, वासुदेव, शौरि के साथ—साथ उनके वामन नृसिह अवतार आदि उल्लेख किया है। इसी अभिलेख मे कृष्ण और राधा की

---

१ फर्कुहर जे०एन० एन आउटलाइन ऑफ द रेलीजस् लिटरेचर ऑफ इडिया लदन १९२० पृ० २३०

२ हाजरा आर०सी० स्टडीज इन द पौराणिक रिकार्डस ऑन हिन्दू राइटस एण्ड कस्टम्स दिल्ली १९८७ पृ० १८०

३ तिवारी, मारूतिनदन एव गिरि, कमल मध्यकालीन भारतीय मूर्तिकला वाराणसी, १९९१ पृ० ६०

४ देव कृष्ण कृष्ण—लीला सीनस् इन द लक्ष्मण टेम्पुल खजुराहो ललित कला ७, १९६० पृ० ८२—८४

५ अग्रवाल आर०सी० प्रोसीडिग ऑव हिस्ट्री ऑव काग्रेस १९५४ पृ० १६३

लीलाओ का भी उल्लेख है। इससे स्पष्ट होता है, कि अब तक विष्णु के कृष्णावतार को मान्यता प्राप्त हो गई थी। ९७४ ई० के धार शासक वाक्पतिमुज के अभिलेख से भी इस बात की पुष्टि होती है।[1] श्रीकृष्णावतार के दो मुख्य रूप माने गये है जिनमे एक मे उनकी यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न वीर, राजा कसारि आदि रूपो मे परिकल्पना की गई और दूसरे मे उन्हे गोपाल, गोपीजनवल्लभ 'राधाधर–सुधापान शालि–वनमाली' के रूप मे जाना जाता है'।[2] इसमे प्रथम रूप का उल्लेख प्राचीन ग्रथो मे प्रचुर मात्रा मे प्राप्त होता है किन्तु कृष्ण का दूसरा रूप उसकी अपेक्षा कुछ नवीनतम था। धीरे–धीरे कृष्ण का दूसरा रूप प्रधान हो गया और पहला रूप गौण। पूर्वमध्यकाल मे भी कृष्ण के दूसरे रूप का विकास दिखाई पडता है। विविध पूर्वमध्यकालीन मूर्ति शिल्प उत्कीर्णन, साहित्यिक ग्रथो एव आभिलेखिक साक्ष्यो से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज मे कृष्ण के साथ–साथ राधा का उल्लेख होने लगा था। किन्तु वैष्णव धर्म के प्रतिष्ठाता ग्रथ **भागवतपुराण** मे राधा का स्पष्टत नामोल्लेख न प्राप्त होने से राधा को धार्मिक देवी मानने के अस्तित्व मे सदेह होता है। राधा के धार्मिक आविर्भाव का प्रथम उल्लेख निम्बार्क सम्प्रदाय मे प्राप्त होता है।[3] निम्बार्क का आविर्भाव ११६२ ई० मे माना जाता है।[4] इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पूर्वमध्यकाल के अन्तिम चरण मे राधा को धार्मिक देवी के रूप मे कर लिया गया था। किन्तु राधा कृष्ण सम्बन्धी प्रचुर मात्रा मे साक्ष्य मिलने के कारण यह नही कहा जा सकता कि राधा तत्व से वैष्णव धर्म पहले से अपरिचित रहा होगा। इस सम्बन्ध मे *चिन्तामणि वैद्य* का मत उचित प्रतीत होता है। उनका विचार है कि छठी–सातवी शती ई० तक राधा–भक्ति का उदय अवश्य न हुआ हो किन्तु प्रेम–लक्षणा भक्ति के प्रचार हो जाने पर इतना

---

१ बर्गेस जे०ए०एस० पूर्वोद्धृत, पृ० ५१

२ चतुर्वेदी परशुराम मध्यकालीन प्रेम साधना इलाहाबाद १९५२, पृ० १२६

३ उपाध्याय बलदेव भारतीय वाड्मय मे श्रीराधा पटना, १९६३ पृ० ७१

४ उपाध्याय, बलदेव पूर्वोद्धृत वही पृ०

स्पष्ट होता है कि राधा का भक्ति के क्षेत्र मे प्रवेश अवश्य हो गया था।[1] इस प्रकार कहा जा सकता है कि पूर्वमध्यकाल के प्रारम्भिक चरण मे राधा कृष्ण सम्प्रदाय ने अपने पैर जमाने शुरू कर दिये थे और कालान्तर मे १२वी शती ई० मे तथा इसके पश्चात् इसने अपने विकसित स्वरूप को सुदृढ किया। पूर्वमध्यकाल मे जब राधाकृष्ण सम्प्रदाय अपने अस्तित्व आना प्रारम्भ कर रहा था तब तत्कालीन भारत की राजनैतिक सामाजिक आर्थिक एव धार्मिक परिस्थितियॉ किस प्रकार की थी, इसका अध्ययन करना अतिआवश्यक है जो इस प्रकार है–

राजनैतिक स्थिति

हर्ष के मृत्योपरात (६४७ ई०) देश मे राजनीतिक अराजकता की स्थिति व्याप्त हो गई थी। इसी पृष्ठभूमि मे नवीन राजवशो और राज्यो को उदय होने का अवसर प्राप्त हो गया। परिणामस्वरूप देश की राजसत्ता विकेन्द्रित हो गई।[2] भारतीय शासन सूत्र अनेक सत्ता केन्द्रो जैसे– कश्मीर, अजमेर, दिल्ली, मालवा, ग्वालियर, बुन्देलखण्ड, गुजरात आदि मे बिखर गया। अलग–अलग सत्ता केन्द्रो से सम्बद्ध राजवशो मे पारस्परिक सौहार्द एव सहिष्णुता का अभाव हो गया था और वे प्राय आपस मे ही छोटी–छोटी बातो को लेकर सघर्षरत रहते थे जिससे सम्पूर्ण देश को एकसूत्र मे बॉधने वाली चक्रवर्तित्व शासन–पद्धति समाप्त हो गई। इस राजनीतिक व्यवस्था की विश्रृखलता ने सामन्ती प्रथा को बलवती होने मे महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया।[3] लगभग ७वी शती से लेकर १२–१३वी शती तक भारत के उत्तरी एव दक्षिणी भागो मे अनेक राजवशो ने शासन किया, जिनका सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

---

१ वैद्य चिन्तामणि हिस्ट्री ऑफ मैडिवल हिन्दू इडिया, खड III, पूना पृ० ४१५

२ (स) वर्मा, हरिश्चन्द्र मध्यकालीन भारत (७५०–१५४० ई०), दिल्ली १९८५, पृ० १, (स) झा, द्विजेन्द्र नारायण एव श्रीमाली, कृष्ण मोहन प्राचीन भारत का इतिहास दिल्ली १९८४ पृ० ३५४

३ (सं) वर्मा हरिश्चन्द्र पृ० १, चतुर्वेदी परशुराम पूर्वोद्धृत पृ० १७१–७२

उत्तरी भारत के प्रमुख राजवश–

कन्नौज के प्रसिद्ध शासक हर्षवर्द्धन ने लगभग ६४७ ई० तक शासन किया और उसने अपनी शक्ति के बल पर उत्तरी–भारत के एक बडे भाग पर अपना स्वामित्व बनाये रखा किन्तु उसके पश्चात् कन्नौज मे उस प्रकार की प्रभुता फिर नही आ सकी और वह क्षेत्र भिन्न–भिन्न राजवशो की भोगलिप्सा का केन्द्र सा बन गया।[1] ८वी शती के मध्य मे कन्नौज पर तत्कालीन भारत की उद्‌भूत तीन शक्तिशाली राजवशीय शक्तियॉ (दक्षिण मे राष्ट्रकूट, पूर्व मे पाल एव पश्चिम तथा उत्तरी भारत मे गुर्जर–प्रतिहार) अधिकार करके उत्तर–भारत के अधिकाश भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहती थी।[2] यह त्रिपक्षीय सघर्ष लगभग सम्पूर्ण नवी शती ई० तक चलता रहा जिसमे सफलता अन्ततोगत्वा गुर्जर–प्रतीहारो को मिली और वे उत्तर–भारत मे प्रभावशाली सिद्ध हुए। प्रतीहार वश के प्रतापी शासको मे नागभट्ट प्रथम, नागभट्ट द्वितीय रामभद्र, मिहिरभोज प्रथम, महेन्द्रपाल प्रथम, महीपाल, महेन्द्रपाल द्वितीय, देवपाल, विनायकपाल द्वितीय, महीपाल द्वितीय, विजयपाल आदि नाम उल्लेखनीय है।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि विजयपाल के समय तक आते–आते प्रतीहार–साम्राज्य कई भागो मे विभाजित हो गया तथा प्रतीहारो के सामन्त जैसे गुजरात के चालुक्य जेजाकभुक्ति के चदेल ग्वालियर के कच्छपघात, मध्यभारत के कलचुरी मालवा के परमार दक्षिण राजस्थान के गुहिल, शाकम्भरी के चौहान आदि प्रातीय एव क्षेत्रीय स्तर

---

१ (स) वर्मा, हरिश्चन्द्र पूर्वोक्त पृ० ३० चतुर्वेदी परशुराम पूर्वोद्धृत पृ० १७१–७२

२ त्रिपाठी आर०एस० हिस्ट्री ऑफ कन्नौज बनारस १६३७ पृ० २१३–१४ पाठक विशुद्धानन्द उत्तर–भारत का राजनीतिक इतिहास लखनऊ १६७३ पृ० ७६–८७ (स) गुप्त शिवकुमार उत्तरी भारत का इतिहास (६५०–१२००) जयपुर १६६६ पृ० ४७–६१

३ (स) मजूमदार आर०सी० द हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑव द इडियन पीपुल द ऐज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज भारतीय विद्या भवन बम्बई १६५६ पृ० १६–३६ पाठक विशुद्धानन्द पूर्वोद्धृत, पृ० १२८–१७३ चौधरी गुलाबचन्द्र पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इडिया फ्राम जैन सोरशेज, अमृतसर १६६३ पृ० ४१–४६

पर स्वतन्त्र होकर शासन करने लगे। इसमे कन्नौज की केन्द्रीय शक्ति विश्रृखलित हो गई।[1]

आठवी शताब्दी के मध्यकाल मे (लगभग ७२४–७६० ई०) कश्मीर मे कार्कोटवशीय शासक ललितादित्य मुक्तापीड शासन कर रहा था।[2] इसने भी कन्नौज पर विजय प्राप्त करने के साथ–साथ काबुल तक अपनी विजय–पताका फहराकर राजनीतिक शक्ति सुदृढ की। ललितादित्य जैसे शासको की प्रतिद्वद्विता के कारण भी तत्कालीन उत्तरी–भारत की स्थिति डावाडोल बनी हुई थी। लगभग इसी समय बगाल मे पाल एव सेन वशीय शासक शासन कर रहे थे। हर्ष के समकालीन शशाक के पश्चात् पाल वश के नेतृत्व मे बगाल की शक्ति सगठित हुई थी जिसने अपना प्रभुत्व स्थापित करके अपनी गणना उत्तरी–भारत की प्रमुख शक्तियो मे करने का प्रयास किया।[3] पालवशीय शासको मे धर्मपाल, देवपाल, महिपाल प्रथम आदि सर्वाधिक योग्य शासक हुए।[4] धर्मपाल ने बगाल को उत्तरी भारत के प्रमुख राज्यो की श्रेणी मे स्थापित करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।[5] धर्मपाल के समय मे ही उत्तरी भारत मे कन्नौज पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए त्रिपक्षीय सघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार हुई थी। इस प्रकार पालवशीय शासको ने बगाल को राजनीतिक एकता प्रदान करके बगाल के महत्त्व को उत्तरी भारत की राजनीति मे लगभग चार सौ वर्ष तक स्थापित करने मे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। पालवश के पश्चात् बगाल मे राजनीतिक सुदृढता प्रदान

---

१ (स) वर्मा पूर्वोद्धृत पृ० ७, (सं) गुप्त शिवकुमार पूर्वोद्धृत पृ० ६६–१०२

२ पूर्वोक्त पृ० १६ (स) गुप्त, शिवकुमार पूर्वोद्धृत पृ० ५–६

३ पाठक विशुद्धानन्द पूर्वोद्धृत पृ० २२८–२६ चौधरी गुलाबचन्द्र पूर्वोद्धृत, पृ० ५३

४ (स०) मजूमदार आर०सी० पूर्वोद्धृत पृ० २४६–७५, पाठक विशुद्धानन्द पूर्वोद्धृत पृ० २४६–७५

५ पूर्वोक्त, पृ० २३२–३३, वर्मा हरिश्चन्द्र पूर्वोद्धृत पृ० ११–१२, (स०) झा द्विजेन्द्र नारायण और श्रीमाली कृष्णमोहन पूर्वोद्धृत पृ० ३६१–६२

करने का श्रेय सेनवशीय शासको को दिया जाता है।[1] इसके अतिरिक्त सिन्ध मे भी कुछ राजकुल शासन कर रहे थे।[2]

स्पष्ट है कि हर्षोत्तर–युग मे भारत के समस्त उत्तरी भाग अनेक छोटे–छोटे राज्यो मे विभक्त था जहॉ अनेक शक्तिशाली शासक परस्पर सघर्षरत रहते थे जिससे राजनैतिक विकेन्द्रीकरण होना अवश्यम्भावी था।

दक्षिण भारत के प्रमुख राजवश–

उत्तरी भारत की भॉति दक्षिण भारत मे भी ७वी–८वी शती से लेकर १२वी शती के मध्य अनेक राजवशो ने शासन किया। इन राजवशो मे राष्ट्रकूट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राष्ट्रकूटो ने न केवल दक्षिण भारत की राजनीतिक गतिविधियो मे भाग लिया, प्रत्युत उत्तर–भारत की राजनीतिक भागदौड मे सक्रिय भूमिका अदा की। उत्तरी–भारत का त्रिपक्षीय सघर्ष इसका ज्वलन्त उदाहरण है। *आर०सी० मजूमदार* ने राष्ट्रकूटो के सम्बन्ध मे (हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ द इण्डियन पीपुल खड IV) उचित कहा है "कि विध्य के दक्षिण की किसी अन्य शक्ति ने उत्तरी भारत के इतिहास मे अठारहवी शती ई० के मराठा पेशवाओ के काल तक इतनी प्रभावकारी भूमिका अदा नही की।' राष्ट्रकूट वश मे दतिदुर्ग, कृष्ण प्रथम, गोविन्द द्वितीय, ध्रुव (धारावर्ष) गोविन्द तृतीय, अमोघवर्ष, कृष्ण द्वितीय, इन्द्र तृतीय इत्यादि अनेक महान शासक हुए।[3] दक्षिण भारत मे सिहविष्णु (लगभग ५६५–६०० ई०) के साथ पल्लवो का वैभवकाल समारभ माना जाता है।[4] इसके पश्चात् ८वी–६वी शती तक यहॉ पर अनेक पल्लववशीय

---

१ वर्मा हरिश्चन्द्र पूर्वोद्धृत पृ० १४, पाठक विशुद्धानन्द, पूर्वोद्धृत पृ० ३०३ चौधरी, गुलाबचन्द्र पूर्वोद्धृत पृ० ५८, (स०) गुप्त शिवकुमार पूर्वोद्धृत पृ० १४०–४१

२ वर्मा हरिश्चन्द्र पूर्वोद्धृत, पृ० १८, लूनिया बी०एन० भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति का विकास आगरा १६६५, पृ० २५५

३ (सं) मजूमदार, आर०सी०, पूर्वोद्धृत, पृ० १३२–३३, वर्मा हरिश्चन्द्र पूर्वोद्धृत पृ० ३१–३२

४ वर्मा हरिश्चन्द्र पूर्वोद्धृत, पृ० ३२–३३

शासको ने राज्य किया जिसमे महेन्द्रवर्मन, नरसिहवर्मन प्रथम, महेन्द्रवर्मन द्वितीय, राजसिह, परमेश्वरवर्मन द्वितीय, नदिवर्मन द्वितीय, दतिवर्मन आदि प्रमुख रूप से थे।[1] दसवी शताब्दी का अतिम चरण दक्षिण भारत के इतिहास मे राजनीतिक दृष्टि से सक्रमण काल था। यहॉ पहले से सत्तारूढ शक्तियो का पतन हो रहा था और उनका स्थान नवीन उदीयमान शक्तियॉ ले रही थी।[2] इनमे चोल, कल्याणी के चालुक्य चेर एव पाड्य प्रमुख थे।[3]

स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल मे भारत के उत्तरी एव दक्षिण भारत मे अनेक राजवश शासन कर रहे थे। यद्यपि इस युग की राजनीतिक स्थिति मे पूर्ववर्ती शासन–व्यवस्था के अनेक तत्त्व मौजूद थे, फिर भी इसके साथ ही इसमे कई मूलभूत परिवर्तन भी स्पष्ट रूप से दिखाई पडने लगे थे। इसमे सबसे प्रमुख तथ्य भारत की रजानीतिक एकता का छिन्न–भिन्न होना तथा अनेक राज्यो का उत्थान–पतन होना माना जाता है। यह राजनीतिक अनेकता क्षेत्रीय स्तर के सामाजिक एव आर्थिक आधार पर सगठित राज्य–व्यवस्था की देन कही जा सकती है जिसे आगे चलकर सामती प्रथा ने स्थानीयता का स्थायी रूप प्रदान करके राजनैतिक–व्यवस्था को एक ऐतिहासिक आयाम प्रदान किया।

सामती प्रथा या सामतवाद का उदय शक–सातवाहन काल से दिखाई पडता है किन्तु पूर्वमध्यकाल आते–आते यह समाज मे पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया। भारत मे सामतवाद के उद्भव एव विकास मे यहॉ पर पूर्व विद्यमान राजनीतिक, सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियो ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। राजनीतिक क्षेत्र मे सामन्तवाद के

---

१ वर्मा हरिश्चन्द्र पूर्वोद्धृत पृ० ३३

२ पूर्वोक्त पृ० ३४, (स) मजूमदार, आर०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १५०–५८

३ झा द्विजेन्द्र नारायण और श्रीमाली कृष्णमोहन, पूर्वोद्धृत पृ० ३७०

विकास मे तत्कालीन शासको द्वारा प्रदत्त भूमि तथा ग्राम अनुदानो का योगदान माना जाता है।[1] पहले ये भूमि अनुदान केवल ब्राह्मणो को ही धार्मिक कार्यों के लिये दिया जाता था, इसलिए उसे ब्रह्मदेय भी कहा जाता है।[2] भूमिदान सम्बन्धी सर्वप्रथम उल्लेख शक–सातवाहन लेखो मे प्राप्त होता है।[3] गुप्तकाल के कुछ अभिलेखो से यह ज्ञात होता है कि धर्म–कर्म मे लगे पुरोहितो और पडितो के अतिरिक्त गृहस्थो को भी अनुदान स्वरूप गॉव प्रदान किये जाते थे जिससे होने वाली आय का प्रयोग वे धार्मिक प्रयोजनो मे कर सके।[4] इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि गुप्तकाल मे ब्राह्मणो के अतिरिक्त चाहे गृहस्थो को अनुदान दिया जाता रहा हो या अधिकारियो को, किन्तु उसका प्रयोजन धार्मिक–कार्यों को करने से था।[5] गुप्तोत्तर युग मे विशेषत हर्ष के काल एव उसके परवर्ती युग मे भूमि–अनुदान वितरण मे कुछ परिवर्तन दिखाई पडने लगा। अब इसका प्रयोग प्रशासनिक एव सैन्य अधिकारियो को उनकी सेवाओ के बदले मे दिये जाने वाले वेतन के रूप मे किया जाने लगा। इस बात की पुष्टि उस काल से प्राप्त होने वाली मुद्राओ की सख्या मे कमी दिखाई पडने से होती है।[6] *आर०एस० शर्मा*[7] ने सामतवाद के उद्भव पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है "कि सामतवाद का उदय राजाओ द्वारा ब्राह्मणो एव प्रशासनिक तथा सैनिक अधिकारियो को भूमि तथा ग्राम दान देने के कारण हुआ है।" इस प्रकार पूर्वमध्यकाल तक आते–आते सामतवाद एक सर्वमान्य प्रथा के रूप मे विकसित हो गया।

---

१ शर्मा रामशरण भारतीय सामतवाद, नई दिल्ली १९६३ पृ० १६–२१

२ पूर्वोक्त पृ० १४

३ मजूमदार बी०पी० सोशियो इकोनॉमी हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इडिया पृ० २११

४ कार्पस इन्स्क्रपशस इडिकेरम, जिल्द ३ न० २७

५ शर्मा रामशरण पूर्वोद्धृत पृ० १६

६ पूर्वोक्त, वही पृ०

७ शर्मा रामशरण, पूर्वमध्यकालीन भारत का सामती समाज और सस्कृति नई दिल्ली १९९६ पृ० ४

पूर्वमध्यकाल मे शासक वर्ग अपने कुल के व्यक्तियो तथा सम्बन्धियो को विभिन्न प्रान्तो मे उपराजा अथवा राज्यपाल नियुक्त करते थे और इन शासको को उनकी सेवा के बदले जागीरे प्रदान की जाती थी। ये पदाधिकारी अपने पदो का आनुवशिक रूप से उपभोग करते थे। इस प्रकार अनुदान प्राप्त करने के कारण शक्तिसम्पन्न पदाधिकारीगण के वशज कालान्तर मे शक्तिशाली सामन्त के रूप मे उभरे तथा जिन पर केन्द्रीय सत्ता का अकुश नाममात्र का रह गया था।[1] पालो के भूमि अनुदानपत्रो मे उल्लिखित राजपुत्र राणक, राजराजनक, महासामत महासामताधिपति आदि शब्दो का उल्लेख ऐसे सर्वशक्तिसम्पन्न सामत की स्थिति की ओर सकेत करता है जिनका सम्बन्ध भूमि से रहता था।[2] राष्ट्रकूटो के साम्राज्य मे भी सैनिक सेवा के बदले मे दिये गये भूमि–अनुदान सबधी अनेक उदाहरण प्राप्त होते है।[3] प्रतीहार शासको के समय के भी अनेक धार्मिक एव धर्मेतर अनुदान सबधी उदाहरण प्राप्त होते है। प्रतीहार शासक महेन्द्रपाल द्वितीय विदग्ध के शासन–काल मे एक उच्च राज्याधिकारी द्वारा दो भूमि–अनुदानपत्रो पर हस्ताक्षर करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि इस राज्याधिकारी को यह भूमिदान उसकी राजकीय सेवाओ के बदले मे दिया गया होगा। स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल मे बडी–बडी जागीरो के स्वामी सामन्त होते थे जिन्हे विशेषाधिकार एव अनेक सुविधाये प्राप्त थी। कुछ बडे सामन्त अपने अधीन अनेक छोटे सामन्त भी रखते थे। ये सभी सामन्त अपने–अपने अधिकार क्षेत्रो मे शासको की भॉति सुखोपभोग करते थे तथा अनुदान प्राप्त भूमि को पैतृक सम्पत्ति समझते थे और जिसे वे राजा की अनुमति के बिना अपने समर्थको के बीच विभाजित करने का पूर्ण अधिकार अपने हाथो मे रखते थे। सामतो के पारस्परिक सघर्ष ने भी राजनीति के क्षेत्र मे

---

१ शर्मा, रामशरण भारतीय सामतवाद पूर्वोद्धृत पृ० २१
२ पूर्वोक्त पृ० ७६
३ पूर्वोक्त पृ० ८१
४ एन्शियन्ट इडिया १४ न० १३ पक्तियॉ– १४, २७

अशान्ति का जहर घोलने मे सहायता की।[1] इन सामत–नरेशो ने अपने–अपने यहॉ ऐश्वर्य एव भोगलिप्सा की सामग्री एकत्रित करने पर विशेष बल दिया। सामतो ने चाटुकार प्रशसको के अनेक दलो को अपने यहॉ आश्रय देना प्रारम्भ कर दिया था जिन्होने न केवल उन्हे युद्ध करने के लिए उत्तेजित किया, अपितु अनेक सुखोपभोगो की ओर भी आकृष्ट किया। परिणामस्वरूप इन सामत–नरेशो के युद्ध अधिकाशत सुन्दर रमणियो के लिए हुआ करते थे जिसके प्रेरणा स्वरूप कालान्तर मे अनेक रासो ग्रथो का सृजन हुआ।[2] इस प्रकार सामतवादी प्रवृत्ति के कारण जिस स्थानीयकरण की भावना का विकास हुआ, उससे न केवल राजनीतिक केन्द्रीकरण शिथिल हुआ, अपितु सामाजिक गतिशीलता भी अवरूद्ध हो गई।

सामाजिक स्थिति

पूर्वमध्यकाल मे महत्त्वपूर्ण सामाजिक–परिवर्तन दृष्टिगोचर होते है। भूमिदान तथा उससे उत्पन्न सामतीय व्यवस्था ने जीवन के सभी पहलुओ को प्रभावित किया। भूमि के असमान वितरण एव सैनिक शक्ति ने अनेक सामतीय पदो का सृजन किया जिसने वर्ण–नियमो की प्रतिबद्धता को तोडकर जनजीवन मे अपना अलग ही आकार–प्रकार स्थापित किया।[3] परम्परा के अनुरूप भारतीय समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण मे विभक्त था।[4] इस काल के सामाजिक–व्यवस्थाकारो ने भी अनेक आचार–विचार तथा प्रतीकात्मक आधार पर प्रत्येक वर्ण मे अन्तर बनाये रखने की व्यवस्था की थी किन्तु सामन्तवाद के विकास ने न केवल जाति व्यवस्था के बन्धन ही ढीले किये, अपितु समाज के उच्च तथा निम्न वर्गों के अन्तर को भी समाप्त किया क्योकि सामन्त किसी

---

१ चतुर्वेदी परशुराम पूर्वोद्धृत पृ० १७२
२ पूर्वोक्त वही पृ०
३ (स) झा द्विजेन्द्र नारायण एव श्रीमाली, कृष्णमोहन पूर्वोद्धृत पृ० ३७२
४ शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत मे सामाजिक परिवर्तन, दिल्ली, १९७५, पृ० ११

भी जाति के हो सकते थे।[1] किन्तु इस मत को पूर्णत सत्य की कसौटी पर खरा नही माना जा सकता। *बी०एन०एस० यादव*[2] ने इस सम्बन्ध अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते है कि पूर्वमध्यकाल मे सामाजिक स्तरीकरण की दो प्रवृत्तियाँ साथ–साथ उद्‌भूत दिखाई देती है। इसमे जहाँ एक ओर समाज के उच्च तथा कुलीनवर्ग द्वारा वर्ण नियमो को कठोरतापूर्वक लागू करने का प्रयास किया जा रहा था, वही दूसरी ओर इस काल के व्यवस्थाकारो ने विभिन्न जातियो एव वर्गों के मिश्रण से बने हुए शासक एव सामती वर्ग को वर्णव्यवस्था मे समाहित करके आदर्श एव यथार्थ के बीच समन्वय स्थापित करने का भी प्रयास किया जा रहा था। स्पष्ट है कि इस काल मे विकसित सामती व्यवस्था ने ब्राह्मणो, क्षत्रियो, वैश्यो एव शूद्रो सभी को प्रभावित किया।

ब्राह्मण वर्ण

तत्कालीन समाज मे ब्राह्मणो को सबसे अधिक सम्मानीय स्थान प्राप्त था।[3] इस बात की पुष्टि न केवल धार्मिक ग्रन्थो से होती है बल्कि *ह्वेनसाग, अलमसूदी अलबरूनी* आदि विदेशी यात्रियो के वृत्तान्तो से भी होती है। इस काल मे भी ब्राह्मणो का प्रमुख कार्य अध्ययन–अध्यापन, यजन–याजन एव दान लेना–देना था।[4] किन्तु बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण ब्राह्मणो के पूर्व प्रचलित कार्यों जैसे यज्ञादि के बन्द होने से आजीविका सम्बन्धी समस्याएँ उत्पन्न होने लगी, इससे ब्राह्मण अन्य वर्णों के कार्य भी

---

१ कॉलब्रुक, एच०टी० मिसलेनियस एसेज लदन १९७३ पृ० ५२

२ यादव बी०एन०एस० सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इडिया इन द टवेल्फ्थ सेन्चुअरी इलाहाबाद १९७३ पृ० १०८

३ ओझा, गौरीशकर हीराचद मध्यकालीन भारतीय सस्कृति इलाहाबाद १९५१ पृ० ३२, राधेशरण प्राचीन भारतीय इतिहास का राजनीति एव सास्कृतिक स्वरूप (आदिकाल से १२०० ई० तक) १९७३ पृ० ४०१–०२

४ ओझा गौरीशकर हीरानद पूर्वोद्धृत पृ० ३२

करने लगे।[1] ब्राह्मणो के लिए क्षत्रिय एव वैश्य का कार्य करना उचित बताया गया है। **पराशर स्मृति** मे सब वर्णों को कृषि–कार्य करने की आज्ञा दी गई है।[2] *ह्वेनसाग* ने टक्क देश (पजाब) के ब्राह्मण द्वारा कृषि–कर्म करने का उल्लेख किया है।[3] पूर्वमध्यकालीन स्मृतियो से ब्राह्मणो को आपातकाल मे व्यापार–कार्य द्वारा आजीविका चलाने के उदाहरण प्राप्त होते है।[4] पूर्वमध्यकाल मे भूमि, शौर्य तथा प्रभुसत्ता सामाजिक स्तर के मानक बन गये थे। इसी कारण *मेधातिथि* ने बाह्य आक्रमण से उत्पन्न भय एव सामाजिक दुर्व्यवस्था को रोकने के लिए ब्राह्मण को भी शस्त्र धारण करने की अनुमति प्रदान की है।[5] **वशिष्ठ स्मृति** मे भी परिस्थितिवश सभी वर्णों को शस्त्र ग्रहण करने की आज्ञा प्रदान की गई है।[6] स्पष्ट है कि तत्कालीन परिवर्तित सामाजिक परिवेश से ब्राह्मणो के पूर्वनिर्दिष्ट कर्मों द्वारा आजीविका चलाना कठिन कर दिया गया, फलस्वरूप अन्य वर्णों के व्यवसाय को अपनाने से उनकी सामाजिक स्थिति मे परिवर्तन आना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

क्षत्रिय वर्ण

पूर्वमध्यकालीन समाज मे ब्राह्मणो के समान क्षत्रियो को भी विशिष्ट स्थान प्राप्त था। क्षत्रिय वर्ण का प्रमुख कर्म शासन करना प्रजा की रक्षा करना एव युद्ध मे भाग लेना था।[7] इस काल मे राजपूतो के अभ्युदय ने प्राचीन क्षत्रियो का स्थान ले लिया था।[8]

---

१ ओझा गौरीशकर पूर्वोद्धृत पृ० ३२–३३

२ पराशर स्मृति अध्याय २ श्लोक न० २ १८ १६

३ झा, द्विजेन्द्र नारायण और श्रीमाली कृष्णमोहन पूर्वोद्धृत पृ० ३७४

४ ओझा गौरीशकर हीराचद पूर्वोद्धृत पृ० ३३

५ झा, द्विजेन्द्र नारायण एव श्रीमाली, कृष्णमोहन, पूर्वोद्धृत पृ० ३७३

६ वसिष्ठ स्मृति अध्याय ३ प्राणत्राणे वर्णसकरे वा ब्राह्मणवैश्यो शस्त्रमाददीयाताम्।

७ ओझा, गौरीशकर हीरानद पूर्वोद्धृत पृ० ३५

८ झा द्विजेन्द्र नारायण एव श्रीमाली कृष्णमोहन पूर्वोद्धृत पृ० ३७४, शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत का सामती समाज और सस्कृति, पूर्वोद्धृत पृ० १७४

राजपूत शब्द सस्कृत मे प्रचलित राजपुत्र शब्द का विकृत रूप प्रतीत होता है, जिसका प्राचीन ग्रथो मे अर्थ राजवश के राजकुमारो से लिया जाता था, किन्तु पूर्वमध्यकाल मे इस शब्द का प्रयोग सैनिक वर्गों या युद्धप्रिय जातियो तथा सामत वर्ग के लिए भी किया गया।[1] राजपूतो ने अनेक राजवश स्थापित किये, जिनके अधीन अनेक सामत होते थे। इन सामतो को राज्य के अन्तर्गत किसी निश्चित भूभाग पर शासक के रूप मे नियुक्त किया जाता था, जिन्हे उनकी सेवा के बदले मे शासन–क्षेत्र के अन्तर्गत भूमि पर सभी राज्याधिकार प्रदान किये जाते थे। बारहवी शती ई० तक राजपूतो की ३६ जातियॉ प्रसिद्ध हो गई थी, जिनमे चालुक्य, चौहान, प्रतीहार, परमार विशेष रूप प्रसिद्ध थे। ये सभी क्षत्रिय कहलाते थे। पूर्वमध्यकाल मे कई अक्षत्रिय राजाओ का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जब पूर्वमध्यकाल मे वर्ण–व्यवस्था की विशुद्धता पूर्णत जब टिक न सकी तो उस समय बहुत से क्षत्रियो के पास भूमि न रहने के कारण वे बेकार हो गये तो उन्होने भी ब्राह्मणो के समान अन्य वर्ण के व्यवसाय को अपनाना प्रारम्भ कर दिया।[2] इसका परिणाम यह हुआ कि समाज मे क्षत्रियो की दो श्रेणियॉ हो गई– एक तो वे क्षत्रिय जो अपने वर्णधर्म के अनुसार कार्य करते थे तथा दूसरे वे क्षत्रिय थे, जो कृषि, व्यापार एव अन्य व्यवसायो द्वारा आजीविका चलाते थे।[3] *इब्नखुर्दादब* ने उपरोक्त दोनो प्रकार के क्षत्रियो को क्रमश सवूकफूरिया और कतरिया कहा है।[4]

वैश्य वर्ण

वैश्य वर्ण के लोग सदैव से व्यापार, कृषि एव पशुपालन आदि व्यवसायो मे सलग्न रहते थे। किन्तु पूर्वमध्यकाल मे बौद्ध, जैन एव वैष्णव धर्म मे प्रतिपादित

---

१ झा एव श्रीमाली पूर्वोक्त वही पृ० ३७४
२ ओझा गौरीशकर हीरानद पूर्वोद्धृत पृ० ३६
३ पूर्वोक्त वही पृ०
४ पूर्वोक्त वही पृ०

अहिसा–सिद्धात के प्रभाव से वैश्यो ने सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए कृषि कर्म और पशुपालन को त्याग दिया और मात्र व्यापार–वाणिज्य को अपने जीविकोपार्जन का साधन बना लिया।[1] *ह्वेनसाग* ने भी वैश्यो के विषय मे स्पष्ट लिखा है कि तीसरा वर्ण वैश्यो या व्यापारियो का था, जो पदार्थों का विनिमय करके लाभ उठाता था।[2] *रामशरण शर्मा* के अनुसार छठी शती तक आते–आते वैश्यो ने कृषक जाति के रूप मे अपनी पहचान खो दी थी।[3] इस प्रकार इस काल मे वैश्य वर्ण व्यापारी सघो एव शिल्पकार श्रेणियो मे सगठित हो गये, जिन्होने देश की समृद्धि एव सम्पन्नता को बनाये रखने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

पूर्वमध्यकालीन समाज मे वैश्यो की सामाजिक स्थिति पतनोन्मुख दिखाई पडती है। वैश्यो के इस पतन का कारण पूर्वमध्यकाल के प्रथम चरण मे हुए व्यापार–वाणिज्य के ह्रास को माना जाता है। इस काल मे आतरिक एव बाह्य दोनो प्रकार के व्यापार का ह्रास हुआ। *रामशरण शर्मा* ने **स्कन्दपुराण** मे वैश्यो के प्रति की गई भविष्यवाणी का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कलियुग मे व्यापारियो का पतन होगा। इनमे कुछ तेली तथा अनाज फटकने वाले होगे तथा अन्य राजपुत्रो और दूसरे वर्ग के लोगो पर आश्रित होगे।[4] इस प्रकार वैश्यो का सामाजिक पतन के साथ ही आर्थिक पतन भी होना स्पष्ट हो गया।

शूद्र वर्ण

समाज मे सेवा–कार्य को करने वाला वर्ण शूद्र के नाम से जाना जाता था। पूर्वमध्यकाल मे वैश्यो द्वारा कृषि–कर्म का त्याग करने के कारण शूद्रो का कृषि से

---

१ ओझा गौरीशकर हीरानद पूर्वोद्धृत पृ० ३६–३७

२ वाटर्स, टी० ऑन युवनच्वाग ट्रॉवेल्स इन इण्डिया, लदन, १९०४–०५, जिल्द १, पृ० १६८

३ शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत मे सामाजिक परिवर्तन (लगभग ५००–१२०० ई०) दिल्ली १९७५, पृ० १६

४ शर्मा रामशरण पूर्वोद्धृत वही पृ०

घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया और इस प्रकार उनकी आर्थिक स्थिति मे पहले की अपेक्षा सुधार हो गया। इस प्रकार शूद्रो ने कृषक के रूप मे वैश्यो का स्थान ग्रहण कर लिया और अब सामाजिक स्तर पर दोनो वर्णों की स्थिति एक समान हो गई। **पराशर स्मृति** मे भी वैश्यो एव शूद्रो के लिये समान रूप से कृषि वाणिज्य एव शिल्प कार्य करने का विधान बताया है।[1] *अलबरूनी* के विवरण से भी इस बात की पुष्टि होती है कि वैश्यो एव शूद्रो की स्थिति मे कोई विशेष अन्तर नही रह गया था। इस प्रकार पूर्वमध्यकाल मे वैश्यो का पतन तथा शूद्रो का उत्थान एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन था जिसके पीछे प्रमुख कारण सामन्ती प्रवृत्तियो के विकास को माना जाता है– (१) पूर्वमध्यकाल मे कृषि को सभी वर्णों का सामान्य धर्म निर्धारित किया गया था। यह व्यवस्था समाज मे बढते हुए कृषिमूलक स्वरूप का सकेत थी जो सामतवाद के कारण इस युग मे और अधिक स्पष्ट एव विस्तृत हो गई थी।[2] (२) पूर्वमध्यकाल मे भूमि अनुदानो की अधिकता के कारण सामन्तो एव अन्य भूस्वामियो की सख्या मे वृद्धि हो गई और उन्हे अपनी भूमि मे कृषि कार्य हेतु बहुसख्यक श्रमिको की आवश्यकता प्रतीत हुई और इसकी पूर्ति के लिए शूद्र वर्ण को चुना गया, जिनकी सख्या भी अधिक थी।[3] इस प्रकार शूद्रो को आर्थिक लाभ होने लगा और उन्होने इस प्रकार वैश्यो से कृषि अधिकार छीन लिये गये।

पूर्वमध्यकालीन स्मृतिकार जिसमे *अत्रि, देवल, पराशर* आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, इन्होने ने भी शूद्रो को सेवा के अतिरिक्त कृषि, पशुपालन, वाणिज्य

---

१ पराशर स्मृति आचारकाण्ड २१३ – वैश्य शूद्रस्तथा कुर्यात् कृषि वाणिज्य शिल्पकम्।

२ शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत मे सामाजिक परिवर्तन दिल्ली, पृ० ११

३ शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत का सामती समाज और सस्कृति पूर्वोद्धृत, पृ० १७४–१७८

एव शिल्प सम्बन्धी व्यवसाय करने की अनुमति प्रदान की।[1] इस प्रकार पूर्वमध्यकाल मे शूद्रो के लिए अन्य उद्योग–धन्धे भी आजीविका के साधन हो गये थे।

पूर्वमध्यकालीन समाज की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है– कि इस समय जातियो एव उपजातियो की सख्या मे अत्यधिक वृद्धि होने लगी थी।[2] परम्परागत चार वर्ण कई जातियो एव उपजातियो मे विभाजित हो गये और कई नई जातियो एव जनजातियो को भी इसके अन्तर्गत समाहित कर लिया गया।[3] भूमि अनुदान की अधिकता के कारण ब्राह्मणो मे दृढ स्थानीयता की भावना विकसित हो गई और परिणामस्वरूप पूर्वमध्यकाल मे उनकी अनेक उपजातियॉ बन गई।[4] क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र इन तीनो वर्णों मे भी अनेक जातियो एव उपजातियो का विकास हुआ। पूर्वमध्यकालीन समाज मे सबसे अधिक सख्या मे जातियो की अभिवृद्धि शूद्र वर्ण मे हुई।[5] *यादव प्रकाश* कृत **वैजयन्ती** एव *हेमचन्द्र* की **अभिधानचितामणि** नामक ग्रन्थो से भी शूद्र जाति की सख्या मे वृद्धि होने की जानकारी प्राप्त होती है।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वमध्यकाल मे सबसे अधिक शूद्र वर्ग प्रभावित हुआ। इस काल मे परम्परागत व्यवसाय के अतिरिक्त शिल्पो के आधार पर बनी बहुत सी जातियॉ भी शूद्र वर्ण मे सम्मिलित कर ली गई। इसके अतिरिक्त पूर्वमध्यकाल मे अनेक वर्णसकर जातियो जैसे अम्बष्ठ रथकार आदि के साथ–साथ किरात, भील, जैसी जनजातियो को भी शूद्र वर्ण मे शामिल कर लिया गया जिससे शूद्रो की सख्या मे वृद्धि हो गई।[7] **ब्रह्मवैवर्तपुराण** मे

---

१ झा द्विजेन्द्र नारायण एव श्रीमाली, कृष्णमोहन पूर्वाद्धृत, पृ० ३७६

२ शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत मे सामाजिक परिवर्तन, पूर्वोद्धृत पृ० १७, शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत का सामती समाज और सस्कृति पूर्वोद्धृत पृ० ३०

३ शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत मे सामाजिक परिवर्तन पूर्वोद्धृत वही पृ०

४ पूर्वोक्त पृ० १८, ओझा गौरीशकर हीरानद पूर्वोद्धृत पृ० ३४–३५

५ शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत का सामती समाज और सस्कृति पूर्वोद्धृत, पृ० ३० शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत मे सामाजिक परिवर्तन पूर्वोद्धृत पृ० २०

६ शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत मे सामाजिक परिवर्तन पूर्वोद्धृत, वही पृ०

७ पूर्वोक्त पृ० २२, प्रकाश ओम प्राचीन भारत का सामाजिक एव आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली, १९९७ पृ० ११३

भी अनेक वर्णसकर एव जनजातियो का उल्लेख हुआ है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वमध्यकाल मे शूद्रो की सख्या मे वृद्धि होने का कारण शिल्पियो का जाति रूप धारण करना तथा वाणिज्य व्यापार के ह्रास के कारण शिल्पियो की श्रेणियो मे गतिशीलता का अभाव एव स्थानीयता को बल देने को भी प्रमुख माना जाता है।परिणामस्वरूप विभिन्न व्यवसायो एव श्रेणियो से जुडे लोगो मे सकीर्णता का विकास हुआ और वे विभिन्न जातियो के रूप दिखाई पडने लगे।

पूर्वमध्यकाल मे सामतोपसामतीकरण के कारण गुप्तकाल मे उद्भूत कायस्थ वर्ग के भूमि एव राजस्व–सम्बन्धी कार्यो मे वृद्धि दिखाई देती है, परिणामस्वरूप वे अपने पद का अनुचित लाभ उठाकर प्रजा पर अत्याचार करते थे। कायस्थो के लिए करण करणिक, अधिकृत पुस्तपाल, चित्रगुप्त, लेखक, दिविर, धर्मलेखिन, अक्षरचण अक्षपटलाधिकृत आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है।[2] कायस्थो के जाति के रूप मे आविर्भाव होने से समाज मे प्रतिष्ठित ब्राह्मण वर्ण का एकाधिकार समाप्त हो गया।[3] इस सम्बन्ध मे प्रमुख दो कारण बताये जाते है– (१) कायस्थो ने धीरे–धीरे उच्च प्रशासनिक पदो पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।[4] चदेल, कलचुरि, कर्नाटक एव उडीसा के शासको के दरबार मे कायस्थ मत्री इसके ज्वलन्त उदाहरण है। (२) कायस्थो द्वारा भूमि–सम्बन्धी दस्तावेजो मे गडबडी करने से ब्राह्मणो को भूमिदान मिलने मे भी कठिनाइयो का सामना करना पडा।[5] फलत १२वी शती तक कायस्थो को बदनाम करने की प्रवृत्ति भी पराकाष्ठा पर पहुँच गई।[6]

---

१ ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्मखड १० १७–१३६
२ शर्मा रामशरण, पूर्वमध्यकालीन भारत मे सामाजिक परिवर्तन पूर्वोद्धृत पृ० १३
३ पूर्वोक्त पृ० १४
४ पूर्वोक्त वही पृ०
५ पूर्वोक्त, वही पृ०
६ पूर्वोक्त, वही पृ०

पूर्वमध्यकालीन समाज मे स्त्रियो की दशा बहुत दयनीय थी। प्राय उन्ही को लेकर युद्ध हुआ करते थे। बहुविवाह, बालविवाह एव सती प्रथा के कारण स्त्रियो का जीवन दूभर हो गया था। **राजतरगिणी**[1] एव **कथासरित्सागर**[2] से भी सती प्रथा सम्बन्धी उल्लेख प्राप्त होते है। पूर्वमध्यकाल मे दास–प्रथा मे वृद्धि हुई। इस काल मे राजा सामत गृहस्थ के अतिरिक्त बौद्ध मठो, वैष्णव शैव एव शाक्त मदिरो मे भी दास रखे जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल मे कन्याओ को देवदासी के रूप मे मदिरो मे रखा जाता था जो गीत, वाद्य एव नृत्य द्वारा ईश्वर की उपासना करती थी।[3] पूर्वमध्ययुगीन अभिलेखो मे भी यत्र–तत्र देवदासियो का वर्णन मिलता है। चाहमान वशी जोजाल्लदेव अपने राजदरबारियो के साथ देव मन्दिर के उत्सव मे सम्मिलित होता था, जहॉ देवदासियॉ नृत्य–गान करती रहती थी।[4] **राजतरगिणी**[5] से देवदासी प्रथा पर प्रकाश पडता है किन्तु शनै शनै देवमदिर कामोद्दीपन के केन्द्र बनते गये तथा उनकी दीवारो पर कामकला सम्बन्धी विभिन्न चित्र एव आकृतियॉ उत्कीर्ण की जाने लगी।[6] इसके प्रभाव से देवदासियॉ भी अछूती न रह सकी। इसके अतिरिक्त पूर्वमध्यकाल मे अस्पृश्यता की भावना मे वृद्धि होने से अस्पृश्य जातियो की सख्या मे भी वृद्धि दिखाई पडती है।[7] गुप्तकाल मे अस्पृश्य जाति मे उन लोगो को रखा जाता था जो गॉवो एव नगरो की सीमाओ के बाहर रहते थे। इनमे चाडाल जाति का उल्लेख किया जाता है किन्तु पूर्वमध्यकाल मे अस्पृश्य जाति की सख्या मे वृद्धि दिखाई देती है। *वासुदेव उपाध्याय* ने अस्पृश्यो को अन्त्यज, बराट, वरूड, भिल्ल, चाडाल, चर्मकार, दाश, नट,

---

१ राजतरगिणी ५ २२६
२ कथासरित्सागर १० ५८
३ मिश्र जयशकर पूर्वोद्धृत पृ० ४३१
४ एपीग्राफिया इडिका पृ० २६
५ राजतरगिणी ७ ८५८
६ मिश्र जयशकर पूर्वोद्धृत पृ० ४३२
७ शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत का सामती समाज और सस्कृति पूर्वोद्धृत, पृ० ३०, शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत मे सामाजिक परिवर्तन पूर्वोद्धृत, पृ० २२, प्रकाश ओम पूर्वोद्धृत पृ० ११३–११४

रजक आदि के रूप मे सूचीबद्ध किया है।[1] **वैजयती कोश**[2] (ग्यारहवी शती ई०) मे अनेक अस्पृश्य जातियो का उल्लेख हुआ है। इतना ही नही पूर्वमध्यकालीन स्मृतिकारो ने ब्राह्मणेत्तर धर्मो–बौद्ध, जैन, लोकायत, नास्तिक, शैव, शाक्त एव वाममार्गी के अनुयायियो को भी अस्पृश्य घोषित किया है।[3] स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल मे स्मृतिकारो ने हिन्दू समाज के बडे भाग को अस्पृश्य रूप मे माना।

आठवी शती के लगभग इस्लाम धर्म के सम्पर्क मे आने के कारण हिन्दू समाज मे कुछ नई प्रवृत्तियॉ दिखाई पडी। मुस्लिम विजेताओ की धर्म–प्रचारक नीति को देखकर हिन्दू समाज मे आत्मरक्षा की प्रवृत्ति बडी तीव्रता के साथ जाग्रत हुई।[4] मुस्लिम शासको ने हिन्दू प्रजा को अधिकाधिक अपने मत मे परिवर्तित करने का अभियान प्रारम्भ कर दिया। इस्लाम धर्म मे सामाजिक दृष्टि से सभी कों बराबर समझा जाता था। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि उसमे कोई भेदभाव नही था, अर्थात उसमे ऊँच–नीच की किसी बात का समावेश नही था। इससे प्रभावित होकर हिन्दू समाज इस धर्म की ओर आकृष्ट हुआ, विशेषत शूद्र जो निम्न वर्ण के माने जाते थे तथा उन्हे हिन्दू सभ्य समाज के अधिकारो से वचित रखा जाता था, वह सहजता से इस्लाम धर्म को स्वीकार करने के लिए तत्पर हो गये। इससे भारतीय समाज को गहरा आघात पहुॅचा क्योकि उसे पहली बार वर्णाश्रम–व्यवस्था की प्रतिद्वन्द्वी परिस्थिति का सामना करना पड रहा था।[5] परिणामस्वरूप हिन्दू व्यवस्थाकारो ने अपनी जाति की शुद्धता एव पवित्रता को बनाये रखने के उद्देश्य से जातिप्रथा के नियमो को अत्यधिक कठोर बना दिया। इससे समाज मे अब विवाह, खान–पान, एव स्पृश्यता सम्बन्धी नियम

---

१ उपाध्याय वासुदेव सोशियो–रेलिजस कडीशन ऑफ नार्थ इडिया (७००–१२०० ई०), वाराणसी १९६४ पृ० ६२

२ वैजयतीकोश ८२ १२१

३ अपरार्क टीका ३, ३० स्मृत्यर्थसार ७७

४ मुहम्मद मलिक वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन दिल्ली १९७१ पृ० ३३६

५ पूर्वोक्त पृ० ३३६–३७

अत्यन्त कडे हो गये। इस प्रकार हिन्दू समाज मे सामाजिक सम्बन्ध अत्यन्त सकुचित हो गये और रूढिवादिता का विकास हुआ, जिससे समाज मे ऊँच–नीच की खाई और गहरी होती गई।

आर्थिक स्थिति

पूर्वमध्यकाल के प्रथम चरण (लगभग ६४७–१००० ई०) को आर्थिक दृष्टि से पतन का काल माना जाता है। इसका कारण व्यापार एव वाणिज्य का ह्रास होना प्रतीत होता है।[1] रोम साम्राज्य के पतन हो जाने से भारत का पश्चिमी एशियाई देशो से व्यापार अपेक्षाकृत कम हो गया।[2] इस्लाम के उदय होने से भी भारतीय स्थलमार्गीय व्यापार प्रभावित हुआ। फलत नगर एव नगर जीवन के क्षेत्र में गतिरोध उत्पन्न हुआ।[3] इस काल की मुद्राओ की सख्या मे भी पूर्वकाल की अपेक्षा कमी दिखाई देने लगी तथा उसकी शुद्धता मे भी पूर्वकाल की अपेक्षा गिरावट आ गई।[4] इसका प्रमुख कारण भारत मे विदेशी व्यापार मे कमी होना माना जाता है। अब तक भारत को निर्यात करने वाली वस्तुओ के विनिमय मे प्रचुर मात्रा मे सोना व चॉदी प्राप्त होता था, किन्तु इस समय वह भी न के बराबर था।[5] मुद्राओ की अल्पता का एक अन्य कारण सामती व्यवस्था द्वारा राज्य कर्मचारियो को उनकी सेवा के बदले नकद वेतन के स्थान पर भूमिदान देना भी माना जाता है।[6] इससे मुद्राएँ ढालने की अधिक आवश्यकता नही पडी।

---

१ शर्मा रामशरण, पूर्वमध्यकालीन भारत मे सामाजिक परिवर्तन पूर्वोद्धृत पृ० ४–५

२ गोपाल लल्लन जी पूर्वोक्त पृ० ११५

३ नदी रमेद्रनाथ प्राचीन भारत मे धर्म के सामाजिक आधार नई दिल्ली, १९६८ पृ० १३५

४ शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत का सामती समाज और सस्कृति, पूर्वोद्धृत, पृ० ११६ प्रकाश ओम पूर्वोद्धृत, पृ० १६४

५ शर्मा रामशरण पूर्वोक्त पृ० ११४–१५

६ पूर्वोक्त पृ० ११७

नगरो के पतन के कारण व्यापारी गॉवो की ओर उन्मुख होने लगे। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय शक्ति विखण्डित होने के कारण देश मे अनेक आर्थिक एव प्रशासनिक इकाइयॉ सगठित हो गई, जो पूर्णत स्वतन्त्र थी। इससे स्थानीयकरण मे वृद्धि हुई और व्यापारी और कारीगर एक ही स्थान पर रहने के लिये विवश हो गये तथा उनका एक स्थान से दूसरे स्थान तक आवागमन रूक गया। इससे तत्कालीन अर्थव्यवस्था प्रभावित हुई। पूर्वमध्यकाल मे वही दूसरी तरफ सामन्ती प्रथा एव भूमिधरवर्ग के उदय से समाज कृषि–मूलक हो गया। इस काल मे कृषि के क्षेत्र मे बहुत उन्नति हुई।[१] *ह्वेनसाग* एव नवी–दसवी शती के *अरब लेखको* ने भारत की उपजाऊ भूमि एव उसमे उत्पादित अनाज एव फलो की प्रशसा की है।[२] कृषि–कार्य हेतु सिचाई–व्यवस्था उत्तम थी। इस काल मे कृषि–योग्य भूमि का स्वामी राजा माना जाता था जो अपने अनुदान–ग्राहियो को अपने सभी अधिकारो का हस्तान्तरण करता था।[३] इस प्रकार पूर्वमध्यकाल मे कृषि पर राजा और कृषक के बीच सामतो का प्रभुत्व स्थापित हो गया था।[४] *काशी प्रसाद जायसवाल* ने प्राचीन भारत मे भूमि पर राजकीय स्वामित्व के सिद्धात को सामतवादी विधान का अग माना है।[५] भूमि पर सामतो के अधिकार बढने से कृषको की दशा शोचनीय हो गई और उन्हे पहले की अपेक्षा अधिक करो का भार सहना पडता था तथा वे उपज का कुछ भाग राज्य कर्मचारियो को भी देते थे।[६] *रामशरण शर्मा*[७] ने भारतीय सामतवाद की तुलना यूरोपीय सामतवाद से की है। इस प्रकार भूमिधर व सामतो ने

---

१ शर्मा रामशरण भारतीय सामतवाद पूर्वोद्धृत पृ० १०२

२ प्रकाश ओम पूर्वोद्धृत पृ० २४

३ शर्मा, रामशरण पूर्वोद्धृत पृ० १२७

४ शर्मा रामशरण पूर्वोद्धृत पृ० १२७

५ जायसवाल काशीप्रसाद हिन्दू पॉलिटी कलकत्ता १९२४ पृ० ३४६

६ प्रकाश ओम पूर्वोद्धृत, पृ० २६–३०

७ शर्मा रामशरण प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास दिल्ली १९९३, पृ० २६५

भू–समृद्धि के आधार पर अपने व्यक्तिगत स्वामित्व को प्रतिष्ठित किया जिससे भूमि पर राजकीय नियत्रण शिथिल हो गया और उपसामन्तीकरण का विकास हुआ।

पूर्वमध्यकाल के द्वितीय चरण (१०००–१२०० ई०) से व्यापार–वाणिज्य मे कुछ सुधारात्मक लक्षण दृष्टिगत होते है। दसवी शती ई० के उपरात भारत का पश्चिमी देशो से व्यापारिक सम्बन्ध पुन बढने लगा, जिससे देश की आर्थिक स्थिति मे सुधार हुआ। इस काल मे देवल थाना खबात, भडोच, सोमनाथ, ताम्रलिप्ति आदि प्रमुख बदरगाह थे जिनसे विदेशो मे व्यापार होता था।[1] व्यापारिक प्रगति से मुद्राओ के प्रचलन का कार्य भी तीव्र गति से बढने लगा।

धार्मिक स्थिति

पूर्वमध्ययुगीन धार्मिक इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इस काल मे अनेकानेक सम्प्रदायो, उपसम्प्रदायो एव धार्मिक मत–मतान्तरो का उद्‌भव एव विकास हो रहा था।[2] इस काल मे अनेक देवी–देवताओ एव सम्प्रदायो की सख्या मे अभिवृद्धि के पीछे क्षेत्रीयता की सकीर्ण भावना, बहुसख्यक स्वायत्तशासी राज्य एव अपनी अस्मिता को बनाये रखने की उनकी इस भयाक्रात मनोदशा को सहायक माना जाता है।[3] अत ऐसी स्थिति मे धार्मिक विचारो मे नवीनता एव उनसे सम्बन्धित अनेक क्रिया–कलापो मे भी प्रतिरक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा।[4] पूर्वमध्यकाल मे विकसित धार्मिक परिस्थितियो का सक्षेप मे वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है–

---

१ प्रकाश ओम पूर्वोद्धृत पृ० १३५

२ सिह देवी प्रसाद हिन्दू समाज मे परितर्वन की प्रक्रिया गोरखपुर १९८४ पृ० १६१, पगारे शरद पूर्वमध्ययुगीन धार्मिक आस्थाएँ–एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण नई दिल्ली, १९८७ पृ० ६५, पाडेय अवध बिहारी पूर्वमध्यकालीन भारत का इतिहास कानपुर १९५४ पृ० ४२६–३०

३ सिह देवी प्रसाद, पूर्वोद्धृत, वही पृ०, पगारे शरद, पूर्वोद्धृत वही पृ०

४ सिह, देवी प्रसाद पूर्वोद्धृत वही पृ०

पूर्वमध्यकालीन भारतवर्ष मे ब्राह्मण, बौद्ध एव जैन धर्म पहले से ही विद्यमान थे। इसके अतिरिक्त इस्लाम का भी पदार्पण हो चुका था। जैन धर्म को गुजरात राजस्थान के कुछ राजवशीय शासको ने विशेष रूप से प्रोत्साहित किया।[1] परमारो के शासनकाल मे मालवा मे जैन धर्म के प्रचलन का स्पष्ट सकेत मिलता है। प्राप्त एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय (जैन धर्म की एक शाखा) के एक महान जैनाचार्य मालवा के दक्षिणी भाग मे गये थे।[2] तान्त्रिक धर्म के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रहने के कारण यद्यपि जैन धर्म की प्रतिष्ठा समाज मे बनी रही किन्तु अनवरत युद्धग्रस्त राजपूतकालीन समाज रहने के कारण जैन धर्म को अधिक राजाश्रय नही प्राप्त हो सका। बौद्ध धर्म का भी भारत के विभिन्न क्षेत्रो मे अस्तित्व फैला हुआ था, किन्तु उसका प्रभाव क्षीण होता सा प्रतीत हो रहा था। बौद्ध धर्म के इस पतन का प्रमुख कारण राजकीय सरक्षण मे कमी होना था।[3] इसके अतिरिक्त तान्त्रिक प्रभाव से बौद्ध धर्म मे उद्भूत वज्रयान एव कालचक्रयान जैसे सम्प्रदायो के दूषित विचारो ने भी इसके पतन मे सहयोग दिया।[4] वज्रयानियो ने अपनी धर्म–साधना मे स्त्री–सग एव मद्य–सेवन पर विशेष बल दिया, फलत कुलीन स्त्रियो की सत्व–रक्षा अपने आप मे एक समस्या बन गई थी।[5] वज्रयान मे महासुखवाद के अन्तर्गत रति सुख को प्रश्रय दिया गया और इसका स्पष्ट प्रभाव धार्मिक क्षेत्र मे दिखाई पडने लगा।[6] अब धर्म से जुडी मूर्तियॉ अश्लील रूप मे बनने लगी। इस प्रकार वज्रयान सम्प्रदाय ने एक विशेष अभिप्राय की आड मे मैथुन की अनुमति प्रदान कर दी। ग्यारहवी–बारहवी शती मे जहॉ कहीं भी

---

१ (स) वर्मा हरिश्चन्द्र पूर्वोद्धृत पृ० ७५

२ एपीग्राफिया इडिका १९ पृ० ७१

३ सिह देवी प्रसाद पूर्वोद्धृत पृ० १६६

४ पगारे शरद पूर्वोद्धृत पृ० १४४–४६, वर्मा, हरिश्चन्द्र पूर्वोद्धृत, पृ० ७४, बनर्जी एस०सी० तत्र इन बगाल, ए स्टडी इन इद्स ओरिजिन डेवलपमेन्ट एण्ड इन्फ्लूऐन्स' कलकत्ता १९६७, पृ० २८–२९

५ शुक्ल आचार्य रामचन्द्र हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १०

६ मुहम्मद मलिक पूर्वोद्धृत पृ० ३३८

भारतवर्ष मे बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ, उस पर वज्रयान का प्रभाव सबसे अधिक रहा। बगाल और मगध इसके गढ माने गये।[1]

पूर्वमध्यकाल मे शाक्त सम्प्रदाय का अभूतपूर्व विकास हुआ। शक्ति की पूजा–उपासना करने वाले धर्मावलम्बी शाक्त कहलाते थे।[2] तन्त्रो का सबसे अधिक प्रभाव शक्ति सम्प्रदाय पर पडा। शक्ति की उपासना का आधार उपनिषदो का ब्रह्मवाद है। विभिन्न देवी देवताओ के रूप मे वह शक्ति प्रतिफलित है। शक्ति का प्रारम्भिक रूप शिव की पत्नी उमा अथवा पार्वती मे दिखाई देता है, जो जगज्जननी कहलाती है और इनका तात्रिक एव दार्शनिक विकास भी शक्ति के रूप मे माना जाता है।[3] विविध साक्ष्यो से स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल मे शक्ति–पूजा व्यापक रूप से प्रचलित थी।

शाक्त–सम्प्रदाय को तात्रिक सम्प्रदाय से प्रभावित माना जाता है क्योकि तत्र सम्प्रदाय मे मातृदेवी की पूजा को विशेष महत्त्व दिया गया है।[4] साथ ही तात्रिक सम्प्रदाय के अनुसार यह भी माना गया है कि ससार का प्रत्येक जीव स्त्री के गर्भ से उत्पन्न होता है। अत मूलभूत सृष्टि का सिद्धात स्त्री मे निहित है। चाहे वह ब्रह्म की प्रकृति और माया हो और चाहे वह पार्वती, दुर्गा, लक्ष्मी, राधा हो। ये सभी जगन्माता के विभिन्न नाम है।[5] यह शक्ति आनन्द स्वरूप होती है और इस आनन्दमयी शक्ति की उपासना भौतिक आनन्ददायक पदार्थो के साथ होती है जिनमे पचमकार (मद्य, मत्स्य,

---

१ भारतीय विद्या भवन सीरिज – द स्ट्रगिल फार एम्पायर पृ० ४१३

२ पगारे शरद पूर्वोद्धृत पृ० ६८–६६

३ श्रीवास्तव कमल एस० हिन्दू सिम्बोलिज्म एण्ड आइकनोग्राफी– ए स्टडी वाराणसी १६६८ पृ० ६४–६५

४ मिश्रा टी०एन० इम्पैक्ट ऑव तत्र ऑन रेलीजन एण्ड आर्ट नई दिल्ली १६६७ पृ० ३५–३८ शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत का सामती समाज और सस्कृति नई दिल्ली १६६६ पृ० १८६

५ मिश्रा टी०एन० पूर्वोद्धृत पृ० ३६

मास मुद्रा एव मैथुन) को विशेष महत्त्व दिया जाता है।[1] इसके प्रभाव स्वरूप प्रत्येक वर्ण की स्त्री, प्रत्येक वर्ण के पुरूष की उपभोग्या हो सकती थी।[2] तत्र सम्प्रदाय ने शाक्त के अतिरिक्त शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदायो को भी प्रभावित किया।[3] पूर्वमध्ययुग मे तत्र–सम्प्रदाय की इस लोकप्रियता के पीछे तत्कालीन सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि को सहायक माना जा सकता है।[4] इस सप्रदाय मे जहॉ एक ओर स्त्रियो शूद्रो एव बाहर से शामिल होने वाली अनेक जनजातियो को स्थान दिया गया, वही दूसरी ओर इसने उस समय के सामाजिक एव सामती श्रेणी को विन्यास प्रदान मे भी सहायता की। पूर्वमध्यकाल मे तत्र एव शाक्त सप्रदाय के प्रभाव का दुष्परिणाम भी दिखाई देता है जिससे तत्कालीन धर्म मे अनेक विसगतियॉ व्याप्त होने लगी और अब नैतिकता के स्थान पर वामाचार ने अपने पैर जमाने शुरू कर दिये थे।

पूर्वमध्यकाल मे जैन, बौद्ध इस्लाम धर्म के साथ–साथ तत्र, वज्रयान, शाक्त के अतिरिक्त शैव, सौर, गाणपत्य एव वैष्णव सम्प्रदाय भी विकसित अवस्था मे था। ये सभी सम्प्रदाय किसी न किसी देवी–देवता से जुडे माने जाते है जैसे शाक्त का सबध शक्ति, शैव का शिव, सौर का सूर्य, गाणपत्य का गणपति (गणेश) वैष्णव का विष्णु से। इस प्रकार ये सभी पूर्वमध्यकालीन समाज मे प्रचलित पचदेवो की उपासना के प्रचलन का स्पष्ट सकेत करते है। ये सभी देव स्वतत्र रूप से समाज मे स्थान प्राप्त कर रहे थे जिनका विकास किसी देवता विशेष के नाम से सम्प्रदाय के रूप मे हो रहा था।[5]

---

१ मिश्र टी०एन० पूर्वोक्त पृ० ३६–३६ शर्मा रामशरण पूर्वोद्धृत पृ० १८६

२ द्विवेदी प्रेमशकर गीतगोविन्द साहित्यिक एव कलागत अनुशीलन खड एक वाराणसी १६८८ पृ० २५

३ मिश्रा टी०एन० पूर्वोद्धृत पृ० ३८–४१, शर्मा, रामशरण, पूर्वोद्धृत, पृ० १८६, सिह देवी प्रसाद, पूर्वोद्धृत पृ० १६६–७०

४ शर्मा रामशरण पूर्वोद्धृत पृ० १६०–२०६

५ थापन अनीता रैना, अण्डरस्टैंडिग गणपति मनोहर प्रकाशन, अध्याय ४, पृ० १५

पूर्वमध्यकाल मे शैव सम्प्रदाय भारत के अधिकाश भागो मे प्रचलित था। इस काल मे जनसामान्य के साथ–साथ अनेक राजवशो ने शैव धर्म को सरक्षण प्रदान किया। तत्कालीन अभिलेख इस बात के ज्वलन्त प्रमाण है कि शिव का स्तवन ओम नम शिवाय' के साथ प्रारम्भ होता था।[1] बॉसखेडा–ताम्रपत्र से पता चलता है कि गौड नरेश शशाक दृढ शैवमतावलम्बी था और प्रारम्भ मे कन्नौज नरेश हर्ष भी शिवोपासक था। कलचुरि अभिलेख मे शर्व (शिव) की अत्यन्त मोहक प्रशस्ति वर्णित की गई है।[2] उदयपुर प्रशस्ति मे शम्भु (शिव) को 'भुजगमाल' से युक्त और गगाबुससिक्त अभिव्यजित किया गया है।[3] इस काल के अनेक शासको ने शिव मदिरो एव प्रतिमाओ का भी निर्माण करवाया था। पालवशीय शासक नारायणपाल द्वारा एक सहस्र शिव मदिरो के निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] भारत के पूर्वी भागो जैसे आसाम बगाल, उडीसा आदि मे भी अनेक शिव मदिर निर्मित हुए। उत्तरी भारत मे भी प्रतिहार, गहडवाल, चदेल आदि शासको ने भी शिव मदिर निर्मित करवाये। खजुराहो से प्राप्त मदिर–समूह मे अधिकाशत मदिर शैव सम्प्रदाय से सम्बन्धित है।[5]

शिव मदिरो के अतिरिक्त शिव की विभिन्न मुद्राओ की अनेक मूर्तियॉ भी इस युग मे निर्मित की गई। इनमे शिवलिग के अतिरिक्त नटराज, उमा–माहेश्वर अर्द्धनारीश्वर आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[6] प्रतिहार अभिलेख से अर्द्धनारीश्वर

---

१ एपिग्राफिया इडिका, २१ पृ० ४८

२ एपिग्राफिया इडिका २१ पृ० १४६

३ एपिग्राफिया इडिका १ पृ० २३३

४ इडियन एन्टिक्वैरी १५, पृ० ३०६ – महाराजाधिराज श्रीनारायणपालदेवेन स्वय कारित सहस्राय तनस्य। तस्य प्रतिष्ठापितस्य भगवत शिवभटटारकस्य।

५ जैन एन्टिक्वैरी १६ १ जून १६५३ पृ० ५२–५३

६ मिश्र, जयशकर पूर्वोद्धृत पृ० ७५४

मूर्ति का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] शैव धर्म का विभिन्न सम्प्रदायो मे विकास हुआ।[2] इनमे शैव, पाशुपत, कापालिक एव कालामुख प्रमुख थे। **वामन पुराण** मे इन्ही चार सम्प्रदायो का वर्णन प्राप्त होता है।[3] इनमे सबसे अधिक प्राचीन पाशुपत सम्प्रदाय था। *ह्वेनसाग* ने सिन्ध एव अहिच्छत्र के लोगो को पाशुपत सम्प्रदाय के मानने वाला बताया है[4]। दक्षिण भारत मे भी शैव धर्म का प्रचार–प्रसार हुआ। दक्षिण मे वीरशैव सम्प्रदाय या लिगायत सम्प्रदाय का विकास अधिक तीव्रगति से हुआ। कश्मीर मे भी विकसित शैव सम्प्रदाय त्रिक्‌दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार पूर्वमध्यकाल मे शैव सम्प्रदाय अपने नये रूप मे विकसित हुआ।

पूर्वमध्यकालीन भारत मे सौर–सम्प्रदाय का भी विकास हुआ। यद्यपि सूर्य पूजा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रही है किन्तु इस युग मे ये विशेष रूप से लोकप्रिय हुई। हर्ष एव उसके पूर्वज सूर्य के उपासक थे। पालो के समय बगाल मे सूर्य की अनेक मूर्तियॉ प्राप्त हुई है जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि बगाल मे सूर्य पूजा लोकप्रसिद्ध थी। बगाल के सेनवशीय शासको के काल मे सूर्य–पूजा के प्रचलन का स्पष्ट सकेत मिलता है। इसी प्रकार काश्मीर मे भी सौर–सम्प्रदाय के विकसित होने के प्रमाण प्राप्त होते है। कार्कोट वशीय शासक ललितादित्य स्वय सूर्योपासक था जिसने कश्मीर मे सूर्य का प्रसिद्ध मार्तण्ड मदिर बनवाया। कुछ प्रतीहार शासक भी सूर्य के परम भक्त बताये गये है। तेरहवी शती मे निर्मित उडीसा के कोणार्क का सूर्य मदिर

---

१ एपीग्राफिका इडिका १६ पृ० १७५ – हरस्यार्द्धनारीश मूर्ति।

२ पाठक वी०एस०, हिस्ट्री ऑव शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इडिया वाराणसी १६६० पृ० ३ सिह देवी प्रसाद पूर्वोद्धृत पृ० १६३ तिवारी श्रीधर मध्य प्रदेश मे शैव धर्म का विकास नई दिल्ली १६८८ पृ० ४६

३ वामन पुराण अध्याय ६

४ वाटर्स टी० ऑन युवान च्वागस् ट्रैवेल्स इन इडिया जिल्द २ पृ० २५७–६२

अत्यन्त भव्य एव विशाल माना जाता है। **भविष्यपुराण** (५०० ई०–१२०० ई० तक)[1] मे सूर्य भक्ति के महात्म्य का विस्तार से वर्णन किया गया है।[2] स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकालीन समाज मे सौर–सम्प्रदाय विकसित अवस्था मे था।

पूर्वमध्यकालीन समाज मे गाणपत्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत की जाने वाली गणेश पूजा का अत्यधिक महत्व दिखाई पडता है। दसवी शताब्दी तक उनको समस्त हिन्दू परिवार के लोकप्रिय देवता के रूप मे मान्यता प्राप्त हो गई। जनसाधारण ने गणेश को समस्त सिद्धि प्रदाता एव विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति मे सहायक देवता के रूप मे स्वीकार किया। पश्चिमी भारत मे गणेश प्रमुख देवता के रूप मे पूजे जाते थे। गणपति पूजा के अधिक प्रचलन के कारण उनके विविध रूपो को मूर्तियो मे उकेरा जाने लगा। **अग्निपुराण** (९वी–१०वी शती) मे गणेश सम्बन्धी व्रत एव उसके महात्म्य का उल्लेख प्राप्त होता है।[3] **नीलमतपुराण** के अनुसार कश्मीर मे कृष्णपक्ष की विनायक–अष्टमी को विशेष रूप से गणेश की पूजा की जाती है। **गणेशपुराण** (११००–१३०० ई०)[4] मे भी गणेश को ब्राह्मणीय देवसमूह मे उच्चतम स्थान दिया गया है।[5] **ब्रह्मवैवर्तपुराण** (१०वी–१६वी शती) मे भी गणेश एव उसकी पूजा के महत्व की अतिविस्तार से चर्चा की गई है।[6] इस प्रकार विविध पौराणिक आख्यानो मे गणेश को शिव के द्वितीय पुत्र के रूप मे माना गया है, जो समस्त विघ्नो को समाप्त करके जीवन को मगलमय करते है। इसलिए प्रत्येक शुभ–कार्य के आरम्भ मे उनकी पूजा को आवश्यक माना गया है।

---

१ हाजरा आर०सी० स्टडीज इन द पौराणिक रिकार्डस ऑन हिन्दू राइटस एण्ड कस्टम्स दिल्ली, १९८७ पृ० १८८

२ पाडे सुस्मिता बर्थ ऑव भक्ति इन इडियन रेलीजनस् एण्ड आर्ट नई दिल्ली १९८२ पृ० १६३

३ (स) झा द्विजेन्द्र नारायण और श्रीमाली कृष्णमोहन पूर्वोद्धृत पृ० ३९९

४ हाजरा आर०सी० 'द गणेश पुराण', जर्नल ऑव द जी०एन० झा सस्कृत विद्यापीठ, खण्ड १ नवम्बर १९५१ पृ० ९७

५ गणेश पुराण १० १७ १४ ४५

६ ब्रह्मवैवर्त पुराण २ ७५ ५९–६०, पाडे, सुष्मिता, पूर्वोद्धृत पृ० १६३

पूर्वमध्यकाल मे अन्य सम्प्रदायो के साथ–साथ वैष्णव–सम्प्रदाय का भी व्यापक प्रचार–प्रसार हुआ। वैष्णव सम्प्रदाय से आशय उस हिन्दू धार्मिक पथ से है जिसके अनुयायी विशेष रूप से भगवान विष्णु के उपासक होते है।[1] गुप्तकाल मे वैष्णव सम्प्रदाय लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष मे विकसित हो चुका था और साथ ही विष्णु के अवतारो का सिद्धात भी हिन्दू धर्म मे धीरे–धीरे व्याप्त होने लगा था।[2] किन्तु गुप्तकाल के पश्चात् जो शासक हुए, उन्होने वासुदेव धर्म को नही स्वीकार किया, परिणामस्वरूप भारत के उत्तरी भाग मे वैष्णव धर्म का ह्रास दिखाई पडने लगा।[3] उत्तरी भारत से यह वैष्णव धर्म दक्षिण भारत पहुँचा जहॉ तमिल प्रदेश वैष्णव धर्म के गढ के रूप विख्यात हुआ।[4] पॉचवी–छठी शताब्दी से नवी शताब्दी तक वैष्णव भक्त आलवारो ने भक्ति–मार्ग के माध्यम इसे समूचे तमिल प्रदेश मे लोकप्रिय बना दिया।[5] कालान्तर मे इनके द्वारा चलाये गये आदोलन ने व्यापक जन–आदोलन का रूप ग्रहण कर लिया। आलवार भक्ति आदोलन की प्रमुख विशेषता यह थी कि यह आदोलन मूलत भावनात्मक था जिसमे भक्ति प्रेम एव शरणागति द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता था।[6] इनके अनुसार विष्णु परमदेव विश्वात्मा, सर्वज्ञानमय, अनत, अमेय एव असीम ब्रह्म होते हुए भी सदैव प्राणियो पर अनुग्रह करने के लिए पृथ्वी पर अवतरित होते है और मूर्त रूप मे अपने भक्तो को दर्शन देते है। इस प्रकार आलवारो ने पूर्व–प्रचलित भक्ति–परम्परा मे

---

१ ओझा फणीन्द्रनाथ मध्यकालीन भारतीय समाज और सस्कृति दिल्ली १६८८, पृ० १

२ ओझा गौरीशकर हीरानद पूर्वोद्धृत पृ० १३

३ गुप्ता आशा मध्ययुगीन सगुण एव निर्गुण हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रयाग १६७० पृ० ३६–३७

४ पूर्वोक्त वही पृ मुहम्मद मलिक, पूर्वोद्धृत पृ० ६२–६३

५ मुहम्मद मलिक पूर्वोद्धृत पृ० ६५

६ पूर्वोक्त वही पृ०, नारायण एम०जी०एस० एण्ड वेलुदैट केशवन भक्ति मूवमेन्ट इन साउथ इडिया द फ्यूडल आर्डर स्टेट सोसाइटी, एण्ड आइडियोलॉजी इन अर्ली मैडिवल इडिया, (सं) झा डी०एन० नई दिल्ली २००० पृ० ३८५–८६

उपलब्ध भक्ति का सरलीकृत रूप प्रस्तुत किया। इससे पूर्व वैदिक धर्म मे जो यज्ञादि की व्यवस्था थी, वह सब लोगो के लिए साध्य नही थी।[1] इसके अतिरिक्त आलवारो ने ईश्वर की इस भक्ति पर सभी का समानाधिकार बताया है जिसे कोई भी वर्णहीन, धनहीन, बुद्धिहीन व्यक्ति भी प्राप्त कर वैष्णव हो सकता है।[2] इस प्रकार आलवारो ने भक्ति का एक प्रकार से राष्ट्रीयकरण कर दिया।

दक्षिण मे आलवारो के समय जब वैष्णव भक्ति आदोलन जोर पकड रहा था तभी आठवी शती ई० के लगभग शकराचार्य के आविर्भाव से भक्तिमार्ग को गहरा आघात पहुँचा।[3] शकराचार्य ने भक्ति मे निहित द्वैतता की भावना (भगवान और भक्त) का खण्डन करके शुद्ध अद्वैतवाद की स्थापना की।[4] शकराचार्य के इस प्रभाव को देखकर आलवार भक्ति आन्दोलन से प्रेरित होकर वैष्णव आचार्य रामानुज ने चुनौती देकर वैष्णव धर्म को शास्त्रीय रूप प्रदान किया।[5] परिणामस्वरूप १२वी–१३वी शती तथा उसके बाद के अनेक वैष्णव आचार्यों ने वैष्णव धर्म को स्थायित्व रूप प्रदान किया और अपने–अपने क्षेत्र मे प्रतिपादित भक्तिमार्ग के द्वारा विभिन्न सम्प्रदायो के रूप मे विकसित हुए।[6] इनमे रामानद, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, निम्बार्क आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकार आलवारो से प्रभावित वैष्णव आचार्यों के प्रयासो द्वारा उत्तर भारत मे वैष्णव धर्म का पुन प्रतिष्ठापन हो गया। इस समय तक लगभग सम्पूर्ण भारत मे वैष्णव सम्प्रदाय विकसित हो रहा था। विभिन्न भारतीय शासको

---

१ मलिक मुहम्मद पूर्वोद्धृत पृ० ६५–६६

२ गुप्ता आशा पूर्वोद्धृत पृ० ३६–३६, पाडे सुस्मिता पूर्वोद्धृत, पृ० १६०–६१

३ मलिक, मुहम्मद पूर्वोद्धृत पृ० १७, गुप्ता आशा पूर्वोद्धृत पृ० ३६–३७ ओझा गौरीशकर हीराचद पूर्वोद्धृत पृ० १४

४ मलिक मुहम्मद पूर्वोद्धृत वही पृ० गुप्ता आशा पूर्वोद्धृत वही पृ०

५ मलिक मुहम्मद पूर्वोद्धृत पृ० २७१–८०, ओझा, फणीन्द्रनाथ पूर्वोद्धृत पृ० २–६

६ गुप्ता आशा पूर्वोद्धृत पृ० ३६–३७

ने वैष्णव धर्म का अनुसरण एव सवर्द्धन किया जिनमे कश्मीर के दुर्लभवर्धन ललितादित्य, बगाल के सेन शासक प्रतिहार, गुहिल, चदेल एव चौहान इत्यादि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[1] तान्त्रिक प्रभाव के कारण वैष्णव सम्प्रदाय मे भी स्त्री तत्व को शक्ति के रूप प्रतिष्ठा दी जा चुकी थी।[2]

पूर्वमध्यकालीन राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक एव धार्मिक परिस्थितियो के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि यह युग पृथक्कीकरण, विभिन्नीकरण एव विभेद का था।[3] पूर्वमध्यकलीन इन परिस्थितियो से निकलकर ऐसी पृष्ठभूमि तैयार हुई जिसमे राधाकृष्ण सम्प्रदाय के उद्भव एव विकास के तत्व निहित थे। सामन्तवादी प्रवृत्ति के विकास के कारण जहॉ एक ओर राजनैतिक केन्द्रीकरण को ठेस पहुॅची, वही दूसरी ओर समाज मे भोग–विलासिता के क्षेत्र मे वृद्धि हुई। इसका प्रमुख कारण बडे–बडे भूस्वामियो की आर्थिक सम्पन्नता व बौद्ध तान्त्रिक मत का प्रभाव माना जा सकता है।[4] बगाल के सेनवशीय शासको का राज्यकाल इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है। लक्ष्मणसेन के शासनकाल मे विलासिता अपने पूर्ण उत्कर्ष पर थी। इसका कारण ७वी–८वी सदी मे बौद्ध तान्त्रिको के वज्रयानी सम्प्रदाय का प्रभाव सम्पूर्ण बगाल मे फैला होना था। सेनवश के पूर्व बगाल मे शासन कर रहे पालवशीय शासको ने बौद्ध धर्म को राज्याश्रय दिया और उनके पश्चात् सेन शासको के समय भी बौद्ध तान्त्रिको ने अपना प्रभाव बनाये रखा।[5] लक्ष्मणसेन ने ब्राह्मण धर्म की पुन प्रतिष्ठा करके इस बढती हुई विलासिता को

---

१ (सं) झा द्विजेन्द्र नारायण और श्रीमाली कृष्णमोहन पूर्वोद्धृत पृ० ३६५

२ द्विवेदी हजारी प्रसाद सूर–साहित्य बम्बई १९५६ पृ० २०, बनर्जी एस०सी० पूर्वोद्धृत पृ० २९–३०

३ लूणिया बी०एन० पूर्वोद्धृत पृ० २५५

४ शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत का सामती समाज और सस्कृति पूर्वोद्धृत पृ० २०६

५ दासगुप्त, शशिभूषण श्री राधा का क्रम विकास–दर्शन और साहित्य मे वाराणसी, १९५६ २५४ द्विवेदी प्रेमशकर पूर्वोद्धृत पृ० २२

परिवर्तित करने का आधार पौराणिक श्रृगारी देवी–देवता को बनाया।[1] इसके अतिरिक्त अनेक सामाजार्थिक कारण भी थे जिन्होने इस सम्प्रदाय के उद्‌भव मे प्रेरक तत्व की भूमिका निर्वाह की। इस काल मे वैश्यो, शूद्रो एव स्त्रियो की निम्न दशा थी, तथा उन्हे हेय की दृष्टि से देखा जाता था। इसके अतिरिक्त नगरो का पतन व ग्रामीण क्षेत्रो की ओर पलायनवादिता होने के कारण समाज का कृषिमूलक स्वरूप होना भी अपने आप मे बहुत बडा कारण था।[2] इस कृषिमूलक समाज मे शासको ने मध्यस्थता करने के लिए भूस्वामियो को विशेषाधिकार प्रदान कर दिये, परिणामस्वरूप इससे स्वतत्र कृषक वर्ग की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचा।[3] इसके साथ ही ब्राह्मण वर्ण के उल्लिखित कर्त्तव्यो मे जिस कृषि–कर्म को निषिद्ध बताया गया था उसे इस काल मे आपत्तिकाल मे व्यवसाय के रूप मे सम्मिलित करने की अनुमति प्रदान कर दी गई थी किन्तु ब्राह्मणो ने इस कृषि–कार्य को अपने नियमित एव वैध व्यवसाय के अन्तर्गत शामिल कर लिया। इस प्रकार ब्राह्मणो एव बडे–बडे भूस्वामियो के हस्तक्षेप से शारीरिक श्रम को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा।[4] परिणामस्वरूप श्रमिक वर्ग को हीन समझकर उनके साथ बुरा बर्ताव किया जाने लगा। प्रारम्भ मे वैश्य वर्ण ने अपने व्यापार के साथ–साथ पशुपालन एव कृषि जैसे कार्यों को भी सम्मिलित किया, किन्तु ब्राह्मणो के बढते आधिपत्य के कारण वैश्यो ने अपना कार्य व्यापार तक ही सीमित कर लिया और इस प्रकार कृषि और पशुपालन शूद्रो का प्रमुख व्यवसाय बनकर रह गया।[5] इधर ब्राह्मणो के अधिकार मे वृद्धि होने से शूद्र उत्पादको से वे बिना वेतन के बेगार का काम करवाते थे। इसके साथ ही उनसे नियमित रूप से कर भी लिया जाता था। इस प्रकार वैश्य एव शूद्र वर्ण

---

१ द्विवेदी प्रेमशकर पूर्वोद्धृत पृ० २२

२ शर्मा, रामशरण पूर्वोद्धृत, पृ० १६१ शर्मा रामशरण अर्बन डिके इन इडिया (C ३००–C १०००) नई दिल्ली १६८७ नदी, रमेन्द्रनाथ, पूर्वोद्धृत पृ० १२–१३

३ नदी रमेन्द्रनाथ पूर्वोद्धृत वही पृ०

४ नदी रमेन्द्रनाथ पूर्वोद्धृत वही पृ० १३–१४

५ पूर्वोक्त वही पृ०

अपनी स्थिति मे सुधार पाने की अवस्था मे थे। पूर्वमध्यकाल मे ग्रामीण क्षेत्रो मे कार्यरत श्रमिको की शक्ति को पूर्णत अपने अधीन कर लेने की जिस प्रवृत्ति का विकास पूर्वमध्यकाल मे दिखाई पडता है, उसी काल मे प्रारम्भ हुए भक्ति–आदोलन ने इन श्रमिको को एक नई दिशा दिखाई। उनमे अब तक प्रभुत्वसम्पन्नवर्ग के समक्ष जिस प्रकार आत्मसमर्पण की भावना का विकास हुआ, उसे इस आन्दोलन ने ईश्वरीय सत्ता प्राप्ति के प्रमुख साधन के रूप मे माना।[१] इस आन्दोलन मे सक्रिय भूमिका निभाने वालो मे आलवारो का योगदान बहुत अधिक है। इन्होने अपने आराध्यदेव के सम्मुख पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर देने को ही सबसे बडी विष्णु भक्ति मानी।[२] इधर धार्मिक भावना के क्षेत्र मे नैतिकता के स्थान पर बढते वामाचार के प्रभाव के कारण जनमानस को एक ऐसे मार्ग की तलाश थी जो उसे आध्यात्मिक सतुष्टि प्रदान करने के साथ–साथ मानसिक एव व्यवहारिक रूप से नई स्फूर्ति एव नया दृष्टिगोण प्रदान करने मे सक्षम हो। यह समय पौराणिक साहित्य के निर्माण का युग माना गया,[३] जिसके द्वारा धर्म की अनेक गूढ समस्याओ का समाधान करने की चेष्टा की गई। इसी के प्रभावस्वरूप लोगो ने भक्तिमार्ग का अनुसरण करना श्रेयस्कर समझा। ऐसी भक्ति जिसमे ईश्वरीय–प्रेम ही सबका मूल आधार हो तथा जिसमे किसी प्रकार के भय, छल, कपट, द्वेष इत्यादि दुर्भावनाओ के लिए कोई स्थान न हो। भक्ति की उस धारा मे लौकिकता, अलौकिकता के साथ–साथ अनुग्रह एव रतिभाव जैसे तत्त्व भी सन्निहित हो। ये सभी तत्व तत्कालीन प्रचलित वैष्णव सम्प्रदाय मे दिखाई पडता है और इसका अवलम्बन राधाकृष्ण को बनाया गया। इस प्रकार जनसाधारण ने राधाकृष्ण मे पूर्ण देवत्त्व की भावना आरोपित

---

१ नदी रमेद्रनाथ पूर्वोद्धृत, पृ० ८३–८५

२ पूर्वोक्त वही पृ०

३ चतुर्वेदी परशुराम पूर्वोद्धृत पृ० १७४

करके उन्हे लौकिक जगत मे प्रेमभाव की साकार–मूर्ति के रूप मे मानने का प्रयास किया।

भारतीयो ने अति प्राचीन काल से धर्म को समस्त जगत का आधार माना है और उनकी यह धारणा है कि जीवन की समस्त व्यवस्थाऍ इसी के द्वारा सचालित होती है। अपनी रक्षा एव समस्त दु खो से छुटकारा पाने के लिए मानव ईश्वर की शरण तलाशता है। अब तक यह माना जाता रहा है कि ईश्वर केवल ज्ञानगम्य मात्र है किन्तु इस काल मे पौराणिक–साहित्य के सृजन के अन्तर्गत उनके अनेक रूपो की कल्पना की जाने लगी जिससे उनके अवतारवाद का विशेष बल मिला।[1] धार्मिक व्यक्तियो की यह धारणा बन गई कि इस प्रकार के अवतार सदा धर्म रक्षा के लिए होते है। वे न केवल दुष्टो का ही दमन करते तथा साधु–समाज को व्यवस्थित करते है, अपितु मानवो के बीच रहकर उन्हे आदर्श जीवन की शिक्षा भी देते है।[2]

पूर्वमध्यकाल मे विकसित भक्ति–भावना मे जिस प्रेम–साधना का अवलम्बन किया गया, उसका पूर्णतम विकास वैष्णव–सम्प्रदाय मे दिखाई देता है। वैष्णव सम्प्रदाय मे विष्णु के अवतारो की सख्या यद्यपि बहुत अधिक बताई गई है किन्तु उनके राम और कृष्ण अवतार रूप जनमानस मे अत्यधिक लोकप्रिय हुए।[3] राम का व्यक्तित्व प्रारम्भ से ही मर्यादा पुरूषोत्तम, गम्भीर एव पतितोद्धारक के रूप मे सदैव से श्रद्धा एव भक्ति का विषय रहा है। पूर्वमध्यकाल मे भी राम के इसी मर्यादित रूप को मान्यता प्राप्त रही जबकि कृष्ण के स्वरूप मे चचलता, शृगारिकता, दीनोद्धारक एव विविध मानवीय मनोरागो का उपकरण प्रचुर मात्रा मे प्राप्त होता है, इसलिए पूर्वमध्यकाल मे जब देश मे अनेक धार्मिक विसगतियॉ फैल रही थी जिसमे शृगारी प्रवृत्ति एव विलासिता की भावना

---

१ चतुर्वेदी परशुराम पूर्वोद्धृत, पृ० १७४
२ पूर्वोक्त वही, पृ०
३ पूर्वोक्त, पृ० १२६

बलवती थी। ऐसी स्थिति मे पौराणिक धर्म के अन्तर्गत कृष्ण के शृगारी रूप की कल्पना की गई। पूर्वमध्यकाल मे अवतारो के पारिवारिक जीवन की भी कल्पना की गई।[1] वैसे भारत मे शक्तितत्त्व की धारणा बहुत पहले से प्रचलित थी और उस तत्व को सृष्टि के विकास का मूलाधार भी माना गया है। पूर्वमध्यकाल मे शाक्त सम्प्रदाय एव तत्र सम्प्रदाय मे नारी के उसी शक्ति रूप को प्रतिष्ठित किया गया है। इसी शक्ति रूप को देवताओ के साथ भी जोडा गया। शिव के साथ वह पहले केवल शक्ति नाम से दिखाई पडती थी किन्तु बाद मे वह विष्णु के साथ लक्ष्मी, ब्रह्मा के साथ सरस्वती, राम के साथ भी सीता एव कृष्ण के साथ राधा नाम से प्रचलित हो गई।[2] इस प्रकार पूर्वमध्यकाल मे देव–दम्पतियो के साथ अवतार–दम्पतियो की कल्पना का भी विकास हुआ।[3] अन्तर दोनो मे इतना मात्र था कि देव–दम्पतियो का निवास स्थान किसी परोक्ष लोक को समझा था और वे चिरस्थायी भी माने जाते थे, वही अवतार–दम्पतियो का लीला–क्षेत्र समस्त भूमडल को माना जाता था।[4] अवतार–दम्पतियो के मानवीकरण का प्रमुख कारण उनका ऐतिहासिक दम्पति होना माना जाता है किन्तु फिर भी इन आदर्श व्यक्तियो के दैवीकरण को प्रमुखता दी गई।[5] इस प्रकार भारतीय समाज ने अवतारवाद को महत्व देकर उनके रहस्यमयी एव चमत्कारिक वर्णन से जहॉ एक ओर जनसाधारण का उनके अलौकिक स्वरूप की ओर ध्यान आकृष्ट करवाया, वही दूसरी ओर उनकी लौकिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उनकी मानवीय–लीला को प्रश्रय प्रदान किया।

पूर्वमध्यकाल मे विकसित भक्ति–तत्व के अन्तर्गत प्रेम–भाव को विशेष महत्व दिया गया। इसका स्पष्ट प्रभाव तत्कालीन साहित्य मे भी दिखाई पडता है।

---

१ चतुर्वेदी परशुराम पूर्वोद्धृत पृ० १७४
२ पूर्वोक्त, वही पृ०, मिश्र टी०एन० पूर्वोद्धृत पृ० ३६
३ चतुर्वेदी परशुराम पूर्वोद्धृत पृ० १७५
४ पूर्वोक्त वही, पृ०
५ पूर्वोक्त, वही पृ०

श्रीमद्भागवत पुराण मे प्रेम–साधना का स्पष्ट रूप से दर्शन होता है। भक्ति–तत्व मे प्रेमभाव के समावेश से भक्ति को न केवल एक व्यापक आधार प्राप्त हुआ अपितु पूर्वमध्यकालीन परिस्थितियो ने भी उसके विकास मे सहयोग प्रदान किया।[1] पूर्वमध्यकालीन लेखको द्वारा अपनी रचनाओ मे अवतारी नायको को स्थान देने के पीछे प्रमुख कारण शासन करने वाले ऐश्वर्य सम्पन्न सामन्तो एव अधिनायको के प्रभुत्व के महत्व को कम करने से था। उन्होने इन नायको को अपनी रचनाओ मे उनके प्रतीक रूप मे प्रस्तुत किया और इसके माध्यम से जनसाधारण मे यह भावना जाग्रत की कि यदि वे शक्तिशाली, सर्वशक्तिमान होकर विभिन्न प्रातो या प्रदेशो मे शासन करते है तो यह अवतारी नायक (ईश्वर) जिसके अधीन तो समस्त विश्व है' और वे सब कुछ करने मे समर्थ माने जाते है।[2] कृष्ण–भक्ति मे भक्तो के आत्मसमर्पण की भावना पर विशेष बल दिया गया। परिणामस्वरूप समाज के शक्तिहीन, वर्णहीन, अर्थहीन, अधर्मी पापी स्त्री आदि सभी प्रकार के लोगो को अपने उत्थान का एक नया मार्ग दिखाई पडा और वे उसकी ओर आकृष्ट हुए। **भगवद्गीता**[3] मे कृष्ण ने स्वय इन्ही भावो को व्यक्त करते हुए कहा है कि जो समस्त प्रकार के धर्मो का परित्याग करके मेरी शरण मे आता है। मै उसको समस्त पापो से उद्धार कर देता हूँ और इसमे भय की कोई बात नही। इस प्रकार अपनी शरण मे आये भक्त का पूरा उत्तरदायित्व भगवान अपने ऊपर ले लेते है और उसके समस्त पापो को दूर कर अभयदान करते है। अन्यत्र भी **भगवद्गीता** मे यही भाव प्राप्त होते है। कृष्ण कहते है कि जो लोग मेरी शरण ग्रहण करते है, वे भले

---

१ चतुर्वेदी परशुराम पूर्वोद्धृत पृ० १७६

२ पूर्वोक्त पृ० १८७–१८८

३ श्रीमद्भगवद्गीता १८.६६ – सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज।
अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।।

ही निम्नजन्मा स्त्री हो, वैश्य हो, या शूद्र (श्रमिक) ही क्यो न हो, वे सभी परमधाम प्राप्त करते है।[1] **भागवतपुराण** मे भी निम्न वर्ण के लोगो एव स्त्री जाति को भगवान के नाम लेने और कीर्तन करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] भगवान ने स्वय एक स्थल पर कहा है, कि वही मेरा सच्चा भक्त होगा जो ब्राह्मण, चाण्डाल इत्यादि सभी मे समानता रखे।[3] ईश्वर ने स्वय विभिन्न जातियो के बीच मतभेद या कोई विभाजन रेखा नही खीची है।[4] **पद्मपुराण** (६००–१४०० ई०)[5] मे शूद्रो और दासो को वास्तविक वैष्णव भक्त कहकर सम्बोधित किया गया है और उन्हे नारद प्रह्लाद आदि के समान भक्त होने का दर्जा दिया है।[6] इस प्रकार वैष्णव भक्ति (कृष्णभक्ति शाखा) मे सभी के लिए समान रूप से द्वार खुले थे। वर्ण जाति, लिग का भेद न होने के कारण कृष्ण–भक्ति जनमानस मे लोकप्रिय होने लगी थी। यहॉ तक जिन लोगो के इष्टदेव कृष्णावतार से भिन्न थे अथवा जो वैष्णव सम्प्रदाय से भिन्न वर्गों के अनुयायी तथा अन्य धार्मिक विचारधाराओ के समर्थक थे, वे भी इसके न्यूनाधिक प्रभाव मे आ गये। इस प्रकार कृष्णभक्तिधारा मे न केवल पचदेवोपासक ही सराबोर हुए अपितु वे लोग जो सदैव निर्गुण, निराकार निर्विकार और निरजन का नाम लेते थे ऐसे ज्ञानमार्गी भी अपने–अपने ढग से कृष्ण–भक्ति की ओर आकृष्ट होने लगे।

---

१ भगवद्गीता ९ ३२ – मा हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्य पापयोनय।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परा गतिम्।।

२ भागवतपुराण XI ५, ४

३ भागवतपुराण XI २६ १३–१४

४ भागवतपुराण VII ९ २७, VI १६ ४४

५ हाजरा आर०सी० स्टडीज इन द पौराणिक रिकार्डस् ऑन हिन्दू राइटस एण्ड कस्टम्स पूर्वोद्धृत पृ० १८१–८२

६ पद्मपुराण VI, ८२ ३०–३४, पाडे, सुस्मिता, पूर्वोद्धृत पृ० १६१

कृष्ण–भक्ति मार्ग मे हृदय पक्ष की प्रधानता को विशेष बल मिला जिससे कोई भी साधक अपने इष्टदेव के प्रति सरलता से श्रद्धा भाव व्यक्त कर सकता था। वह ईश्वर को अपना आत्मीय समझकर सभी कुछ उसके लिए करता था और वह उसकी उपलब्धि को अपनी साधना का चरम लक्ष्य मानता था।[1] पूर्वमध्यकाल मे उद्भूत भक्ति साधना मे प्रेमभाव को समाविष्ट करके भक्ति को व्यापक आधार प्रदान किया गया। इसमे कातासक्ति एव मधुरभाव को भी स्थान दिया गया। आलवार सतो मे आण्डाल नामक स्त्री इसका ज्वलन्त उदाहरण है। कालान्तर मे इसी दाम्पत्य भाव को विकसित करने मे वैष्णव भक्तो ने राधा के आदर्श को सर्वश्रेष्ठ माना और उसे कृष्ण के साथ सयुक्त करके वैष्णव धर्म मे प्रमुख स्थान दिया जिसका विकास राधाकृष्ण सम्प्रदाय के रूप मे दिखाई देता है।

पूर्वमध्यकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अध्ययनोपरात राधाकृष्ण सम्प्रदाय के उद्भव एव विकास के सम्बन्ध मे कई महत्वपूर्ण तथ्य सामने उभर कर आते है कि ब्राह्मणो को भूमि अनुदान मे प्राप्त उन सीमात क्षेत्र, जहॉ पिछडे जातियो–जनजातियो के लोग निवास करते थे, कबायली क्षेत्र कहलाता था। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि उस क्षेत्र मे जब ब्राह्मणीय सस्कृति का प्रचार–प्रसार हुआ होगा, तो वहॉ विकसित मातृदेवी की पूजा के सस्कृतिकरण के साथ–साथ उस क्षेत्र पर तत्र–सम्प्रदाय का भी पूर्ण प्रभाव पडा होगा।[2] तत्र सम्प्रदाय का प्रभाव भारत के पूर्वी प्रदेशो पर विशेष रूप से पडा जहॉ पहले से ही बौद्ध धर्म अपने अस्तित्व मे था। परिणामस्वरूप वज्रयान तत्र का उदय हुआ और इसने नए जनसमूहो को स्थान देना प्रारम्भ किया। इसके कारण महायान बौद्ध पथ ने भी स्त्रियो एव निम्न वर्गों को स्थान देना प्रारम्भ कर दिया। ऐसा

---

१ चतुर्वेदी परशुराम पूर्वोद्धृत, पृ० १६६
२ शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत का सामती समाज और सस्कृति, पूर्वोद्धृत, पृ० २०६

प्रतीत होता है कि यह तत्र सम्प्रदाय पान्चरात्र के रूप मे उदित हुआ हो और इसने वैष्णव पथ मे मातृदेवी को सम्मिलित करके उसे नया रूप प्रदान किया हो।[1] पान्चरात्र धर्म जैसा कि स्पष्ट है कि द्वितीय–तृतीय शती ई० तक आते–आते भागवत–धर्म मे परिणत हो गया था।[2] भागवत धर्मानुयायी वासुदेव–कृष्ण के उपासक माने गये है।[3] सम्भव है कि वैष्णव पथ की इस मातृदेवी को वासुदेव–कृष्ण के साथ सयुक्त करके उसको नये रूप राधा के नाम से स्वीकार किया होगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि देश–विजय एव बडे पैमाने पर दिये जाने वाले धार्मिक भूमिदानो के माध्यम से कबायली लोगो को ब्राह्मणीय व्यवस्था मे सम्मिलित कर लिया होगा। भारतीय आर्यों एव कबायली लोगो के बीच व्यापक सास्कृतिक सम्पर्क एव आदान–प्रदान होने से, अनेक शूद्र एव वर्णसकर जातियो का जन्म हुआ।[4] **ब्रह्मवैवर्तपुराण**[5] एव अन्य रचनाओ मे इन जातियो का स्पृश्य एव अस्पृश्य शूद्रो के रूप मे उल्लेख हुआ है जिनमे आभीर, आगरी अम्बष्ठ, चाण्डाल कौच आदि थे। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इन जनजातियो के देवी–देवता को ब्राह्मणीय देवकुल मे स्थान दिया गया होगा।[6] कृष्ण यदुकबीले के नर–देवता माने गये है, जिनका सबध उन आभीरो से किया जाता है जो ईसा की आरम्भिक सदियो मे ऐतिहासिक एव पशुपालक लोग थे।[7] *आर०जी० भडारकर* कृष्ण को आभीर नामक घुमक्कड जाति का बाल देवता मानते है जिनको कालान्तर मे आर्यों ने

---

१ शर्मा, रामशरण पूर्वोद्धृत पृ० २०६
२ पाडे सुस्मिता पूर्वोद्धृत, पृ० ६५, जायसवाल सुवीरा वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास नई दिल्ली १९६६, पृ० ४१–४३
३ पाडे सुस्मिता पूर्वोद्धृत वही पृ०, जायसवाल सुवीरा पूर्वोद्धृत पृ० ४३
४ शर्मा रामशरण पूर्वोद्धृत पृ० ३०
५ मजूमदार बी०पी०, सोशियो–इकॉनामिक हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इडिया कलकत्ता १९६० पृ० २११
६ शर्मा रामशरण पूर्वोद्धृत, वही पृ०
७ कोसम्बी, डी०डी प्राचीन भारत की सस्कृति और सभ्यता पृ० १४८

सात्वत धर्म के उपदेष्टा भगवान कृष्ण के रूप मे सम्मिलित कर लिया गया।[1] ठीक इसी प्रकार राधा भी आभीर जाति की इष्टदेवी[2] थी, किन्तु *भडारकर* के अनुसार कृष्ण को ईसा की आरम्भिक सदी मे आर्य देवता के रूप सम्मिलित कर लिया गया और राधा को कुछ शताब्दियो के पश्चात् आर्यजाति की देवी के रूप मे स्वीकार किया गया। अनुमानत यह वही समय था जब पूर्वमध्ययुग अपने सक्रान्ति काल की अवस्था मे था और उसमे परिवर्तनकारी समस्त तत्त्व विद्यमान थे।

पूर्वमध्यकाल मे नगरो के पतन से कृषिमूलक समाज को बढावा मिला।[3] इस काल तक आते–आते कृषि को सभी वर्णों का धर्म बताया जाने लगा।[4] इस प्रकार पूर्वमध्यकाल मे भूमि एव कृषि ही ग्रामीण अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार माने जाने लगी। इधर तत्र–परम्परा के अन्तर्गत अनेक अनुष्ठानो एव उपचारो को धार्मिक–कृत्य के रूप मे सम्मिलित किया गया और इसका विधान समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी माना जाने लगा। जनसामान्य की अधिकाश आवश्यकताएँ भौतिक इच्छाओ से जुडी होती है और तत्र–परम्परा मे भौतिक इच्छाओ की पूर्ति हेतु प्रभावकारी अनुष्ठान प्रस्तावित थे।[5] तत्र के प्रभाव से पूर्वमध्यकालीन कृषिमूलक समाज भी वचित न रह सका और उन्होने अपनी भौतिक इच्छाओ की पूर्ति के लिए अपने तत्कालिक ग्रामीण परिवेश से जुडे देवता को अपनी धार्मिक विचारधारा मे सम्मिलित करना श्रेयस्कर समझा। भारत अति पुरातनकाल से ही कृषि प्रधान देश रहा है। भारतवर्ष ही क्या समस्त विश्व मे कृषि और पशुपालन एक साथ पलते–बढते है और इन दोनो के सहयोग पर ही भारतीय समाज की भित्ति भी स्थित है।

---

१ भडारकर आर०जी० वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर रेलीजस सिस्टम्स नई दिल्ली १९८७ पृ० ३८
२ (स०) इलियट, मर्सिया द इनसाइकलोपीडिया ऑव रिलिजन खड–१२ पृ० १६५
३ गोपाल लल्लनजी पूर्वोद्धृत पृ० ३२
४ पराशर स्मृति अध्याय २ श्लोक न० २ १८ १६
५ शर्मा आर०एस० द मैटीरियल मिलेयू ऑव तान्त्रिसिज्म, पृ० १७५

भारतीय सास्कृतिक जीवन–यापन के प्रमुख साधन कृषि और पशुपालन के व्यजक क्रमश बलराम और कृष्ण माने जाते है। कृषि–सभ्यता के प्रतीक रूप मे गार्हस्थ्य जीवन को एक मर्यादित अस्तित्व प्रदान किया गया है। विशेषकर कृषि का विकास भू–खण्ड से सम्बद्ध होने के कारण स्थानीय निवास मे निहित गार्हस्थ जीवन पर निर्भर करता है। पूर्वमध्यकाल मे जब वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत अवतारवाद को प्रधानता दी जा रही थी, तो इसके अन्तर्गत अवतारो की सख्या मे वृद्धि दिखाई देने लगी। विष्णु के अन्य मानवीय अवतारो जैसे वामन, परशुराम मे तो गार्हस्थ्य जीवन का पूर्ण विकास सम्भव नही हो सका, किन्तु लोकप्रिय अवतारी रूप कृष्ण का कृषि एव पशुपालन सस्कृति से जुडे होने के कारण गार्हस्थ्य जीवन के विविध रूपो का विकास इसमे देखने को मिलता है। कृष्ण और बलराम का साहचर्य इसी प्रकार के गार्हस्थ जीवन के द्योतक है।[१] इसके अतिरिक्त कृष्ण ने अपने प्रारम्भिक जीवन मे जो प्रेम–लीलाएँ की थी, उनका विकास भी उसी ग्रामीण परिवेश मे हुआ था। ऐसे ग्रामीण स्वच्छन्द प्रेम मे उनकी सहचरी राधा का साथ अवश्य रहा होगा।[२] इससे स्पष्ट होता है कि यह दोनो तत्व (राधा एव कृष्ण) ग्रामीण परिवेश मे पले–बढे और भारतीय मिथको मे वे देवता रूप मे प्रतिष्ठित हो चुके थे। पूर्वमध्यकाल मे जब पुन विनगरीकरण ग्रामोन्मुखी अर्थव्यवस्था और समाज व्यवस्था स्थापित हुई तो यह स्वाभाविक था कि ऐसे देवता की तलाश प्रारम्भ की जाय, जो इस बदले परिवेश मे लोगो की धार्मिक एव मनोवैज्ञानिक/भावनात्मक आकाक्षाओ को पूर्ण कर सके। इस सदर्भ मे जनमानस ने कृष्ण और राधा इन दो प्रतीको को धार्मिक–परम्परा से ढूँढकर उन्हे केन्द्र मे प्रतिष्ठित किया होगा। युगल मूर्ति एव इष्टदेवता के रूप मे उनकी यह कल्पना सर्वथा एक नवीन तत्व था, जो पूर्वमध्यकाल के अतिम चरण मे उभर कर सामने आया।

---

१ देव, कपिल थ्योरी ऑव इनकार्नेशन इन मैडिवल इडियन लिटरेचर एन इण्टरप्रटेशन वाराणसी १९६३ पृ० ६८५

२ पूर्वोक्त, वही पृ०

पूर्वमध्यकाल मे अनेक प्राचीन नगरो के अवसानोन्मुख होने का उल्लेख प्राप्त होता है। गुप्तकाल मे ये प्राचीन नगर सम्पन्नता एव वैभव से युक्त हुआ करते थे। ये नगर वस्तुत उन्नतिशील बाजार–अर्थव्यवस्था के प्रतीक थे।[1] गुप्तकालीन रचना **विष्णुस्मृति** (तृतीय शती ई० की रचना)[2] मे ऐसे ही नगरो की सूची प्राप्त होती है किन्तु गुप्तोत्तरकाल या पूर्वमध्यकाल मे इन प्राचीन नगरो के पतन का उल्लेख प्राप्त होता है। नगरो के क्षय से नगर–आधारित यजमानो की समृद्धि भी प्रभावित हुई और यजमानो के वैभव कम होने से नगरो मे सस्कार–प्रधान धार्मिकता मे भी कमी आई।[3] पूर्वमध्यकाल जैसा कि स्पष्ट है कि यह अनेक सम्प्रदायो एव उपसम्प्रदायो के उद्‌भव एव विकास का काल था। धार्मिक क्षेत्र मे हुए इस परिवर्तनकारी युग के अन्तर्गत जिस भक्ति–साधना का विकास हुआ– उसमे कर्मकाडो, सस्कारो एव नाना प्रकार के अन्य धार्मिक–कृत्यो को स्थान दिया जाने लगा। धार्मिक–कृत्यो मे जप तप, कीर्तन, व्रत के साथ–साथ तीर्थ इत्यादि को भी महत्व मिला। इससे जनसाधारण मे धार्मिक चेतना जाग्रत हुई। अब उजडे एव क्षयग्रस्त हुए नगरो को प्रसिद्ध तीर्थ के रूप मे विकसित किया जाने लगा, जिससे वे अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुन प्राप्त कर सके।[4] इस तीर्थ स्थापना के पीछे जो मूल अवधारणा कार्य कर रही थी, वह थी– अनेक क्षयग्रस्त नगरो मे उपहार–विनिमय की सभावनाओ को पुनरूज्जीवित करना।[5] नगरो का तीर्थों के रूप मे स्थापित होने से दानोन्मुखी एव कृषि पर आधारित उपहार–विनिमय व्यवस्था को बढावा मिला इससे यजमानी ब्राह्मणो के जीविकोपार्जन के लिए प्रमुख द्वार खुले, जो क्षयग्रस्त नगरो मे निवास कर रहे थे।[6]

---

१ नदी रमेन्द्रनाथ पूर्वोद्धृत ४५
२ पूर्वोक्त पृ० ४४
३ पूर्वोक्त पृ० ४५
४ पूर्वोक्त वही पृ०
५ पूर्वोक्त वही पृ०
६ पूर्वोक्त पृ० ४६

पूर्वमध्यकाल मे तीर्थ के रूप मे विकसित इन नगरो मे ब्राह्मणो को वैदिक सस्कृति के सरक्षक के रूप मे स्थान दिया जाने लगा। ब्राह्मणो ने भी वैदिक सस्कृति के प्रतिष्ठाता के रूप मे तत्कालीन प्रचलित सम्प्रदायो से अपने कर्मकाड–विषयक कृत्यो को जोडा। सभवत जनसाधारण ने भी अपनी धार्मिक भावना की तुष्टि हेतु एव पुण्यफल प्राप्ति की विचारधारा से ग्रसित होकर तीर्थों को महत्त्व प्रदान किया होगा। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि पूर्वमध्यकाल मे विकसित राधाकृष्ण सम्प्रदाय से जुडे तीर्थों को एक विकसित नगर का दर्जा प्राप्त हुआ होगा। मथुरा, द्वारका गोवर्धन पुरूषोत्तम (पुरी) आदि ऐसे नगर थे, जो तृतीय शती ई० के पश्चात् क्षतिग्रस्त हो गये थे,[1] किन्तु पूर्वमध्यकाल मे ये तीर्थ के रूप मे पुन विकसित होने लगे। **वराहपुराण** (८०० ई०–१४००)[2] मे भी अनेक क्षतिग्रस्त नगरो का तीर्थ के रूप मे उल्लेख प्राप्त होता है जिसमे मथुरा, द्वारका, गोवर्धन आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[3]

पूर्वमध्यकाल मे पुरोहितो एव मन्दिरो को भी समय–समय पर दिये जाने भूमि–दानो का उल्लेख प्राप्त होता है। इससे न केवल तत्रोपासना को प्रोत्साहन मिला, अपितु इस तत्र–परम्परा के प्रभाव से कला–जगत के क्षेत्र मे नई पद्धति के मदिर–निर्माण एव नये–नये लोक–पूजित देवी–देवताओ की मूर्ति को प्रधान देवी–देवता के रूप मे स्थान दिया जाने लगा, जिससे पुराने वैदिक देवी–देवता का स्थान स्वत गौण होता गया।[4] इस परम्परा मे लोगो ने विष्णु के प्रसिद्ध एव लोकनायक अवतारी रूप कृष्ण को प्रमुख देवता के रूप मे प्रधानता दी होगी, जिसमे उनके साथ शक्ति–स्वरूपा राधा को भी स्थान दिया होगा।

---

१ नदी रमेन्द्रनाथ पूर्वोद्धृत पृ० ४८

२ हाजरा आर०सी० पूर्वोद्धृत पृ० १८०–८१

३ नदी रमेन्द्रनाथ, पूर्वोद्धृत वही पृ०

४ शर्मा रामशरण पूर्वमध्यकालीन भारत का सामती समाज और सस्कृति, पूर्वोद्धृत पृ० १९०, बनर्जी जे०एन० पुराणिक एण्ड तान्त्रिक रिलिजन कलकत्ता, १९६६, पृ० १–१७ यादव बी०एन०एस० पूर्वोद्धृत पृ० २३०

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि राधाकृष्ण सम्प्रदाय के उद्भव एव विकास मे पूर्वमध्यकालीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एव धार्मिक पृष्ठभूमि ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राधाकृष्ण के एकीकृत स्वरूप मे प्रेम एव श्रृगार दोनो का अद्भुत समन्वय दिखाई पडता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वमध्यकालीन ऐतिहासिक परिस्थितियो मे कुछ क्रातिकारी विचारको ने समाज मे प्रचलित भक्तिमार्ग से प्रेमतत्व एव तत्र से श्रृगारतत्व (रतिभाव) को ग्रहण करके एक ऐसे अलौकिक स्वरूप की कल्पना की, जो जनमानस मे लोकप्रिय हो सके और शास्त्रसम्मत मर्यादाओ का भी निर्वाह कर सके। पूर्वमध्यकाल मे कृष्ण पहले से ही एक अवतारी रूप मे भगवान बन चुके थे, उनकी प्रेमिका राधा को भी उनकी चिर् सहचरी के रूप मे क्रमश स्वीकार किया जाने लगा था। कालान्तर मे सहजिया वैष्णवो के लिए राधाकृष्ण आदर्श प्रेमास्पद के प्रतीक हो गये। इस मत के समर्थको ने राधा और कृष्ण के प्रेम को अपनी प्रेम–साधना का अतिम साध्य बना डाला। रामानुज, निम्बार्क, आदि वैष्णव आचार्यों ने भी राधा कृष्ण भक्ति को शास्त्रीय रूप प्रदान करके भक्ति को नया आधार प्रदान किया जिससे पूर्वमध्यकालीन लोक मानस मे प्रचलित रतिभाव को नई दिशा दिखाई पडी और लौकिक प्रेमभाव से मेल रखने के लिए राधाकृष्ण आलम्बन बने। इसका विशेष प्रभाव वज्रयानियो की पचमकार साधना से युक्त क्षेत्र जैसे बगाल एव उसके समीपस्थ क्षेत्रो पर पडा। ऐसी परिस्थिति मे साहित्य एव काव्य सृजनकर्त्ताओ ने भी भक्ति एव श्रृगार से युक्त विषय के रूप राधा एव कृष्ण का अवलम्बन किया। *जयदेव* का **गीतगोविन्द** इसका ज्वलन्त उदाहरण माना जा सकता है।

स्पष्ट है कि राधा कृष्ण सम्प्रदाय का उद्भव पूर्वमध्यकाल मे हुआ– यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। कृष्ण एव राधा की देवसमूह मे प्राचीनता इसके पूर्व भले ही वैदिक

काल तक ले जायी जा सकती है किन्तु इन दोनो के एकीकृत राधाकृष्ण स्वरूप को केन्द्र मे रखकर स्वतन्त्र धार्मिक सम्प्रदाय की सकल्पना एव उसका अभूतपूर्व विकास पूर्वमध्यकाल की अनुपम देन मानी जाती है।

सप्तम् अध्याय

उपसंहार

सप्तम अध्याय

उपसहार

राधाकृष्ण सम्प्रदाय के प्रादुर्भाव एव विकास को पूर्वमध्यकाल का एक अनुपम तत्व माना जा सकता है। यद्यपि पूर्वमध्यकाल मे पचदेवो से सम्बन्धित विष्णु शिव शक्ति, गणेश और सूर्य जिन्हे वैदिक देवता के रूप मे भी जाना जाता है, को इस काल मे विशेष प्रधानता मिली और इनसे सम्बन्धित क्रमश वैष्णव सम्प्रदाय शैव सम्प्रदाय, शाक्त सम्प्रदाय गाणपत्य सम्प्रदाय भी अपने अस्तित्व को प्राप्त कर रहे थे। वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत विष्णु के लोकप्रिय अवतारी रूप राम एव कृष्ण को विशेषत प्रमुखता मिली। कृष्ण को जब स्वतत्र धार्मिक देवता के रूप मे जनमानस मे प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, तो उनकी शक्ति के रूप मे राधा की परिकल्पना की गई और इस प्रकार राधा को एक अधिष्ठातृ देवी के रूप कृष्ण के साथ सयुक्त कर दिया गया। कालातर मे राधा एव कृष्ण की इसी अवधारणा ने राधाकृष्ण सम्प्रदाय के विकास मे सहयोग किया।

प्राय धर्म सबधी अवधारणा को अभिव्यक्त करने मे तरह–तरह की कठिनाइयो का सामना करना पडता है किन्तु फिर भी धर्म की तात्विक/दार्शनिक अवधारणा के साथ–साथ विविध प्रणाली विश्लेषण प्रक्रिया द्वारा धर्म के अर्थ, स्वरूप, उत्पत्ति एव विकास को समझने का प्रयास किया जाता है। धर्म सामान्यत एक ऐसा परिचित एव लोकप्रिय शब्द है जिसका प्रयोग अधिकाशत प्रत्येक व्यक्ति अपने नित्य जीवन मे करता है। इसी कारण धर्म शब्द को समझने मे साधारण व्यक्ति को किसी भी प्रकार

की कठिनाई का अनुभव नही होता। वह धर्म से तात्पर्य किसी उपासना स्थल पर किये जाने वाली प्रार्थना या पूजा–पाठ से लगाता है। किन्तु यदि सैद्धान्तिक व दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो धर्म को समझने मे वही तथ्य एव दृष्टिकोण तर्कसगत एव सतोषप्रद प्रतीत होते है जिसमे विश्व के सभी धर्मों के मूल तत्व निहित हो। धर्म सबधी अध्ययन करते समय 'धर्म शब्द के भाषा–विमर्शात्मक स्थिति का सज्ञान आवश्यक प्रतीत होता है क्योकि जिस 'धर्म' की हम प्राय बात करते है वह सस्कृत भाषा का शब्द है। किन्तु प्रचलित आधुनिक भाषाओ के प्रभाव से सस्कृत भाषा का यह धमे शब्द भी अछूता न रहा। फलस्वरूप सस्कृत के मूल शब्द से यह धर्म अत्यन्त भिन्न प्रतीत होता है। इसी सदर्भ मे सास्कृतिक अध्ययन की ऐतिहासिक व समाजशास्त्रीय पद्धति का उल्लेख किया जा सकता है जिसने अग्रेजी भाषा कै रिलीजन' शब्द को धर्म का समानार्थी बना दिया गया है। यह रिलीजन शब्द न केवल धर्म के सीमित अर्थ को प्रस्तुत करता है, अपितु प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन मे विविध धार्मिक सम्प्रदायो की विवेचना करने मे अनेक कठिनाइयो एव विरोधाभासो को जन्म देता है। फिर भी धर्म शब्द की विवेचना करते समय रिलीजन शब्द के अर्थ को नकारा नही जा सकता। भारतीय सस्कृति मे धर्म शब्द की अभिव्यक्ति अत्यन्त व्यापक रूप से हुई है। धर्म मे ब्रह्म, देवी–देवता, धार्मिक–विधियॉ, कर्मकाण्ड, स्वर्ग–नरक तथा अन्य धार्मिक सिद्धान्त का समावेश तो रहता है, साथ ही ऐसे अनेक नियम एव विधि–विधान को भी सम्मिलित किया जाता है जिनसे व्यक्ति के अभ्युदय के साथ–साथ समाज की आध्यात्मिक एव भौतिक प्रगति भी हो सके।

धर्म शब्द का उल्लेख हमारे अनेक भारतीय साहित्यिक ग्रथो मे हुआ है। **ऋग्वेद** मे धर्म शब्द प्रयोग धार्मिक विधियो एव क्रिया–सस्कारो के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त **ऋग्वेद** मे उल्लिखित ऋत शब्द को धर्म का पूर्वगामी माना गया है

जिसका परवर्ती वैदिक युग मे धर्म ने स्थान ले लिया। उत्तरवैदिक काल मे **अथर्ववेद, छान्दोग्योपनिषद, वाजसनेयी सहिता** आदि वैदिक वाड्मय मे धर्म शब्द पर विस्तार से चर्चा प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त धर्मसूत्रो, स्मृतियो मे भी धर्म के अर्थ एव स्वरूप को व्याख्यायित किया गया है। धर्म की उत्पत्ति एव विकास सबधी अध्ययन करने मे विविध सिद्धान्तो, जैसे– मानवीय विवेक का सिद्धान्त, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, आदि का भी अध्ययन किया गया है, जिससे धर्म की उत्पत्ति एव विकास सबधी विविध तथ्य प्रकाश मे आये है। स्पष्ट है कि धर्म के प्रकाशन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। धार्मिक अनुभवो के द्वारा वैयक्तिक एव सामाजिक स्तर पर धार्मिक विश्वासो, मार्ग, पथ, समाज एव सम्प्रदाय मे विभेद स्थापित किया जा सकता है।

भारतीय धर्म अनेक सम्प्रदायो/पथो को लेकर चलता है जिसके लिए अग्रेजी भाषा मे सेक्ट व कल्ट जैसे शब्दो का प्रयोग किया जाता है। यदि देखा जाय तो ये दोनो शब्द लगभग एक ही समान अर्थ को स्पष्ट करते है। दोनो शब्द सामान्यत सम्प्रदाय, पन्थ, मार्ग मत के अनुयायी/मतावलम्बी, धार्मिक उपासना पद्धति आदि को द्योतित करते है। इस प्रकार शाब्दिक दृष्टि से दोनो शब्दो के अर्थ को देखा जाय तो वह एक–दूसरे के पर्याय प्रतीत होते है। अतर मात्र इतना है कि कल्ट एक स्वतत्र सगठन है जो प्राय लघु एव अल्पकालिक होता है क्योकि इसके सदस्यो मे कभी–कभी उतार–चढाव आ जाता है। इसकी धार्मिक शैली वैयक्तिक एव भावयुक्त होती है। कल्ट मे किसी चमत्कारिक व कल्याणकारी नेता के समर्थको या श्रोतागणो को भी समाहित किया जाता है। जबकि सेक्ट कल्ट की अपेक्षा अधिक स्पष्ट धार्मिक समुदाय की ओर सकेत करता है और ये अपने सदस्यो को अधिक मात्रा मे धार्मिक मूल्य (सामाजिक सम्बन्धो, सस्कारनिष्ठ क्रियाएँ, नैतिक एव सैद्धान्तिक दिशा से सम्बन्धित) प्रदान करता

है, परन्तु समाज के वृहद्–फलक पर इसकी भूमिका बहुत कम है। इस प्रकार सेक्ट कल्ट सम्प्रदाय पन्थ आदि शब्द अपने मे एक विशेष तकनीकी अर्थ को प्रस्तुत करते हैं। सामान्यत इसका अर्थ धर्म सम्प्रदाय, पथ या किसी धर्म के अन्तर्गत कोई विशिष्ट मत या सिद्धान्त से लगाना उचित प्रतीत होता है। ये सभी धार्मिक अनुभूति के पश्चात् ही आविर्भूत होते है।

राधा–कृष्ण सम्प्रदाय के विकासात्मक स्वरूप का अध्ययन करने के लिए राधा एव कृष्ण तत्व की अलग–अलग विवेचना करना अतिआवश्यक प्रतीत होता है और पुन इस तथ्य का विश्लेषण किया जाय कि कब कैसे और क्यो यह दोनो तत्व युगल रूप मे एक सम्प्रदाय विशेष के देवता रूप मे प्रतिष्ठित हो गये? इसके अध्ययन के लिए अनेक साहित्यिक आभिलेखिक एव कलागत साक्ष्यो को आधार रूप मे प्रस्तुत किया गया है। विविध साहित्यिक साक्ष्यो के आधार पर राधा शब्द की प्राचीनता तो ऋग्वैदिक काल तक ले जाई जा सकती है, जहॉ इसका अर्थ अन्न, धन, पूजा, नक्षत्र आदि अर्थों मे किया गया है, न कि किसी अराध्य देवी के रूप मे और न कृष्ण की प्रिया रूप मे। कृष्ण की प्रिया रूप मे मासलयुक्त राधा की उपस्थिति का स्पष्ट पता हमे हालकृत **गाथासप्तशती** (प्रथम शती ई०) मे मिलता है। इसके पश्चात् के अनेक साहित्यिक ग्रथो जैसे **पचतत्र**, **वेणीसहार**, **ध्वन्यालोक**, **दशावतारचरित**, **गीतगोविन्द** आदि एव विविध पुराणो से भी राधा के स्वरूप एव विकास पर प्रकाश पडता है। साहित्यिक साक्ष्यो के अतिरिक्त प्राप्त अनेक आभिलेखिक साक्ष्यो से भी राधा के विकासात्मक स्वरूप की ऐतिहासिकता को सबल आधार मिलता है। इस सदर्भ मे धार नरेश वाक्पति मुज के ६७४ ई०, ६८० ई० और ६८६ ई० तिथि के अभिलेखो को प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त ८वी शती के प्रतीहारकालीन मडोर से प्राप्त एक अभिलेख से भी राधा विषयक सूचना प्राप्त होती है जिससे स्पष्ट होता है कि ८वी से १०वी शती के बीच

राधा तत्व से जनमानस परिचित हो चुका था। अनेक कलागत साक्ष्यो से भी राधातत्व पर स्पष्ट प्रकाश पडता है।

कृष्ण सबधी भी अनेक साहित्यिक आभिलेखिक मौद्रिक एव कलागत साक्ष्य प्राप्त होते है। कृष्ण की प्राचीनता **वैदिक वाङ्मय, महाभारत** जैसे ग्रथो से प्राप्त होती है किन्तु वह कृष्ण के भिन्न रूप को द्योतित करती हैं। कृष्ण का एक नायक प्रेमी के रूप मे विकास **गाथासप्तशती** एव अनेक परवर्ती राधा विषयक वर्णन करने वाले साहित्यिक ग्रथो से होती है। इसमे **भागवतपुराण** एव **गीतगोविन्द** विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कृष्ण सबधी अनेक आभिलेखिक साक्ष्य भी प्राप्त होते है। घोसुडी (राजस्थान) बेसनगर (विदिशा) नानाघाट (नासिक), मोरा (मथुरा) आदि अभिलेख भी कृष्ण सबधी सूचना प्रदान करने वाले प्रारम्भिक अभिलेख माने जाते है किन्तु इन सभी मे कृष्ण का या तो वासुदेव रूप मे उल्लेख मिलता है या तो कही अन्य पचवृष्णिवीरो के साथ उल्लेख प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अब तक कृष्ण को एक स्वतत्र देवता के रूप मे जनसामान्य मे स्थान नही प्राप्त हुआ था। कालान्तर मे ८वी शती के प्रतीहारकालीन मदौर के अभिलेख व वाक्पति मुज के अभिलेख (६७४ ई० ६८० ई० एव ६८६ ई०) से कृष्ण के साथ–साथ राधा विषयक कथानक भी वर्णित मिलते है। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि ८वी से १०वी शती के मध्य जनमानस मे स्वतत्र रूप से राधा–कृष्ण की प्रेम विषयक लीला प्रचलित हो गई थी और उनकी इन लीलाओं को क्रमश मदिरो मे उत्कीर्ण मूर्तियो मे भी स्थान दिया जाने लगा था। **भागवतपुराण** जिसका समय लगभग ८वी से १०वी शती के बीच निर्धारित किया जाता है, मे भी कृष्ण सबधी इतने वृहद् वर्णन से भी इस बात की पुष्टि होती हैं कि कृष्ण सम्प्रदाय अपने अस्तित्व मे आ चुका था। इसके अतिरिक्त **भागवतपुराण** के दशम स्कन्ध मे रासलीला प्रसग के अन्तर्गत जिस 'विशेष गोपी' का वर्णन हुआ है, उसे 'राधा'

मानना उचित प्रतीत होता है। इससे स्पष्ट होता है कि ८वी से १०वी शती के बीच राधाकृष्ण सम्प्रदाय धीरे–धीरे अपने स्वरूप मे विकसित होने लगा था। बारहवी शती मे निम्बार्क सम्प्रदाय मे भी राधा एव कृष्ण को धार्मिक देवी–देवता के रूप मे स्थान दिया गया। बारहवी शती के पश्चात् राधाकृष्ण तत्व के युगल रूप को अनेक सम्प्रदायो ने अपने चितन का आधारबिन्दु बनाया है। इसमे चैतन्य, वल्लभ, राधावल्लभ आदि सम्प्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकार राधाकृष्ण सम्प्रदाय के ऐतिहासिक विकासात्मक स्वरूप की जो प्रतिष्ठा ८वी से १२वी शती के मध्य स्थापित हुई, वह आगे चलकर अपने स्वतत्र रूप मे पूर्णत विकसित हो गई थी।

भारतीय कला मे राधाकृष्ण का अकन एक महत्वपूर्ण उपलब्धि के रूप मे जाना जाता है। मूर्तिकला के अन्तर्गत कृष्ण का उत्कीर्णन् शक–कुषाणकाल से प्राप्त होने लगता है। कृष्ण से सबधित जो मूर्तियॉ या शिल्पखड प्रचुर मात्रा मे प्राप्त होते है– उसमे कृष्ण के जीवन से जुडी घटनाओ को विशेष महत्व दिया गया है। नवनीत–हरण, कालियमर्दन, गोवर्धन धारण, चाणूरवध, कुवलयापीडवध, यमलार्जुन उद्धार, वसुदेव का कृष्ण को नद के गृह पहुँचाना आदि कथानक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कृष्ण का मूर्तिकला मे इन कथानको के अतिरिक्त कही पचवृष्णिवीरो के साथ तो कही बलराम एकानशा के साथ उत्कीर्ण किया गया है। गुप्तकाल मे विकसित वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत विष्णु एव उनके अवतार सबधी अनेक मूर्तिया निर्मित हुई। इसमे कृष्ण सबधी मूर्तिशिल्प के सदर्भ मे एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी प्रकाश मे आता है कि कृष्ण को विष्णु का पूर्णावतार मानने के कारण कृष्ण की जो प्रारम्भिक प्रतिमाऍ निर्मित हुई वे विष्णु के मानवीय रूप वासदेव–कृष्ण से सबधित थी। इस प्रकार विष्णु के प्रतिमा–लक्षण के आधार पर कृष्ण सबधी प्रतिमाऍ प्रारम्भ मे उत्कीर्ण की गई। इसके अतिरिक्त विष्णु एव वासुदेव–कृष्ण के रूप मे साम्यता होने के कारण जनसामान्य ने

बहुत समय तक इन दोनो के रूपो को अभिन्न समझा। इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज मे अब तक कृष्ण को एक स्वतत्र देवता के रूप मे नही स्वीकार किया गया था। गुप्तोत्तरकाल/पूर्वमध्यकाल मे कृष्ण सबधी अनेक कथानक उत्कीर्ण मिलते है। प्राप्त अधिकाश मूर्तिशिल्प कृष्ण के गोवर्धनधारी रूप एव राधा के साथ वशीवादन करते हुए उत्कीर्ण किये गये हैं। पल्लवकालीन कृष्णमडप से गोवर्धन धारण वाले दृश्याकन मे राधा–कृष्ण, ओसिया स्थित सचियामाता मदिर के समीप स्थित एक छोटे से मदिर के वितान मे राधाकृष्ण का उत्कीर्णन्, खजुराहो स्थित लक्ष्मण मदिर के प्रदक्षिणापथ से राधा के साथ कृष्ण का वेणुवादन करते हुए, पहाडपुर से राधाकृष्ण का युगल स्वरूप आदि ऐसे मूर्तिशिल्प उत्कीर्णन् है जो कृष्ण के स्वतत्र रूप के साथ–साथ राधा सबधी मूर्तिशिल्प के तथ्य पर भी प्रकाश डालते है। प्रारम्भिककाल मे राधा विषयक जो मूर्तिशिल्प अत्यन्त अल्पसख्या मे प्राप्त होते है वह भी विवादास्पद है।

राधा सबधी मूर्तिशिल्प के सदर्भ मे यह प्रश्न उठता है कि वे कौन से कारण थे, कि प्रारम्भिक काल मे जब कृष्ण सबधी मूर्तियॉ प्रचुर मात्रा मे मूर्तियॉ निर्मित हुई तो उस समय राधा विषयक मूर्तियॉ स्पष्टत क्यो नही प्राप्त होती? इस सबध मे भडारकर महोदय, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि विद्वानो के विचार को सर्वउचित ठहराया जा सकता है। भडारकर का इस सबध मे कथन है कि कृष्ण आभीर जाति के बाल देवता और राधा आभीर जाति की प्रेम देवी कही जाती थी, प्रारम्भ मे आभीरो का सबध जब आर्यों से हुआ तो आर्यों ने इन जाति के बालदेवता को अपने धर्म मे सम्मिलित कर लिया। इससे स्पष्ट होता है कि कृष्ण की आरम्भिक काल से प्रतिमाएँ निर्मित होने लगी थी, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि राधा को प्रेमदेवी मानने के कारण जनमानस ने इसे प्रारम्भ मे अपने धर्म मे स्थान नही दिया होगा। कालान्तर मे जनमानस मे प्रेम–सबधी कथानको का जब प्रचलन प्रारम्भ हुआ तो इसके प्रभाव से कृष्ण का व्यक्तित्व अछूता

नही रह सका। अब कृष्ण के गम्भीर व्यक्तित्व मे श्रृगारिक भाव की कल्पना की जाने लगी तो उनका नया रूप एक प्रेमी, रसिक व नायक के रूप मे उद्भूत हुआ और ऐसी स्थिति मे उनकी नायिका के रूप मे राधा का अकन होना स्वाभाविक था। इसके अनिरिक्त कृष्ण का मूर्तिकला मे अवश्य अकन प्रारम्भिक काल से प्राप्त होता है, किन्तु वह स्वतत्र रूप से नही था जब गुप्तोत्तर काल मे कृष्ण को एक स्वतत्र नायक व धार्मिक देवता के रूप मे स्थान प्राप्त होने लगा तो उनसे सबधित कथानको/लीलाओ के अकन मे राधा सबधी उत्कीर्णन् होना स्वाभाविक था। निष्कर्षत कह सकते है कि गुप्तकाल के पश्चात् राधाकृष्ण सबधी मूर्तियो का निर्माण प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होता है जिसने न केवल मूर्तिशिल्प के क्षेत्र मे सौन्दर्य अभिवृद्धि की, अपितु राधाकृष्ण सम्प्रदाय को प्रतिष्ठित करने मे सक्रिय भूमिका निभाई।

भारतीय कला के अन्तर्गत चित्रकला को विशेष महत्व प्रदान है। चित्रकला मे राधाकृष्ण का रूपाकन बहुत अधिकता से प्राप्त होता है। मध्यकाल मे विकसित होने वाली चित्रकला विशेषत राजस्थानी एव पहाडी चित्रकला ने अपने चित्रण का प्रमुख विषय **भागवतपुराण गीतगोविन्द** एव रीतिकालीन काव्यग्रथो (बिहारी सतसई, कविप्रिया इत्यादि) को बनाया। इन समस्त काव्य ग्रन्थो मे नायक व नायिका रूप मे कृष्ण एव राधा को महत्व दिया गया। स्वाभाविक है कि तत्कालीन विकसित चित्रकला मे राधा और कृष्ण सबधी कथानक को विशेष स्थान दिया होगा।

राजस्थानी चित्रकला के अन्तर्गत विकसित होने वाली मेवाड, मारवाड हाडौती ढूँढाड सभी शैलियो व इसकी उपशैलियो मे राधाकृष्ण विषयक चित्राकन प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होते है किन्तु राजस्थान की मारवाड शैली के अन्तर्गत आने वाली किशनगढ शैली मे राधाकृष्ण के स्वरूप की जो झाँकी चित्रित की गई है, वह अन्यत्र अनुपलब्ध है। किशनगढ शैली मे राधा का चित्राकन बनी–ठणी के रूप मे दिखाई पडता है।

पहाडी चित्रकला के अन्तर्गत अनेक शैलियो जैसे चम्बा, गुलेर, बसोहली कागडा इत्यादि का विकास हुआ है। कागडा शैली मे निर्मित चित्रो मे प्राकृतिक दृश्यो के साथ–साथ राधाकृष्ण के स्वरूप को विविध आयाम प्राप्त हुए है। इसने न केवल कागडा जगत को गौरवान्वित किया, अपितु समस्त पहाडी चित्रकला मे अपने को सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया।

स्पष्ट है कि मध्यकाल व उसके पश्चात् विकसित चित्रकला ने अपने चित्रण–विषय के तत्व कही और से नही लिये अपितु चित्रकारो ने पूर्वमध्यकाल मे रचित ग्रन्थो जैसे **भागवतपुराण**, **गीतगोविन्द** तथा कुछ बाद के रीतिकालीन ग्रन्थो के कथानको से ही अपने चित्रण–विषय को ढूँढने का प्रयास किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि पूर्वमध्यकाल मे जिस राधाकृष्ण तत्व की प्रतिस्थापना हुई, वह परवर्तीकाल मे अपने विविध रूप चाहे, वह चित्रकला हो, मूर्तिकला हो या साहित्य, सभी मे अपने विकासात्मक रूप की झॉकी प्रस्तुत करता है। इस प्रकार राधाकृष्ण सम्प्रदाय के विकसित रूप का जो रेखीय क्रम पूर्वमध्यकाल से प्रारम्भ हुआ, वह परवर्ती काल मे निरन्तर चलता रहा।

प्रतिमोपासना का हिन्दू धर्म मे विशिष्ट स्थान है। इसका प्रयोग न केवल जनसाधारण ने ही किया है, अपितु महान योगी, ज्ञानी एव ध्यानी ने भी अपने ध्यान एव मनन के लिए प्रतिमा को अपना आधार बनाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन योगियो व मनीषियो के उन चिन्त्य एव कल्पनात्मक विचारो (छवि) को साकार रूप मे प्रस्तुत करने के लिए इन कलाकारो व शिल्पियो की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। इस प्रकार प्रतिमा निर्माण का प्रचलन हुआ होगा। धीरे–धीरे शिल्पियो एव कलाकारो ने पुराणो मे प्राप्त देवी–देवताओ के स्वरूपो एव कथानको को प्रतिमाओ के रूप मे ढाल कर पौराणिक धर्म के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान दिया।

भारत मे अनेक सम्प्रदायो का विकास हुआ, जिसमे वैष्णव सम्प्रदाय उसमे से एक है। वैष्णव सम्प्रदाय के अतर्गत विष्णु–सबधी पूजा–अर्चना का विधान है। कालातर मे जब अवतारवाद की सकल्पना प्रारम्भ हुई तो इस विष्णु के अनेक अवतार माने गये जिसमे राम, कृष्ण वराह, नृसिह, बुद्ध आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। विष्णु के इस अवतारवाद रूप मे कृष्णावतार जनमानस विशेष रूप से लोकप्रिय हुआ। विविध पुराणो जैसे **विष्णुधर्मोत्तरपुराण, मत्स्यपुराण भागवतपुराण हरिवशपुराण** आदि मे कृष्ण के स्वरूप व प्रतिमा–निर्माण विधान की चर्चा अतिविस्तार से मिलती है, जिससे प्रेरित होकर कलाकारो ने उसी वर्णित छवि को अपनी प्रतिमाओ मे उतारने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त अनेक शिल्प–ग्रथो (रूपमडन, अपराजितपृच्छा इत्यादि) मे भी कृष्ण प्रतिमा निर्माण सबधी निर्देश प्राप्त होता है।

कृष्ण के साथ राधा सबधी जो प्रतिमाएँ प्राप्त होती है, उनके सदर्भ मे यह कहा जा सकता है कि इनका निर्माण भी पुराणो (ब्रह्मवैवर्तपुराण, देवीभागवत पुराण, इत्यादि) व अन्य पूर्वमध्यकालीन साहित्यिक ग्रन्थो जैसे गीतगोविन्द आदि के आधार पर कलाकारो ने किया होगा। राधा प्रतिमा निर्माण के सबध मे पूर्वमध्यकालीन शिल्पशास्त्रीय ग्रथ मौन है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणो व अन्य साहित्यिक कृतियो के अतिरिक्त कलाकारो ने विष्णु की प्रिया लक्ष्मी सबधी शिल्पशास्त्रीय निर्देश को राधाविषयक प्रतिमा निर्माण के सदर्भ मे प्रयोग किया हो। इस सबध मे यह तथ्य उचित प्रतीत होता है कि जिस प्रकार कृष्ण विष्णु के अवतारी रूप है और उनकी प्रतिमा–निर्माण मे भी उसी रूप का दर्शन होता है, ठीक उसी प्रकार राधा भी महालक्ष्मी स्वरूपा है जो कृष्ण की अन्तरग महाशक्ति का ही रूप है। अत राधा प्रतिमा निर्माण सबधी समस्त लक्षण भी लक्ष्मी प्रतिमा लक्षण से ही ग्रहण किये होगे।

भारत सदैव से अनेक भाषा–भाषी लोगो का देश रहा है, इसलिए यहॉ पर विकसित साहित्य भी अनेक भाषाओ से सबधित रहा है। समय–समय पर अनेक

साहित्यिक रचनाएँ सृजित की गयी, जो न केवल ज्ञान अभिवर्द्धन एव रोचक होती है, अपितु वे तत्कालीन सामाजिक गतिविधियो को भी उद्घाटित करती रही है। यदि विविध साहित्य का भारतीय परिवेश मे अध्ययन किया जाय, तो सबसे अधिक प्राचीन साहित्य जो प्राप्त होता है– वह सस्कृत–साहित्य है। इसका कारण सस्कृत भाषा का वैदिक आर्यों के समय से प्रचलन होना माना जाता है और वैदिक आर्यों ने जो साहित्य का सृजन किया वह इसी भाषा मे निबद्ध है। राधाकृष्ण सबधी साहित्यिक अध्ययन के सदर्भ मे सस्कृत–साहित्य के अन्तर्गत आने वाले धार्मिक एव लौकिक साहित्य से सम्बन्धित प्रमुख ग्रन्थो को इसका आधार बनाया गया है।

धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत ब्राह्मण एव ब्राह्मणेतर ग्रथो का अध्ययन किया जाता है। ब्राह्मण–ग्रथो मे वेद, उपनिषद् रामायण, महाभारत, स्मृतियाँ, पुराण आदि का अध्ययन किया जाता है। इसमे **ऋग्वेद, छान्दोग्योपनिषद् कौषतकि ब्राह्मण महाभारत** आदि मे कृष्ण का उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु राधा का नही। पुराणो मे कृष्ण एव राधा की विस्तार से चर्चा मिलती है। **विष्णुपुराण**, **भागवतपुराण**, **हरिवशपुराण**, **अग्निपुराण** मे कृष्ण का तो अकन प्राप्त होता है किन्तु राधा का नही। **ब्रह्मवैवर्तपुराण**, **पद्मपुराण**, **मत्स्यपुराण**, **देवीभागवत** इत्यादि पुराणो मे राधा के साथ–साथ कृष्ण का भी उल्लेख प्राप्त होता है। ब्राह्मणेतर ग्रथो मे बौद्ध एव जैन ग्रथो का उल्लेख किया जाता है। सस्कृत भाषा मे रचित बौद्ध ग्रथो मे राधा एव कृष्ण सबधी उल्लेख स्पष्टत प्राप्त नही होते, किन्तु जैन ग्रथो मे कृष्ण का उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु राधा का नही। इसमे जिनसेनकृत **हरिवशपुराण**, गुणभद्ररचित **उत्तरपुराण**, रविषेणकृत **पद्मपुराण**, हेमचन्द्र रचित **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र** आदि आते हैं। धार्मिक साहित्य के साथ–साथ लौकिक साहित्य मे भी राधा एव कृष्ण के स्वरूप पर स्पष्ट प्रकाश पडता है। पाणिनिकृत **अष्टाध्यायी**, पतजलि के **महाभाष्य** एव अमरसिह कृत **अमरकोश**

से कृष्ण सबधी सूचनाएँ तो प्राप्त होती है किन्तु राधा के सबध मे कुछ स्पष्ट प्रकाश नही पडता। सर्वप्रथम विष्णुशर्मा कृत **पचतत्र** से कृष्ण के साथ–साथ राधाविषयक सूचना प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त भट्टनारायण के **वेणीसहार**, आनन्दवर्धन द्वारा रचित **ध्वन्यालोक**, क्षेमेन्द्र कृत **दशावतारचरितम**, जयदेव के **गीतगोविन्द** आदि सस्कृत ग्रन्थो से राधा एव कृष्ण के स्वरूप की स्पष्ट झॉकी प्राप्त होती है। जयदेव का **गीतगोविन्द** तो पूर्णत राधा एव कृष्ण को समर्पित माना जाता है। स्पष्ट है कि सस्कृत साहित्य के अन्तर्गत आने वाले बारहवी शती तक के प्रमुख ग्रथो (धार्मिक एव लौकिक) मे राधा कृष्ण तत्व की जो झलक दिखाई देती है, उससे यह स्पष्ट होता है कि इस समय तक राधाकृष्ण सम्प्रदाय ने प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी जिसका स्पष्ट प्रमाण तत्कालीन विकसित सस्कृत–साहित्य मे दृष्टव्य होता है।

धर्म और दर्शन मे राधाकृष्ण तत्व का अभूतपूर्व विकास दिखाई पडता है। धर्म के अन्तर्गत सामान्यत मनुष्य अपने किसी इष्ट देवी–देवता की उपासना करता है। उसकी इस उपासना पद्धति मे विविधता दिखाई पडती है। इसके अतिरिक्त वह अपनी धार्मिक तुष्टि एव पुण्यफल प्राप्ति की इच्छा से अपने इष्ट से सबधित व्रत उत्सव, तीर्थ आदि को भी अपने धार्मिक–क्रियाकलापो मे सम्मिलित करता है। राधाष्टमी, कृष्ण–जन्माष्टमी, गोवर्धन–पूजा शरदपूर्णिमोत्सव आदि ऐसे ही व्रतोत्सव है जिनका प्रचलन वर्तमान मे समस्त भारतवर्ष मे दिखाई पडता है। कृष्ण का प्रादुर्भाव भाद्रमास की कृष्णपक्ष की अष्टमी होने के कारण यह दिन कृष्ण–जन्माष्टमी के रूप मे मनाया जाता है। कृष्ण जन्माष्टमी का यह व्रतोत्सव जनसाधारण को अप्रत्यक्ष रूप से सुखद सदेश प्रदान करता है। भगवान कृष्ण का प्राकट्य भाद्रपद जिसे वर्षा ऋतु का निर्णायक मास माना जाता है मे हुआ। ऐसा माना जाता है कि यदि इस मास तक उत्तम वर्षा हो गई तो सुभिक्ष है अन्यथा दुर्भिक्ष। ऐसी स्थिति मे भगवान का प्रादुर्भाव भी निराशा मे

आशा—सचार का निर्णायक है। उनके प्राकट्य से भक्तो एव उनके अनुयायियो की आशाएँ उसी प्रकार फलोन्मुख हो जाती हैं जिस प्रकार से भाद्रपद मे कृषको की आशाए फलोन्मुख हो जाती है। ऐसे कृषि प्रधान भारत के आशापूर्ण अवसर भाद्रपद मास मे कृष्ण भगवान ने प्रकट होकर लोककल्याण की भावना को जगाया। इसके साथ ही श्रीकृष्ण ने कृष्णपक्ष को अपने प्रादुर्भाव के लिए उपयुक्त पक्ष समझा। इसमे निहित प्रतीकात्मक अर्थ है— कि भगवान श्रीकृष्ण अधकार के समय प्रकाश देने के लिए प्रकट हुए। प्रत्येक भक्त की भगवान से यही कामना रहती है कि तमसो मा ज्योतिर्गमय अर्थात् मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ। वर्तमान मे समस्त भारतवर्ष मे यह व्रतोत्सव बडे धूमधाम से मनाया जाता है। राधाष्टमी व्रतोत्सव का उद्देश्य श्रृगार प्रचार की कल्पना न करके लोगो मे विषयासक्ति त्यागपूर्वक ईश्वर के प्रति विशुद्ध प्रेम के भाव को उदित करना है। इसी प्रकार शरदपूर्णिमोत्सव जहॉ एक ओर कृष्ण (ब्रह्म) और गोपियो (जीवात्मा) के मिलन अर्थात् आत्मा—परमात्मा के एकीकार करने का दर्शन प्रस्तुत करती है, वही दूसरी ओर इसका वैज्ञानिक दृष्टि से भी महत्व है। शरद ऋतु की चद्र—ज्योत्सना इस काल मे बढे पित्त प्रकोप को शान्त करती है जैसा कि **चरकसहिता** से भी स्पष्ट होता है। इसलिये आज भी भारतीय परिवेश मे लोग शरदऋतु मे पूर्णचन्द्र ज्योत्सना का सेवन करना अतिआवश्यक मानते है। अन्नकूट/गोवर्धन पूजा आज भी भारतवर्ष मे बडे उत्साह से मनाया जाता है जो इन्द्र के मानमर्दन व कृष्ण द्वारा समस्त ब्रजवासियो को उनके द्वारा प्रदत्त कष्टो से मुक्ति दिलाने की कथा कहता है। भगवान की अपने भक्त के प्रति अत्यन्त उदारता, शरणागतवत्सलता, अनुकम्पा आदि यही गुण मनुष्य को ईश्वरोन्मुख होने के लिए प्रेरित करते है। इस प्रकार गोवर्धन पूजा ने अतिप्राचीन काल से चली आ रही इन्द्र—पूजा के स्थान पर कृष्ण—पूजा को प्रतिष्ठित किया, जो ब्रजवासियो के लिए अधिक

उपयोगितावादी सिद्ध हुई जिसमे कृषि एव पशुपालन का अन्तर्भुक्त समाहित था। इसी प्रकार मथुरा वृन्दावन, पुरूषोत्तम, द्वारका आदि तीर्थ भी राधाकृष्ण के धार्मिक स्वरूप का स्मरण कराते प्रतीत होते है।

दर्शन–जगत् मे भी राधाकृष्ण तत्व को चितन का आधार बिन्दु बनाया गया है। इनमे निम्बार्क, चैतन्य, वल्लभ, राधावल्लभ, हरिदासी आदि सम्प्रदाय प्रमुख है। इन सभी सम्प्रदायो ने अपने–अपने अनुसार राधाकृष्ण के उपास्य रूप को अपने दर्शन के चितन का आधार बनाया है। यह बात अलग है कि किसी सम्प्रदाय मे राधा को विशेष महत्व दिया गया है, तो किसी मे कृष्ण को। इस प्रकार धर्म एव दर्शन मे राधाकृष्ण तत्व को जिस शक्ति एव शक्तिमान रूप मे प्रतिष्ठित किया गया, उसने् न केवल पूर्वमध्यकाल मे विकसित राधाकृष्ण सम्प्रदाय को न केवल सबल आधार प्रदान किया अपितु इसने परवर्ती काल मे विकसित होने वाले दर्शन को भी एक महत्वपूर्ण चिन्त्य विषय के रूप मे सामग्री प्रदान की।

राधाकृष्ण सम्प्रदाय के उद्भव एव विकास मे पूर्वमध्यकालीन राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक एव धार्मिक पृष्ठभूमि ने सक्रिय भूमिका निभाई। पूर्वमध्यकाल मे जिस राजनीतिक एकता का अभाव दिखाई पडता है, उससे समस्त देश मे अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। परिणामस्वरूप देश अनेक छोटे–छोटे क्षेत्रो मे विभक्त हो गया और अलग–अलग सत्ता केन्द्रो के कारण विभिन्न राजवशो मे आपसी प्रेम एव सौहार्द का भाव विलुप्तप्राय होने लगा, तथा वे परस्पर सघर्षरत रहते थे जिससे देश को एकसूत्र मे बॉधने वाली शासन–पद्धति समाप्त हो गई। इसी राजनीतिक व्यवस्था ने सामन्तवादी प्रथा को प्रचलित करने मे महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। इस सामन्ती प्रथा ने समाज के प्रत्येक वर्ग को प्रभावित किया। ये सामन्तवर्ग पूर्वमध्यकाल मे

प्रशासनिक पद पर नियुक्त होते थे तथा उन्हे इनकी सेवा के बदले मे बडी–बडी जागीरे प्रदान की जाती थी। इस प्रकार जागीरो/भूमि अनुदान प्राप्त करने के कारण ये शक्तिसम्पन्न वर्ग के रूप मे समाज मे स्थान रखते थे, जिन पर केन्द्रीय सत्ता का अकुश नाममात्र ही था।

सामन्तो के बडे–बडे जागीरो के स्वामी होने से उनके विशेषाधिकारो एव अन्य सुविधाओ मे भी वृद्धि हो गई जिसका वह दुरूपयोग करते थे। परिणामस्वरूप राजनीतिक अशान्ति, भोगलिप्सा एव विलासिता जैसी प्रवृत्तियो का भी विकास हुआ जिससे राजनैतिक केन्द्रीकरण शिथिल हुआ, साथ ही सामाजिक गतिशीलता भी अवरूद्ध हो गई। सामतो के अत्याचारो ने जनसाधारण को एक ऐसे शासक (देवता) की कल्पना करने पर बाध्य कर दिया जो इन सामतो से अधिक शक्तिशाली व ऐश्वर्य सम्पन्न हो जो उन्हे अत्याचारो से मुक्ति दिला सके और अभयदान प्रदान कर सके।

पूर्वमध्यकाल की सामाजिक दशा के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र वर्ण का अस्तित्व दिखाई देता है। इस काल मे ब्राह्मण एव क्षत्रिय की स्थिति तो ठीक रही किन्तु सबसे अधिक वैश्य एव शूद्र वर्ण प्रभावित हुए। प्रारम्भ मे वैश्यो ने अपने व्यवसाय मे कृषि, पशुपालन के साथ–साथ व्यापार को भी सम्मिलित किया था, किन्तु आपातकाल मे ब्राह्मणो को जब कृषि–कर्म करने का आदेश दिया गया, तो उन्होने इसको अपने पूर्वनिर्दिष्ट व्यवसाय कर्म मे सम्मिलित कर लिया और वे स्वय कृषि–कार्य न करके शूद्रो से करवाते थे तथा श्रमिक कार्य को हेय दृष्टि से देखते थे। इससे वैश्यो ने कृषि–कार्य को त्याग दिया जिसे शूद्रो ने ग्रहण कर लिया। इससे सामाजिक स्तर पर वैश्यो एव शूद्रो की स्थिति एक समान हो गई। इधर नगरो के पतन से भी वैश्यो के व्यापार–वाणिज्य को धक्का पहुँचा जिससे उनकी स्थिति और निम्न हो गई। शूद्रो से ब्राह्मण एव अन्य सामतवर्ग बेगार (बिना पारिश्रमिक दिये कार्य करवाना) करवाते तथा

उनसे कर वसूलते थे और साथ ही उन्हे अनेक सामाजिक अधिकारो से भी वचित रखते थे। इस प्रकार समाज मे वैश्यो व शूद्रो की स्थिति दयनीय हो गई थी तथा वे अपनी स्थिति से ऊपर उठने की दशा मे थे। इसके अतिरिक्त समाज मे स्त्री की दशा भी पतनोन्मुख थी। वे भोग्य मात्र वस्तु, व दासी समझी जाती थी। इस प्रकार वैश्य शूद्र एव स्त्री को समाज मे हेय दृष्टि से देखा जाता था। अत पूर्वमध्यकाल मे विकसित वैष्णव सम्प्रदाय के कृष्ण भक्ति शाखा ने समाज के शक्तिहीन वर्णहीन अर्थहीन पापी स्त्री सभी को उत्थान के लिए नया मार्ग दिखाया जिसमे शरणागतवत्सल, दीनो के उद्धारक अभयदानकर्ता जैसे मानवीय रूप देवता की कल्पना की गई– वह विष्णु के कृष्णावतार मे ही सम्भव हो सकी। **भगवद्गीता** के अठ्ठारहवे अध्याय मे उल्लिखित श्लोक से भी इस बात की पुष्टि होती है। कृष्ण भक्ति मार्ग मे हृदयपक्ष की प्रधानता होने के कारण कोई भी साधक अपने इष्ट देव को सरलता से प्राप्त कर सकता था।

दूसरी ओर पूर्वमध्यकाल मे अनेक सम्प्रदायो जैसे शैव वैष्णव सौर, गाणपत्य, शाक्त तत्र आदि का भी महत्व बढ रहा था। विशेष रूप से तत्र सम्प्रदाय का प्रभाव सभी सम्प्रदाय पर पडा। वैष्णव सम्प्रदाय पर जब तत्र का प्रभाव पडा तो इस सम्प्रदाय ने अपने अवतार रूप मे उस देवता की तलाश की जो चचल, माद्रक एव श्रृगारिक छवि से युक्त हो, इसके लिए कृष्ण को आधार बनाया गया जिसमे उनकी शक्ति के रूप मे राधा को स्थान दिया गया। इस सदर्भ मे रामशरण शर्मा द्वारा वर्णित एक तथ्य यह भी प्रकाश मे आता है कि जब पूर्वमध्यकाल मे ब्राह्मणो को भूमि अनुदान देने की प्रक्रिया मे वृद्धि हुई तो ब्राह्मणो को इन भूमि अनुदानो मे ऐसे स्थान प्राप्त हो गये, जहॉ जनजातियो (कबीलाई) के लोग निवास करते थे। ऐसी स्थिति मे वहॉ जब ब्राह्मणीय सस्कृति का प्रसार हुआ तो इस क्षेत्र मे विकसित मातृदेवी की पूजा के सस्कृतिकरण के

साथ–साथ उस क्षेत्र पर तत्र का प्रभाव भी पडा होगा। ये तत्र जब पाचरात्र के रूप मे उदित हुआ, तो इसने वैष्णव पथ मे मातृदेवी को सम्मिलित करके उसे नया रूप प्रदान किया होगा। पाचरात्र धर्म वस्तुत द्वितीय–तृतीय शती ई० तक भागवत–धर्म मे परिणत हो गया था और भागवतानुयायी वासुदेव–कृष्ण के उपासक थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव पथ की इस मातृदेवी को वासुदेव–कृष्ण के साथ सयुक्त करके नये रूप राधा के रूप मे प्रस्तुत किया होगा। स्पष्ट है कि राधाकृष्ण सम्प्रदाय के विकास मे अनेक कारण सहायक माने जा सकते है।

निष्कर्षत राधाकृष्ण सम्प्रदाय के सबध निम्नलिखित तथ्य प्रकाश मे आते है–

१ राधाकृष्ण सम्प्रदाय एक स्वतत्र सम्प्रदाय के रूप मे दसवी से तेरहवी शती के बीच प्रतिष्ठित हो चुका था।

२ भक्ति तत्र एव तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एव अन्य भौतिक प्रवृत्तियो ने इस सम्प्रदाय के विकास के लिए उपर्युक्त पृष्ठभूमि का निर्माण किया।

३ राधाकृष्ण सम्प्रदाय की नैरन्तर्यता वैश्विक स्तर पर दिखाई पडती है। इस्कॉन (ISKCON) इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

४ भारतीय सस्कृति के मूर्त एव अमूर्त दोनो पक्षो को राधाकृष्ण सम्प्रदाय ने गम्भीरता से प्रभावित किया है। मूर्त पक्ष मे व्रत, उत्सव, पूजन–अर्चन विधि व कर्मकाड, सामुदायिक रीति–रिवाज इनसे जुडी हुई स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, नृत्यकला (रास–लीला), सगीत, पटकला एव विविध ललित कलाओ आदि पर इसका अमिट प्रभाव दिखाई पडता है। इन मूर्त स्वरूपो का अमूर्त तत्व राधाकृष्ण ही है अर्थात् प्रेम वात्सल्य, श्रृगार आदि भावो को

अभिव्यक्त करने के साथ–साथ गम्भीर, दार्शनिक एव आध्यात्मिक चिन्तन भी राधाकृष्ण सम्प्रदाय की देन है।

५ राधाकृष्ण सम्प्रदाय का सर्वाधिक गम्भीर प्रभाव मनोवैज्ञानिक स्तर पर दिखाई देता है। यह एक स्वतत्र शोध का विषय है। भारतीय समाज को राधाकृष्ण तत्व ने जो विविधतापूर्ण चेतना, रूप, प्रतीक एव बिम्ब प्रदान किये है उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि किस प्रकार भारत की सामुदायिक चेतना मे समाज के विभिन्न वर्गों की मूर्त एव अमूर्त धारणाओ को समाहित किया गया है। कैसे पशुचारण, कृषि–व्यवस्था, जनजातीय स्थिति, जटिल नगरीय सरचना इन सभी वर्गों की समन्वित आकाक्षाओ को राधाकृष्ण सम्प्रदाय मे स्थान प्राप्त हुआ है और किस प्रकार इस समन्वय ने राधाकृष्ण तत्व को भारत की सास्कृतिक एकता का प्रधान कारक तत्व बना दिया है आदि बिन्दुओ पर गहन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की आवश्यकता है। निष्कर्ष रूप मे प्रस्तुत शोध–प्रबध इस सम्भावना का सकेत करता है।

६ प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध समसामयिक समाजशास्त्रीय एव ऐतिहासिक नारीवादी विमर्श के परिप्रेक्ष्य मे राधा तत्व को देखने का प्रयास भी करता है। चूँकि यह अपने आप मे एक वृहद् अध्ययन का विषय है, अत इस शोध–प्रबध मे मुख्यत आधुनिक नारीवादी विमर्श के परिप्रेक्ष्य मे एक स्त्रीतत्व के रूप मे राधा को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। राधा के साथ भारतीय सस्कृति मे दो विसगतियॉ दिखाई पडती है–

 १ राधा विवाहिता है, पत्नी है, किन्तु कही भी उसके मातृरूप की चर्चा साक्ष्यो मे नही प्राप्त होती है।

२ विवाहिता होने के बावजूद कृष्ण के साथ प्रेमिका के रूप मे राधा का अस्तित्व– यह उल्लेखनीय करता है कि राधाकृष्ण के इस आचरण को पुरातन–साहित्य मे कही भी निन्दनीय नही बताया गया है। अहल्या के समान परपुरुष गमन के दोष के बावजूद राधा को कही भी श्राप नही दिया गया और न ही किसी प्रकार के प्रायश्चित का विधान भी उसके लिए बताया गया है। नारीवादी विमर्श इस स्थिति को सकारात्मक और नकारात्मक दोनो ही दृष्टि से व्याख्यायित कर सकता है।

•

परिशिष्ट

परिशिष्ट

राधा एव नारीवादी विमर्श

आधुनिक समाजशास्त्रीय अध्ययनो मे 'नारी' से सम्बन्धित गम्भीर विमर्श प्राप्त होते है। प्राचीन भारतीय सस्कृति मे सस्कृत वाड्मय मे, वेदो के उत्तरमीमासा भाग मे, आरण्यको उपनिषदो एव ब्राह्मण ग्रथो मे, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता मे, ब्रह्म, ईश्वर, जीवात्मा, पुरुष, प्रकृति, माया विद्या, अविद्या, सृष्टि, प्रलय, जन्म–मृत्यु, मोक्ष आदि अध्यात्म–विषयो पर गहनतम चिन्तन–मनन करके 'नारी' के स्वरूप पर विद्वतजनो ने पर्याप्त प्रकाश डाला है और इसकी विशद् व्याख्या भी की है।[1] इतना ही नही विभिन्न पौराणिक साहित्य मे हमे अनेक कथानको के माध्यम से उदात्त नारी–चरित्र एव उसके अन्य रूप के दर्शन भी प्राप्त होते है। पौराणिक पुरुष एव नारी पात्र दिव्य जन्म एव कर्म से युक्त होते है तथा इसमे नारी पात्र को ब्रह्म की अनन्त शक्तियो मे से किसी एक शक्ति अथवा अनेक शक्तियो के प्रतीक रूप मे स्थान प्राप्त है, जैसे– ब्रह्मा रचना शक्ति के प्रतीक है, विष्णु पालन–पोषण शक्ति के तथा रूद्र सहार शक्ति के प्रतीक है।[2] इतना ही नही हिन्दू धर्म–कथाओ मे अर्द्धनारीश्वर की कल्पना नारी की महत्ता एव प्रधानता को द्योतित करती है।[3] इस प्रकार सचराचर तमाम सृष्टि नर–नारीमय है। ब्रह्म, जीव–जगत ही नही, वस्तु–जगत भी जिसे निर्जीव और जड माना जाता है, इस आदि द्वैत से व्याप्त है। यही द्वैत सृष्टि को सचल और सक्रिय रखता है। अत कहा जा सकता है कि नर की सृष्टि नारी के सहयोग के बिना अपूर्ण हैं। नारी अपनी सर्जन

---

१ सिह हुकुम, द्रौपदी फतेहगढ (उ०प्र०) १९८७ पृ० १

२ पूर्वोक्त

३ पाडेय उषा मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य मे नारी भावना दिल्ली १९५९, पृ० ५

प्रतिभा एव कला से उसे पूर्णता एव अमरता प्रदान करती है। साथ ही साथ सभ्यता एव सस्कृति के निर्माण मे क्रियात्मक भूमिका निभाने वाली नारी सामाजिक–व्यवस्था का एक आवश्यक अग है।[१]

यद्यपि साहित्य मे स्त्री सबधित अनेक आदर्श एव उच्च वाक्य प्राप्त होते है किन्तु व्यवहारिकता मे स्थिति बिल्कुल विपरीत दिखलाई पडती है। स्त्री पुरुष प्रधान समाज की एक कृति है जिसे वह अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए जन्म से ही अनेको नियमो एव प्रतिबन्धो के ढॉचे मे ढालता चला आ रहा है।[२] किन्तु समकालीन स्त्री चितन का विषय है– स्त्री, उसका जीवन और उस जीवन की समस्याऍ।[३] नारीवाद का मुख्यत उद्देश्य शोषण के अनुभवो की अभिव्यक्ति करना और वर्चस्ववादी लोगो द्वारा नारी के प्रति किये शोषण के विरूद्ध आवाज उठाना है।[४] इसके अतिरिक्त नारी को अपनी मुक्ति हेतु अपनायी जाने वाली विचारधारा को विकसित करके उसे मानवीय मूल्य का स्वरूप प्रदान करना है क्योकि अब तक के सारे प्रतिष्ठित विचार पुरुष केन्द्रित एव अमानवीय है।[५] अत नारीवादी चितन या स्त्री विमर्श का उदय स्त्री–अधिकारो की चेतना के इतिहास मे क्रातिकारी घटना के रूप मे जाना जा सकता है।[६]

प्रश्न यह है कि नारी विमर्श की आवश्यकता क्यो पडी? क्या नारी विमर्श मे उठने वाले सारे प्रश्नो का सबध केवल नारी से ही है? इस सबध मे यह स्पष्ट कहा

---

१ पाण्डेय उषा पूर्वोद्धृत वही पृ०

२ कुमार, राकेश नारीवादी विमर्श हरियाणा २००१ पृ० १३१

३ पूर्वोक्त पृ० १३१ खेतान, प्रभा, हस–जनचेतना का प्रगतिशील कथा–मासिक 'स्त्री विमर्श इतिहास मे अपनी जगह' राजेन्द्र यादव (स०) नई दिल्ली जनवरी–फरवरी २०००, पृ० ३६

४ फ्रीडमैन जॉने फेमिनिज्म नई दिल्ली २००२, पृ० १ कुमार राकेश पूर्वोद्धृत पृ० १३१

५ कुमार राकेश पूर्वोद्धृत, पृ० १३१

६ पूर्वोक्त

जा सकता है कि नारी विमर्श मे नारी सबधी विचारधारा के अतिरिक्त पितृसत्तात्मक समाज के दोहरे मापदडो पितृक मूल्यो, लिग–भेद की राजनीति आदि का भी अध्ययन किया जाता है।[1] नारी विमर्श की आवश्यकता तब हुई, जब जनचेतना मे मानव मूल्य का कोई अर्थ नही दिखाई पडा। विशेषकर नारी जाति के प्रति यह घोर अन्याय प्रतीत हुआ। अत जब पहली स्त्री विमर्श ने इस वास्तविकता का रहस्योद्घाटन स्थापित किया कि जिसे हम मानवीय मूल्य समझते है वह मानवीय मूल्य न होकर केवल पितृसत्तात्मक मूल्य है क्योकि उसमे सन्निहित विचारधारा पितृक अर्थात् स्त्री विरोधी है।[2] अब प्रश्न यह है कि जो मूल्य पितृक है वह मानवीय मूल्य कैसे कहे जा सकते? इसमे स्त्रियो के हितो की कोई सुरक्षा का प्राविधान नही है। अत इसे स्पष्ट रूप से नारी उत्पीडन दमन कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति मे नारीवादी विमर्श को एक ऐतिहासिक प्रक्रिया माना जा सकता है जिसने आज तक के हाशिये पर खडे समस्त स्त्री अस्मिताओ, स्त्री अनुभव को चुनौती दी।

नारीवादी विमर्श को विश्व चितन का एक अहम् पहलू माना जाता है। पश्चिम मे नारीवादी विमर्श के उद्भव के पीछे वहॉ के सामाजिक, सास्कृतिक, राजनीतिक आदोलनो (स्त्री आदोलनो) की महत्वपूर्ण भूमिका उत्तरदायी थी।[3] यहॉ पर स्त्रियो ने पितृकसत्ता के विरुद्ध निरन्तर सघर्षरत रहकर अपने को हाशिए की स्थिति से बाहर निकाला। यद्यपि भारतीय नारीवादी विमर्श पश्चिम से बिल्कुल भिन्न हैं किन्तु अतर्राष्ट्रीय आदोलनो को जाने बिना नारीवादी विमर्श के इतिहास एव विकास का ज्ञान अधूरा प्रतीत होता है।[4] नारीवादी विमर्श एव उनसे जुडी अनेक ज्वलन्त समस्याओ के प्रति जनचेतना जाग्रत करने का श्रेय फ्रास की महान लेखिका सीमोन द बुआर को दिया

---

१ फ्रीडमैन जॉने पूर्वोद्धृत पृ० १०१८ कुमार, राकेश पूर्वोद्धृत पृ० ६–१०
२ कुमार राकेश पूर्वोद्धृत पृ० ६–१०
३ पूर्वोक्त पृ० १३३
४ पूर्वोक्त वही पृ०

जाता है जिन्होने पितृसत्तात्मक समाज की न केवल आलोचना की, अपितु नारी मुक्ति के लिए नवीन मार्ग भी प्रशस्त किये।[1] इन्होने 'द सैकेड सैक्स' और 'स्त्री उपेक्षिता नामक पुस्तको के माध्यम से नारीविमर्श पर प्रकाश डाला है।[2] कालातर मे केट मिलट बैटी फरीडन, इरीगैरो, क्रिसिटिविया, गायत्री–चक्रवर्ती स्पीवॉक आदि विद्वानो ने नारी विमर्श सबधी विचारोत्तेजक प्रश्नो द्वारा न समस्त विश्व के बुद्धिजीवियो, लेखको एव कलाकारो को प्रभावित किया बल्कि विश्व की पितृसत्तात्मक सरचना को चुनौती भी दी।[3] नारीवारी विमर्श के सदर्भ मे 'सीमोन द बुआर'[4] ने अपने मत की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'सभ्यता के आदिकाल से पुरुष अपनी शारीरिक शक्ति के कारण अपनी श्रेष्ठता स्थापित करता रहा है। उसने जिन धर्मो, मूल्यो व आचरणो को सृजित किया, वे सब उसकी अपनी सुविधा के अनुसार ही थे। इस प्रकार पुरुष ने स्त्री के सर्वस्व को अपने हाथो मे रखने का दृष्टिकोण बनाया। उसने नारी के स्वार्थ मे उसकी नियति नही गढी, बल्कि अपनी परियोजनाओ और आवश्यकताओ से वह (पुरुष) स्वय नियोजित हुआ। स्पष्ट है कि पुरुष ने नारी पर अपना प्रभुत्व एव शक्ति स्थापित कर ली। उसने नारी को अपने अधीन बनाने के लिए ऐसे नियम, कानून, सिद्धात बनाये, जिसका वह अतिक्रमण न कर सके और साथ ही साथ उसने नारी की स्वतत्रता को भी छीनने का सतत् प्रयास किया है, क्योकि पुरुष नारी–स्वतत्रता को स्वय के लिए खतरा समझता था। इस प्रकार सीमोन आदि अन्य नारीवादी विमर्श को व्याख्यायित करने वाली लेखिकाओ ने पुरुषो द्वारा नारी को अपना उपनिवेश बनाने वाले अतर्विरोध को पितृक वर्चस्व के सामने न केवल एक बडे प्रश्न के रूप मे प्रस्तुत किया, अपितु नारी जाति को वहॉ हाशिए पर लाकर खडा कर दिया। इससे नारी–विमर्श का विकास हुआ

---

१ कुमार राकेश पूर्वोद्धृत पृ० १०

२ पूर्वोक्त पृ० ६५

३ पूर्वोक्त वही पृ०

४ बुआर सीमोन द, स्त्री उपेक्षिता पृ० ६५

और इसने नारी की स्थिति को यथावत उलटने मे महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। परिणामस्वरूप नारीवाद की नई भाषा, नई अभिव्यक्ति, नए अनुभव, नये परिप्रेक्ष्य से आने लगे जिसके अन्तर्गत नारी की खामोशी को एक वाणी का प्रवाह मिला।

विश्व के इतिहास मे नारीवादी परिप्रेक्ष्य एक क्रातिकारी परिवर्तन है। इसमे नारीत्व की स्थिति व चेतना को विशेष रूप से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। नारीवादी चितन ने नारी अधिकारो के प्रति तीखी आलोचनात्मक चेतना को उत्पन्न किया है, वही पितृक समाज का जबरदस्त उत्पीडन भी सामने उभर कर आया है। नारीवादी चितन पर दृष्टिपात करे तो स्पष्ट होता है कि १८वी–१९वी शताब्दी मे तत्सबधी अध्ययन शुरू हो गया था। एगेल्स ने मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होकर नारीत्ववाद सबधी गम्भीर विश्लेषणात्मक तथ्य प्रस्तुत किया है।[1] इन्होने समाजवाद के सदर्भ मे नारी की स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। कालातर मे सीमोन ने 'दि सैकेड सैक्स' मे नारीत्ववादी चितन मे मौजूद अतर्विरोधो को स्पष्ट किया है और १९६३ मे बैटी फरीडन द्वारा कृत 'फेमिनिन मिस्टीक' मे सीमोन की धारणाओ का विस्तार दिखाई देता है। इस प्रकार विश्व चितन मे नारीवादी विमर्श एक नया परिप्रेक्ष्य निर्मित करता है, जिसने नारी लेखन को न केवल नया रूप प्रदान किया वरन् नारी सबधी अनेक ऐसे जटिल सवेगात्मक प्रश्नो को भी समाज के सामने लाकर खडा कर दिया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के परिशिष्ट के रूप मे 'राधा एव नारीवादी विमर्श' देने का प्रमुख उद्देश्य उन भ्रातियो, अशुद्ध पद्धतियो एव ऐतिहासिक व्याख्याओ की ओर ध्यान आकृष्ट करना है जो नारीवादी विमर्श मे सती, सीता, पार्वती, दुर्गा, काली, द्रौपदी एव राधा आदि धार्मिक–पौराणिक नारी चरित्रो को ले कर व्याप्त हैं। चूँकि राधा–कृष्ण

---

१ कुमार राकेश पूर्वोद्धृत ६९–७०

सम्प्रदाय की सामाजिक पृष्ठभूमि की चर्चा शोध प्रबन्ध मे की गई है अत राधा की समाजशास्त्रीय व्याख्याये इतिहासकारो द्वारा जॉची परखी जानी चाहिए।

भारतीय इतिहास मे, साहित्य मे एव लोक परम्परा मे तीन प्रकार के नारी चरित्र मिलते है–

प्रथम वर्ग मे आदर्शात्मक एव शालीन, शात व्यक्तित्व से युक्त पतिव्रता स्त्रियॉ जो निर्विरोध प्रत्येक व्यवस्था स्वीकार करती है। इस वर्ग का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण नारीवादी चितक सीता अनुसूया को मानते है।

द्वितीय वर्ग मे शक्ति के प्रतीक एव उग्र स्वरूप वाले नारी चरित्र जो भौतिक एव ब्रह्माण्डकीय घटनाचक्र को आवश्यकता पडने पर चुनौती देते है। इनमे नारीवादी चितन काली एव दुर्गा को रखते है।

तीसरे वर्ग मे विद्रोही स्वर वाले ऐसे नारी चरित्र है जिनकी सकारात्मक एव नकारात्मक दोनो प्रकार की छवि है। इनमे पार्वती एव द्रौपदी जैसे नारी चरित्र रखे जाते है। इस वर्गीकरण मे राधा जैसे स्त्री चरित्र के लिए कोई स्थान नही है। वह विवाहिता है कितु पौराणिक एव लोक आख्यानो मे मातृत्व उसके हाथ नही जुडा है। वह कृष्ण के साथ जो सम्बन्ध रखती है उसे समाजशास्त्रीय स्तर पर विवाहेतर सम्बन्ध के रूप मे ही व्याख्यायित किया जा सकता है– भले ही वह आदर्शात्मक/अशारीरिक (Platonic) सम्बन्ध माना जाय या नितान्त शारीरिक जैसा कि मध्यकाल तथा उसके बाद से रास श्रृगार आदि के रूप मे राधा–कृष्ण सम्बन्धी किञ्चित् अश्लील प्रसग भी प्राप्त होते है। पुष्पा तिवारी[1] ने इस सम्बन्ध मे यह कहा है कि जब नारीवादी चितक

१ तिवारी, पुष्पा 'ट्रैडीशन एण्ड मॉडर्निटी ऐज डिटरमिनेन्ट्स ऑफ वीमेन्स रोल्स ऐण्ड स्टेटस रोमान्स ऐण्ड रियलिटी' – फेमिनिज्म ट्रैडीशन एण्ड मॉडर्निटी (स० चद्रकला पाड़िया), इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स्ड राष्ट्रपति निवास, शिमला २००२ पृ० २३४–२५४

सीता को पितृसत्तात्मक समाज के नियमो से बॅधी विनीत, असहाय, उपेक्षिता नारी के रूप मे व्याख्यायित करते है और इसे तत्कालीन भारतीय समाज मे नारी की शोचनीय दशा का सूचक मानते है तो इन नारीवादी चितको को चाहिए कि वे 'राधा जैसे स्त्री चरित्र को भारतीय समाज की उन्मुक्तता एव नारी को प्राप्त स्वतत्रता का प्रतीक माने। कितु नारीवादी विमर्शो मे इसकी उपेक्षा की गई है। तिवारी का यह भी कहना है कि ये नारी चरित्र समाज की वास्तविक दशा का यथावत् बोध कभी भी नही करा सकते क्योकि जिन कथानको मे ये आते है उनके सन्दर्भ के सापेक्षता मे इनकी सकारात्मक एव नकारात्मक दोनो प्रकार की छवि प्राप्त होती है। दूसरा तथ्य यह है कि भारतीय सस्कृति मे नारी तत्व' (Feminınity) सदैव सम्माननीय एव पुरुषो द्वारा इच्छित तत्व रहा है। भक्त (पुरुष) सखी या प्रेमिका के रूप मे ईश्वर से प्रार्थना करते है। अर्धनारीश्वर की छवि मे स्त्री एव पुरुष तत्व की युगल छवि दिखती है। कितु समाजशास्त्रीय विमर्श मे स्त्रीतत्व एव पुरुषतत्व को स्त्री और पुरुष की सामाजिक भूमिका (Role) तथा पहचान (Identıty) से अलग कर के देखने की आवश्यकता है। नारीवादी चितको द्वारा राधा से सम्बन्धित श्रृगारिक प्रसग सामान्यीकृत विवेचना मे समाज की विकृत मानसिकता के द्योतक मान लिए जाते है। गणिका, नायिका, देवदासी आदि को सदैव शोषण एव उपेक्षा के प्रतीक के रूप मे प्रदर्शित किया जाता है किन्तु समाजशास्त्रीय अध्ययनो से स्पष्ट है कि राजनर्तकी तथा गणिका को समाज मे वह सब सुविधाये[1] प्राप्त थी जो आधुनिक नारीवादी आन्दोलनो की मुख्य मॉग है। कहने का आशय यह है कि स्त्री सशक्तीकरण एव स्त्री शोषण के इतने आयाम है कि उन्हे किसी एक सकीर्ण परिभाषा मे बॉधना कठिन है। सदर्भ–सापेक्ष सशक्तीकरण/शोषण एक ही नारी चरित्र मे दिखाई देता है। सीता सदैव शोषिता नही थी। काली/दुर्गा/पार्वती

---

१ रामानुजम ए०के० (स०) व्हेन गॉड इज ए कस्टमर बर्कले १९९४ पृ० २७–२८

सदैव शक्ति के सर्वोच्च शिखर पर नही दिखते– उनके अपने बन्धन और लिग सापेक्ष (Gender-Specific) सीमाये है।

हाल ही मे 'आउटलुक' नामक आग्ल भाषा की साप्ताहिक पत्रिका का शीर्षक था 'एडल्ट्री २००३ वुमेन ऑन टॉप'।[1] सम्मुख पृष्ठ का चित्र कृष्णलीला का राधाकरण प्रतीत होता है जिसमे उन्मुक्त राधा वृक्ष पर स्नानरत गोप (पुरुष) समूह के वस्त्र ले कर बैठी अकित है (देखिये चित्र सख्या–१६)। इस चित्र मे व्यभिचार के सन्दर्भ मे राधाकरण क्यो किया गया? यह स्त्री स्वतत्रता के ब्याज से होने वाला यौन सशक्तीकरण क्यो नही है? राधातत्व की जो शालीन दिव्य एव अलौकिक छवि पौराणिक साहित्य मे है, वह कालिदास के कुमारसम्भव मे वर्णित शिव–पार्वती काम लीला से अधिक मर्यादित है। भारतीय समाज का राधा एक उलझा हुआ बिम्ब है जिसे व्याख्यायित करना कठिन है। के०एम० मुशी ने इसे 'Problem Child of India' कहा है।[2] भारतीय समाज को नारीवादी विमर्श के कटघरे मे खडा करने तथा नैतिकता के तराजू पर तौलने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि राधा को कभी भी विवाहेतर सम्बन्ध के कारण न तो श्राप दिया गया और न ही उसने प्रायश्चित करना पडा। अहल्या का प्रसग इसके विपरीत तथ्य का सूचक है। भारतीय समाज मे राधा इसके बावजूद 'देवीपद' पर प्रतिष्ठित है। क्यो? क्या इसे भारतीय समाज की अन्तर्निहित उदारता एव नारीवादी सहिष्णुता का पर्याय माना जा सकता है? राधा को चाहे भाव माने या भाव का मूर्त रूप वह कृष्ण की पूर्णता है। वह कृष्ण वियोग को पूर्ण गरिमा के साथ ग्रहण करती है। वह दिव्य गरिमा एव एकनिष्ठ आराधना का प्रतीक है। भारतीय समाज के प्रतीक समूहो मे वह कहॉ स्थित है, यह एक वृहत् ऐतिहासिक एव समाजशास्त्रीय शोध का विषय है।

---

१ आउटलुक – दि वीकली न्यूज मैग्जीन मई ५, २००३
२ मुशी के०एम० कृष्णावतार खड I पूर्वोद्धृत पृ० १०८

निष्कर्षत हम यह कह सकते है कि राधातत्व भारतीय सामाजिक एव आध्यात्मिक चेतना से सृजित एक ऐसा बिम्ब है जो प्रेम, आकर्षण, आराधना समर्पण, भक्ति श्रृगार आदि मूल मानवीय सवेगो को आध्यात्मिक धरातल तक ले जाने का माध्यम है। इसका प्रयोग/दुष्प्रयोग उसी प्रकार होता रहा है जैसे अन्य बिम्बो/प्रतीको का होता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

सदर्भ ग्रन्थ–सूची

मूलग्रन्थ

अग्निपुराण	आनन्दाश्रम प्रेस पूना, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग १६८५
अपराजितपृच्छा	(भुवनदेवकृत), (स०) पोपटभाई अबाशकर मनकड ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बडौदा, १६५०
अमरकोश	(अमरसिह कृत), प० रामस्वरूप कृत भाषा टीका सहित, श्रीवेकटेश्वर स्टीम प्रेस, बबई, सवत् १६६२
अष्टाध्यायी	(पाणिनीकृत), निर्णय सागर प्रेस १६२६
ऐतरेय ब्राह्मण	सायण व्याख्या सहित, आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज, पूना १६३०, षड्गुरुशिष्यकृत सुखप्रदावृत्ति सहित, त्रावणकोर विश्वविद्यालय सस्कृत सीरीज, त्रिवेन्द्रम
ऋग्वेद	सायण भाष्य सहित, (स०) एफ० मैक्समूलर १८६०–६२, (१–४ भाग), सस्कृति सस्थान, बरेली, द्वितीय सस्करण १६६२, वैदिक सशोधन मण्डल, पूना, १६३३–५१
कठोपनिषद्	कल्याण उपनिषदक, गीता प्रेस गोरखपुर, १६४६, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
कूर्म पुराण	बिब्लियोथिका इडिका, कलकत्ता, १८६०

गणेश पुराण	कियोशी थोरोई (अनु०)
गीतगोविन्दकाव्यम	(जयदेवकृत) (स०) रमेशचन्द्र होता इलाहाबाद प्रथम सस्करण, १६६७, राधा–विनोद भाषा टीका समेत श्रीकृष्णदासात्मज गगाविष्णो स्वकीये – लक्ष्मीवेकटेश्वर मुद्रणालये, कल्याण, मुबई, सवत् १६६८ चतुर्थावृत्ति, (स०) कपिला वात्स्यायन, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद द्वितीय सस्करण, १६८३
गाथासप्तशती	(महाकवि हालकृत), (अनु०) प० विश्वनाथ पाठक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम सस्करण, १६६५
घटजातक	(स०) ई०बी० कावेल, खड III, IV, लदन, १६७३
चरकसहिता	(चरककृत), श्रीचक्रपाणिदत्त विरचितया आयुर्वेद दीपिकाव्याख्यया सवलिता चौखम्भा, सस्कृत सस्थान, वाराणसी १६४१
छान्दोग्योपनिषद्	आनन्दाश्रम सीरीज, ग्रन्थाक १४, पूना, १६१३, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
तैत्तिरीयोपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर
देवीभागवत पुराण	(स०) वेदमूर्ति तपोनिष्ठ प० श्रीरामजी शर्मा आचार्य सस्कृति सस्थान, बरेली, १६७४, नाग प्रकाशक नई दिल्ली, १६८६, श्रीमद्देवीभागवतम् भाषा टीका सहितम् टीकाकार पाण्डेय रामतेजशास्त्री, चौखम्बा सस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रित, १६८६

दशावतारचरितम् — (क्षेमेन्द्र प्रणीत), (स०) प० दुर्गाप्रसाद एण्ड काशीनाथ पाण्डुरग, मुशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा० लि० नई दिल्ली, पुनर्मुद्रित १९८३

दशश्लोकी — (निम्बार्काचार्यकृत), चौखम्भा सस्कृत सीरीज, न० ३५८ १९२७

ध्वन्यालोक — (आनन्दवर्द्धनकृत), आचार्य लोकमणि दाहाल, लीला सस्कृत हिन्दी व्याख्या द्वयोपेत, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी–दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९९१

पचतन्त्रम — (श्रीविष्णुशर्मा कृत), पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र विरचितनीतिसर्वस्वनामभाषा टीका सहितम् खेमराज– श्रीकृष्णदास, श्रीवेकटेश्वर स्टीम प्रेस, मुबई, तृतीय सस्करण, सवत् १९७६

पद्मपुराण — खेमराज श्रीकृष्णदासेन सम्पादितस्य मुम्बई श्री वेकटेश्वर स्टीम मुद्रणालयेन प्रकाशितस्य, पुनर्मुद्रणम् नाग पब्लिशर्स दिल्ली, १९८४, (स०), प० श्रीरामशर्मा आचार्य, सस्कृति सस्थान, बरेली (उ०प्र०) प्रथम सस्करण, १९६६

ब्रह्मपुराण — गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बडोदा, १९४१

ब्रह्मवैवर्तपुराण — (अनु० एव स०) तारिणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्रथम सस्करण, १९८४

बिहारी सतसई — (बिहारी कृत) (स०), लालचद्रिका टीका सहित सुधाकर पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम सस्करण स० २०३४

मेघदूत	(कालिदासकृत), (अनु०) श्यामलाकान्त वर्मा, पुस्तक सदन ज्ञानवापी, वाराणसी, प्रथम सस्करण, १६६७, (स०) कोमल कोठारी, (अनु०) श्रीनारायण सिह भाटी, प्रेरणा प्रकाशन, जोधपुर, प्रथम सस्करण, १६५३
मत्स्यपुराण	गुरुमण्डल सीरीज, कलकत्ता, १६५४, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय सस्करण, १६८६
मनुस्मृति	कुल्लूक भट्ट की टीका सहित, बम्बई १६४६, मेधातिथि की टीका के साथ, कलकत्ता, १६३२, (स०) चमनलाल गौतम, सस्कृति सस्थान, बरेली, १६८६
महाभारत	नीलकठ की टीका सहित, पूना, १६२६–३३, गीताप्रेस गोरखपुर
महाभाष्य	(पतजलिकृत), (स०) एफ० कीलहार्न, बम्बई
श्रीमद्भागवतपुराण	प्रथम एव द्वितीय खण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर
श्रीमद्भागवद्गीता	भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट, मुम्बई
राधा–माधव चिन्तन	गीताप्रेस, गोरखपुर, स० २०४५
रूपमण्डन	(सूत्रधारमण्डन कृत), (स०) बलराम श्रीवास्तव, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, स० २०२१
विक्रमाकदेवचरित	प्रथम भाग, (स०) विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज, सस्कृत साहित्य रिसर्च कमेटी बनारस, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, १६५८
वामनपुराण	वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई

वायुपुराण — पूना, १६०५

वराहपुराण — (स०), चमनलाल गौतम, सस्कृति सस्थान, बरेली प्रथम सस्करण, १६७४, वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई

विष्णुपुराण — गीता प्रेस गोरखपुर, प० रामशर्मा सस्कृति सस्थान बरेली, १६७१

विष्णुधर्मोत्तरपुराण — (स०) प्रियाबालाशाह, भाग २, तृतीय खड, भाग ३ प्रथम खड, ओरियन्टल सीरीज, बडौदा, १६६१

विष्णुस्मृति — बरेली, १६६६

वृहदारण्यकोपनिषद् — गीता प्रेस, गोरखपुर, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

शुक्रनीतिसार — वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १६५६, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, बनारस, १६२६

शतपथ ब्राह्मण — अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, वाराणसी

शिल्परत्न — श्रीकुमार त्रिवेन्द्रम, सस्कृत सीरीज, १६२२

स्कन्दपुराण — (स०) श्री रामशर्मा आचार्य, सस्कृति सस्थान, बरेली १६७१

हरिवशपुराण — (स०), पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, द्वितीय सस्करण, नई दिल्ली, १६७८, नाग प्रकाशक, दिल्ली, १६८५

•

सहायक ग्रथ

अग्रवाल उर्मिला	स्कल्पचर्स एण्ड देयर सिग्नीफिकेन्स, नई दिल्ली, १९८०
अग्रवाल, वासुदेवशरण	भारतीय कला, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय सस्करण, १९७७
	पोद्दार अभिनदन ग्रथ, अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मडल, मथुरा, सवत् २०१०
अग्रवाल, श्यामबिहारी	भारतीय चित्रकला का इतिहास भाग–२ (मध्यकालीन), रूपशिल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, १९९९
आर्चर, डब्ल्यू० जी०	कागडा पेन्टिग्स, लदन, १९५२
	द लव्स ऑव कृष्ण इन इडियन पेन्टिग एण्ड पोयट्री लदन, १९५७
आचार्य, प्रसन्न कुमार (अनु०)	आर्किटेक्चर ऑव मानसार, खड IV, ओरियन्टल बुक्स रिप्रिट कारपोरेशन, नई दिल्ली, द्वितीय सस्करण, १९८०
आनन्द, डी०	कृष्ण–द लिविग गॉड ऑव ब्रज, अभिनव पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९९२
आयगर, पी० टी० श्रीनिवासन	हिस्ट्री ऑव द तमिलस् (फ्राम द अर्लीयस्ट टाइम्स टू सिक्स हन्ड्रेड), एशियन एजूकेशनल सर्विसेज, नई दिल्ली, तृतीय सस्करण, १९८९

अवस्थी, ए०बी० लाल — स्टडीज इन स्कन्द पुराण भाग IV, ब्राह्मणिकल आर्ट एण्ड आइकनोग्राफी कैलाश प्रकाशन, लखनऊ, १६७६

उपाध्याय वासुदेव — प्राचीन भारतीय मूर्ति–विज्ञान, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, द्वितीय सस्करण १६८२

उपाध्याय, बलदेव — भारतीय वाड्मय मे श्रीराधा, बिहार राष्ट्र परिषद, पटना १६६३ ई०

सस्कृत–वाड्मय का वृहत् इतिहास (चतुर्थ खड), लखनऊ १६६७

ओझा, महामहोपाध्याय गौरीशकर हीराचद — मध्यकालीन भारतीय सस्कृति (६००–१२०० ई०), हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १६५१

ओझा फणीन्द्रनाथ — मध्यकालीन भारतीय समाज और सस्कृति मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम सस्करण १६८८

ओझा, अजु — महाभारत के शैवधर्म, जोधपुर, २०००

ओम प्रकाश — प्राचीन भारत का सामाजिक एव आर्थिक इतिहास, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली, चतुर्थ सशोधित सस्करण, १६६७

किग्सले, डेविड आर० — द डिवाइन प्लेयर– ए स्टडी ऑव कृष्णलीला, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम सस्करण, १६७६

कुमारस्वामी ए०के० — राजपूत पेन्टिग, २ खड, आक्सफोर्ड, १६१६

कुमारी, किरण — वैदिक साहित्य और सस्कृति (प्रथम भाग), न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण, २००१

कालिया, आशा	आर्ट ऑव ओसिया टेम्पुल्स– सोशियो इकोनॉमिक `एण्ड रेलीजस लाइफ इन इडिया अभिनव पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९८२
कोसबी दामोदर धर्मानद	प्राचीन भारत की सस्कृति और सभ्यता राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, तृतीय सस्करण, १९९०
कृष्णा नदिता	द आर्ट एण्ड आइकनोग्राफी ऑव विष्णु–नारायण बम्बई प्रथम सस्करण १९८०
काणे पाण्डुरग वामन	धर्मशास्त्र का इतिहास (तृतीय, चतुर्थ भाग), उत्तर प्रदेश शासन, राजर्षि पुरूषोत्तमदास टडन, हिन्दी भवन, लखनऊ द्वितीय सस्करण, १९७५
कुमार राकेश	नारीवादी विमर्श, आधार प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड पचकूला, हरियाणा, प्रथम सस्करण, २००१
खण्डेवाल जयकिशन प्रसाद	हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियॉ, विनोद पुस्तक मदिर आगरा, नवीन सस्करण
खन्ना वन्दना	ए स्टडी ऑव द रिप्रजेन्टेशन ऑव कृष्ण थीम इन दि विजुवल आर्ट्स ऑव राजस्थान, जयपुर, प्रथम सस्करण, १९९६
गुप्ता, शक्ति एम०	विष्णु एण्ड हिज इनकार्नेशन्स, सौम्या पब्लिकेशन्स, बबई द्वितीय सस्करण, १९९३
गुप्ता, आशा	मध्ययुगीन सगुण एव निर्गुण हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम सस्करण, १९७०

गुप्ता सुमन्त — गुप्तवशीय अभिलेखो का धार्मिक अध्ययन अजय बुक सर्विस, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९८१

गुप्त (स०) शिवकुमार — उत्तरी भारत का इतिहास (६५०—१२०० ई०) पचशील प्रकाशन जयपुर, प्रथम सस्करण १९९९

गुप्त परमेश्वरी लाल — भारतीय वास्तुकला, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी १९८९

गोपाल, लल्लन — दि इकोनोमिक लाइफ ऑव नार्दर्न इडिया, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली, द्वितीय सस्करण, १९८९

गोयल, एस०आर० — ए रेलीजस हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इडिया, कुसुमाजलि प्रकाशन, मेरठ, १९८६

इडियन आर्ट ऑव द गुप्त एज (फ्राम प्री—क्लासिकल रूट्स टू द इमरजेन्स ऑव मैडिवल ट्रेड्स), कुसुमाजलि बुक वर्ल्ड, जोधपुर, प्रथम सस्करण, २०००

गैरोला, वाचस्पति — भारतीय चित्रकला, इलाहाबाद, १९६३

भारतीय चित्रकला का सक्षिप्त इतिहास, इलाहाबाद, १९८५

गोस्वामी, ए०, (स०) — दि आर्ट ऑव द पल्लवाज, रूपा एण्ड कम्पनी, कलकत्ता—इलाहाबाद—बम्बई, प्रिन्टेड इन इडिया, १९५७

गोस्वामी, आशा — कृष्ण—कथा एण्ड एलाइड मैटर्स, बी० आर० पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९८४

चक्रवर्ती कुणाल — रेलीजस प्रोसेस–द पुराणाज् एण्ड द मेकिग ऑव ए रीजनल ट्रेडीशन ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस नई दिल्ली २००१

चटर्जी, ए० एन० — श्रीकृष्ण चैतन्य– ए हिस्टोरिकल स्टडी ऑन गौडीय वैष्णविज्म, एस० के० दत्ता, एसोशियेट पब्लिशिग कम्पनी नई दिल्ली, १९८३

चतुर्वेदी, परशुराम — मध्यकालीन प्रेमसाधना, राजेन्द्र दत्त बाजपेयी हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण, १९५२

वैष्णव धर्म, विवेक प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण १९५३

चतुर्वेदी, गोपाल मधुकर — भारतीय चित्रकला, साहित्य सगम, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण, १९८६

चतुर्वेदी, श्री पुरूषोत्तम शर्मा — भारतीय व्रतोत्सव, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५७

चौधरी, गुलाबचन्द्र — पोलिटिकल ऑव नार्दर्न इडिया फ्राम जैन सोरशेज (६५०–१३०० ई०), सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, १९६३

चद्र, प्रमोद — स्टोन स्कल्पचर इन द इलाहाबाद म्यूजियम (ए डिसक्रिप्टिव कैटेलॉग) अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑव इडियन स्टडीज, दक्कन कालेज, पूना, पब्लिकेशन न० २, १९७०

चम्पकलक्ष्मी, आर० — वैष्णव आइकनोग्राफी इन द तमिल कन्ट्री, ओरियन्टल लागमैन लिमिटेड, नई दिल्ली, १९८१

चौहान सुरेन्द्र सिह	राजस्थानी चित्रकला, राहुल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली, १९९४
जायसवाल, सुवीरा	वैष्णव धर्म का उद्भव एव विकास, ग्रथ शिल्पी, नई दिल्ली, द्वितीय सस्करण, १९९६
झा, डी०एन० (स०)	दि फ्यूडल आर्डर स्टेट, सोसाइटी एण्ड आइडियोलॉजी इन अर्ली मैडिवल इडिया, मनोहर पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, २०००
झा, द्विजेन्द्र नारायण एव श्रीमाली कृष्णमोहन (स०)	प्राचीन भारत का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, द्वितीय सस्करण, १९८४
ठाकुर, पुरूषोत्तम	सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ ऑव नार्दर्न इडिया क्लासिकल पब्लिशिग कम्पनी, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९९५
ठाकुर, विजय कुमार	ट्रेड इन ए फ्यूडल काम्पलेक्स द केस ऑव अर्ली मैडिवल बगाल (१८वी सेशन, २४–२६ जनवरी, २००२, सेण्ट पॉल कालेज, कलकत्ता)
तिवारी, श्रीधर	मध्य प्रदेश मे शैव धर्म का विकास (प्रारम्भिक काल से ई० १२०० तक) क्लासिकल पब्लिशिग कम्पनी, नई दिल्ली प्रथम सस्करण, १९८८
तिवारी, मारूतिनदन, एव गिरि, कमल	मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सस्करण, १९९७

	मध्यकालीन भारतीय मूर्तिकला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सस्करण, १६६१
तिवारी, दुर्गानन्दन	ओसियॉ के मदिरो की देवमूर्तियॉ, कला प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सस्करण, १६६६
तिवारी, पुष्पा,	"ट्रैडीशन एण्ड मॉडर्निटी ऐज डिटरमिनेन्ट्स ऑव वीमेन्स रोल्स ऐण्ड स्टेटस रोमान्स ऐण्ड रियलिटी" (स० चद्रकला पाडिया), इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑव एडवान्स्ड स्टडी, राष्ट्रपति निवास, शिमला, २००२
थापर, रोमिला (स०)	रिसेन्ट पर्सपेक्टिव्स ऑव अर्ली इडियन हिस्ट्री, पापुलर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम सस्करण, १६६५
दुबे, लालमणि	अपराजितपृच्छा ए क्रिटिकल स्टडी, लक्ष्मी पब्लिकेशन्स इलाहाबाद, प्रथम सस्करण, १६८७
दुबे, एच० एन०	भारतीय सस्कृति एव कला, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण, १६६६
देव, कपिल	थ्योरी ऑव इनकार्नेशन इन मैडिवल इडियन लिटरेचर एन इण्टरप्रटेशन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम सस्करण, १६६३
देव, कृष्ण	टेम्पुल्स ऑव खजुराहो खड I, द डायरेक्टर जनरल आर्किलॉजिकल सर्वे ऑफ इडिया, जनपथ, नई दिल्ली, १६६०
द्विवेदी, प्रेमशकर	गीतगोविन्द–साहित्यिक एव कलागत अनुशीलन खड I, कला प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सस्करण, १६८८

द्विवेदी कृष्णवल्लभ	हिन्दू धर्म का गौरव ग्रथ, प्रकाशनालय, लखनऊ, २००२
द्विवेदी, हजारी प्रसाद	मध्यकालीन धर्म साधना साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड इलाहाबाद, द्वितीय सस्करण, १६५६
	सूर–साहित्य, हिन्दी ग्रथ रत्नाकर लिमिटेड, बबई सशोधित सस्करण, १६५६
दासगुप्त, शशिभूषण	राधा का क्रम विकास–दर्शन और साहित्य मे, ओमप्रकाश बेरी हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, वाराणसी, प्रथम सस्करण, १६५६
	आब्सक्योर रेलीजस कल्ट्स, कलकत्ता, द्वितीय सस्करण १६६२
दासगुप्ता, चारूचद्र	पहाडपुर एण्ड इट्ज मॉन्यूमेन्ट्स, कलकत्ता, प्रथम सस्करण, १६६१
देसाई, कल्पना एस०	आइकनोग्राफी ऑव विष्णु, अभिनव पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १६७३
देसाई देवागना	दि रेलीजस इमेजरी ऑव खजुराहो, प्रोजेक्ट फॉर इडियन कल्चरल स्टडीज, पब्लिकेशन्स, IV, मुम्बई, १६६६
दास, आर० के०	टेम्पुल्स ऑव वृन्दावन, सदीप प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण, १६६०
दास, रायकृष्ण	भारत की चित्रकला, भारती भडार, प्रयाग, द्वितीय सस्करण, २००७ वि०
नदी, रमेन्द्रनाथ	प्राचीन भारत मे धर्म के सामाजिक आधार, ग्रथ शिल्पी, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १६६८

नाम्बियर के० दामोदरम् — नारद पुराण—ए क्रिटिकल स्टडी, ऑल इडिया काशीराज ट्रस्ट फोर्ट वाराणसी, १९७६

नायक जी०सी — 'ऋत, धर्म एण्ड सनातन धर्म इन इडियन कल्चर—ए क्रिटिकल एप्रैसल' नेशनल सेमिनार ऑन हिस्ट्रोरियोग्राफी ऑव इडियन कल्चर (६—११ अक्टूबर, २००२) इडियन इन्स्टीट्यूट ऑव एडवान्स स्टडी, राष्ट्रपति निवास, शिमला

नीरज, जयसिह — राजस्थानी चित्रकला, राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी, जयपुर, प्रथम सस्करण, १९९४

पगारे, शरद — पूर्वमध्ययुगीन धार्मिक आस्थाएँ – एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण नेशनल पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण १९८७

पाठक विशुद्धानन्द — उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, उत्तर प्रदेश शासन, राजर्षि पुरूषोत्तमदास टण्डन, हिन्दी भवन, लखनऊ प्रथम सस्करण, १९७३

पाडे गोविन्द चन्द्र — वैदिक सस्कृति, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम सस्करण, २००१

पाडे, सुस्मिता — बर्थ ऑव भक्ति इन इडियन रिलीजन्स एण्ड आर्ट, बुक्स एण्ड बुक्स, जनकपुरी, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९८२

मैडिवल भक्ति मूवमेन्ट (इट्ज हिस्ट्री एण्ड फिलोसॉफी), कुसुमाजलि प्रकाशन, मेरठ

पाडे अवध बिहारी — पूर्वमध्यकालीन भारत का इतिहास, गौतम ब्रदर्स, कानपुर, प्रथम सस्करण १६५४

पाडे रामनिहोर — प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, प्रामानिक पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद द्वितीय सस्करण १६८६

दक्षिण भारत का इतिहास (६०० ई०–१२०० ई) प्रामानिक पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, १६८८

पाडे, सगमलाल — विश्व के धर्म, भारत सरकार, नई दिल्ली, १६८८

पाडे, उषा — मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य मे नारी भावना, दिल्ली, १६५६

पाडे, वीणापाणि — हरिवशपुराण का सास्कृतिक विवेचन, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, प्रथम सस्करण, १६६०

पाण्डेय, विमलचन्द्र — प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सास्कृतिक इतिहास (भाग–२), सेन्ट्रल पब्लिशिग हाउस, इलाहाबाद, द्वितीय सस्करण, १६८४

पाण्डेय, जे०एन० — भारतीय कला एव पुरातत्व, प्रामानिक पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, द्वितीय आवृत्ति, १६६१

परिमो, रतन — वैष्णविज्म इन इडियन आर्टस् एण्ड कल्वर, बुक्स एण्ड बुक्स, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १६८७

फ्लीट, जे० एफ० — कार्पस इस्क्रिप्शनम इडिकेरम, खड III, न० १३, वाराणसी १६७०

फर्कुहर, जे० एन० — एन आउटलाइन ऑव द रिलीजस लिटरेचर ऑव इडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लदन, १६२०

फ्रीडमैन, जॉने — फेमिनिज्म, वीवा बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण २००२

बनर्जी, एस० सी० — तत्र इन बगाल (ए स्टडी इन इट्ज ओरिजन, डेवलपमेन्ट एण्ड इन्फ्लूऐन्स), नया प्रकाश, कलकत्ता प्रथम सस्करण १९७७

बनर्जी, पी० — द लाइफ ऑव कृष्ण इन इडियन आर्ट, नेशनल म्यूजियम, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९७८

दि ब्लू गॉड, ललितकला अकादमी नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९८१

बनर्जी जे० एन० — रिलीजस इन आर्ट एण्ड आर्कियोलॉजी (वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म), यूनिवर्सिटी ऑव लखनऊ, लखनऊ प्रथम सस्करण, १९६८

डेवलपमेन्ट ऑव हिन्दू आइकनोग्राफी, कलकत्ता, द्वितीय सस्करण, १९५६

पुराणिक एण्ड तान्त्रिक रिलीजन, कलकत्ता, १९६६

बालासुब्रह्मण्यम्, एस० आर० — अर्ली चोल आर्ट, भाग I, एशियन पब्लिशिग हाउस, बाम्बे १९६६

मैकडॉनल, ए०ए० (अनु० चारूचद्र शास्त्री) — ए हिस्ट्री ऑव सस्कृत लिटरेचर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम सस्करण, सवत् २०१६

भट्टाचार्य, सुनील कुमार — कृष्ण–कल्ट, एसोशियेट पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली, १९७८

मजूमदार, बी०बी० कृष्ण इन हिस्ट्री एण्ड लीजेड, कलकत्ता युनिवर्सिटी, कलकत्ता १९६९

मजूमदार, बी०पी० सोशियो–इकॉनामिक हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इण्डिया कलकत्ता, १९६०

मजूमदार, आर सी (स) दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑव दि इडियन पीपुल दि ऐज ऑव इम्पीरियल कन्नौज, भारतीय विद्या भवन, बम्बई प्रथम सस्करण, १९५५

मिल्टन, सिगर (स०) कृष्ण मीथस् राइट्स एण्ड एट्टीट्यूट होनोलूलू–ईस्ट–वेस्ट सेन्टर प्रेस, १९६६

मीतल, प्रभुदयाल ब्रज की कलाओ का इतिहास, साहित्य सस्थान, मथुरा, १९७५

माथुर, विजय कुमार मारवेल्स ऑव किशनगढ पेन्टिग्स, भारतीय कला प्रकाशन दिल्ली प्रथम सस्करण, २०००

मालवीय, बद्रीनाथ श्रीविष्णुधर्मोत्तर मे मूर्तिकला, इडियन प्रेस (पब्लिकेशन्स), प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, सवत् २०१७

मुशी, कन्हैयालाल माणिकलाल गुजरात इट्ज लिटरेचर, लागमैन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, बम्बई, १९३५

कृष्णावतार खड I, भारतीय विद्याभवन बम्बई, तृतीय सस्करण, १९७२

मिश्र, विन्ध्येश्वरी प्रसाद श्रीमद्भागवत मे कृष्णकथा, दिल्ली, प्रथम सस्करण, २०००

मिश्र, इदुमती	प्रतिमा विज्ञान, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल द्वितीय सस्करण, १६८७
मिश्र, हृदय नारायण	धर्मदर्शन परिचय, शेखर प्रकाशन इलाहाबाद, एकादश सस्करण, १६६७
मिश्र, जयशकर	प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, पचम सस्करण, १६६२
मिश्रा, के० सी०	दि कल्ट ऑव जगन्नाथ, कलकत्ता, प्रथम सस्करण, १६७१
मिश्रा, टी० एन०	इम्पैक्ट ऑव तन्त्र ऑन रिलीजन् एण्ड आर्ट, डी० के० प्रिन्टवर्ल्ड प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली प्रथम सस्करण, १६६७
मोहम्मद, मलिक	वैष्णव भक्ति आदोलन का अध्ययन, राजपाल एण्ड सन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली, प्रथम सस्करण, १६७१
यादव, बी०एन०एस०	सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इडिया इन दि टवेल्फ्थ सेन्चुअरी, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद प्रथम सस्करण १६७३
रे एच० सी०	दि डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इडिया (अर्ली मैडिवल पीरियड), खड II, मनोहर पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली द्वितीय सस्करण, १६७३
रे, निहाररजन	'दि मेडिवल फैक्टर इन इडियन हिस्ट्री' अध्यक्षीय अभिभाषण, प्रोसीडिग्स ऑव दि इडियन हिस्ट्री काग्रेस, २६वॉ सत्र, पटियाला, १६६८

राधेशरण	भारत की सामाजिक एव आर्थिक सरचना और सस्कृति के मूल तत्व मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रथ अकादमी, भोपाल प्रथम सस्करण, १६६०
रन्धावा, एम०एस०	कागडा पेन्टिग्स ऑन लव, नेशनल म्यूजियम नई दिल्ली प्रथम सस्करण १६६२
	कागडा वैली पेन्टिग्स, डायरेक्टर पब्लिकेशन्स डिवीजन मिनिस्टर ऑव इनफॉरमेशन एण्ड ब्राइकास्टिग गवर्नमेन्ट ऑव इडिया, दिल्ली, प्रथम सस्करण, १६५४
रधावा, एम० एस० एण्ड गैलब्रेथ, जॉन कीथ	इडियन पेन्टिग– द सीन, थीम एण्ड लीजेण्ड, प्रिन्टेड इन इडिया, १६६८
रायचौधरी, एच० सी०	दि अर्ली हिस्ट्री ऑव दि वैष्णव सेक्ट, कलकत्ता १६२०
राय, एस० एन०	हिस्टोरिकल एण्ड कल्चरल स्टडीज इन दि पुराणाज, पौराणिक पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, १६७८
राव एस० आर०	दि लास्ट सिटी ऑव द्वारका, आदित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १६६६
राव, टी० ए० गोपीनाथ	एलीमेन्ट्स ऑव हिन्दू आइकनोग्राफी, खड I, भाग I एव II, खड II, भाग I एव II, मद्रास, १६१४–१५
लोढा, कल्याणमल (स०)	भारतीय साहित्य मे राधा, नेशनल पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १६८८
	भक्तितत्व दर्शन साहित्य–कला, भारतीय भाषा परिषद् कलकत्ता, प्रथम सस्करण, १६६५

लूणिया बी० एन०	भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति का विकास, आगरा पन्द्रहवॉ सशोधित सस्करण, १९९५
वाजपेयी कृष्णदत्त	भारत के सास्कृतिक केन्द्र – मथुरा, दि मैकमिलन कम्पनी ऑव इडिया लिमिटेड दिल्ली प्रथम सस्करण
	ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख, पब्लिकेशन स्कीम जयपुर १९९२
वाजपेयी कृष्णदत्त एव वाजपेयी, सतोष कुमार	भारतीय कला, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, द्वितीय सस्करण, १९९४
वाटर्स, टी०	ऑन युवान च्वागस् ट्रैवल्स इन इडिया, जिल्द २, लदन, १९०४–०५
वैद्य के० एल०	पहाडी चित्रकला नेशनल पब्लिशिग हाउस दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९९९
वैद्य सी० बी०	हिस्ट्री ऑव हिन्दू मैडिवल इडिया, ३ खडो मे ओरियन्टल बुक सप्लाइग एजेन्सी, पूना, १९२१–२६
वर्मा, हरिश्चन्द्र (स०)	मध्यकालीन भारत (७५०–१५४० ई०), हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, द्वितीय सस्करण, १९८५
वर्मा, अविनाश बहादुर	भारतीय चित्रकला का इतिहास, बरेली, १९७७
वर्मा, वेद प्रकाश	धर्म दर्शन की मूल समस्याऍ, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम सस्करण, १९९१
वरदाचार्य, वी०	सस्कृत–साहित्य का इतिहास, रामनारायण लाल इलाहाबाद

विशप डोनाल्ड एच (स) — इडियन थॉट्स एन इन्ट्रोडक्शन, बिली ईस्टर्न प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली १६७५

शर्मा रामशरण — पूर्वमध्यकालीन भारत का सामती समाज और सस्कृति राजकमल प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण १६६६

भारतीय सामतवाद, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १६६३

पूर्वमध्यकालीन भारत मे सामाजिक परिवर्तन (लगभग ५००—१२०० ई०), मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम सस्करण, १६७५

पर्सपेक्टिव्स् इन सोशल एण्ड इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑव अर्ली इडिया, मुशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १६८३

प्रारभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, द्वितीय सस्करण, १६६३

अर्बन डिके इन इडिया (३००—१००० ई०), मुशीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १६८७

'प्राब्लम ऑव ट्राजिशन फ्राम एन्शियन्ट टु मेडिवल इन इडियन हिस्ट्री' दि इडियन हिस्टोरिकल रिव्यू, जिल्द १ अक १ (मार्च, १६७४)

शर्मा रामकिशोर हिन्दी साहित्य का इतिहास, विद्या प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय सस्करण, १९८६

शर्मा सीता कृष्ण–लीला थीम इन राजस्थानी मिनेचर्स, प्रगति प्रकाशन, मेरठ

शास्त्री नीलकठ दक्षिण भारत का इतिहास बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी नवीन सस्करण, २००२

शास्त्री देवेन्द्रमुनि भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण एक अनुशीलन श्रीतारक गुरुजैन ग्रन्थालय, पदराडा, राजस्थान, प्रथम सस्करण, १९७१

शास्त्री माधवाचार्य राधा और कृष्ण, माधव पुस्तकालय, धर्मधाम, कमलानगर, देहली।

श्रीनिवासन्, डोरिस मेथ (स) मथुरा – दि कल्चरल हेरिटेज, मनोहर पब्लिकेशन्स नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९८९

श्रीवास्तव कमल एस० हिन्दू सिम्बोलिज्म एण्ड आइकनोग्राफी – ए स्टडी, सगीता प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सस्करण, १९८८

श्रीवास्तव, बृजभूषण प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एव मूर्तिकला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय सस्करण, १९९०

श्रीवास्तव मीरा मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण–भक्तिधारा और चैतन्य सम्प्रदाय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण, १९६८

श्रीशरण भारतीय व्रत एव त्योहार कोश, प्रेम प्रकाशन मदिर, दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९८६

स्नातक, विजयेन्द्र — राधावल्लभ सम्प्रदाय–सिद्धात एव साहित्य, नेशनल पब्लिशिग हाउस नई दिल्ली, प्रथम सस्करण स २०१४ वि

स्पेन्सर, आनन्द — अण्डरस्टैडिग रेलीजन थ्योरीज एण्ड मेथॉडलॉजी पटियाला, नई दिल्ली, १९९६

सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद — भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, चतुर्थ सस्करण, १९८३

सरकार, डी० सी० — सेलेक्ट इन्स्क्रपशन्स बियरिंग ऑन इडियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, खड I, बी० के० पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली, १९९१

सिह, देवी प्रसाद — हिन्दू समाज मे परिवर्तन की प्रक्रिया, पूर्वा सस्थान विश्वविद्यालय परिसर, गोरखपुर, प्रथम सस्करण, १९८४

सिह श्रीभगवान — गुप्तकालीन हिन्दू देव–प्रतिमाएँ (प्रथम खड), रामानद विद्या भवन, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९८२

सिह, जे० पी० — सामाजिक परिवर्तन स्वरूप एव सिद्धान्त, प्रेटिस हाल ऑफ इडिया, प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, १९९६

हाजरा, आर० सी० — स्टडीज इन दि पौराणिक रिकार्डस् ऑन हिन्दू राइटस एण्ड कस्टम्स, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रण १९८७, कलकत्ता, १९४०

'दि गणेश पुराण', जर्नल ऑव दि जी० एन० झा, सस्कृत विद्यापीठ खण्ड १, नवम्बर, १९५१

हाडा, देवेन्द्र	ओसियाँ हिस्ट्री आर्कियोलॉजी आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर सदीप प्रकाशन, दिल्ली १६८४
हावले, एस० जॉन एण्ड डोना एम० वुल्फ	देवी—गॉड्स ऑव इडिया, मोतीलाल बनारसीदास प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली, प्रथम भारतीय सस्करण १६६८

●

शोध पत्रिकाए / अन्य पत्रिकाए / समाचार पत्र

विश्वकोष / शब्दकोष

– जर्नल ऑव दि बॉम्बे ब्राच ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी

– जर्नल ऑव इण्डियन सोसाइटी ऑव ओरियन्टल आर्ट, खण्ड X

– जर्नल ऑव दि न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी ऑव इडिया

– जर्नल ऑव दि आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी

– जर्नल ऑव इण्डियन हिस्ट्री

– जर्नल ऑव दि गगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद

– जर्नल ऑव बिहार रिसर्च सोसाइटी

– आर्किलाजिकल सर्वे ऑव इडिया, एनुअल रिपोर्ट

– एनल्स ऑव दि भडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट

– एपिग्रेफिया इडिका

– इण्डियन एन्टिक्वैरी

– प्रोसीडिग्स ऑव इण्डियन हिस्ट्री काग्रेस

– ललित कला न० ७, १६६०

– सग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, उ०प्र०, लखनऊ

– सस्कृति सगम, उत्तर मध्यक्षेत्र सास्कृतिक केन्द्र इलाहाबाद

– हस– जनचेतना का प्रगतिशील कथा–मासिक, जनवरी–फरवरी, २०००

– आउटलुक – दि वीकली न्यूज मैग्जीन २००३

– 'आज साप्ताहिक विशेषाक – २६ अगस्त, १६७१

– 'अमृत प्रभात, इलाहाबाद, शनिवार, ४ सितम्बर, १६६६

– इनसाइकलोपीडिया ऑव हिन्दू गॉड्स एण्ड गॉडेस, १६६८

– इनसाइकलोपीडिया ऑव रिलीजन

– इनसाइकलोपीडिया ऑव तमिल लिटरेचर, १६६०

– इनसाइकलोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स

– इण्टरनेशनल इनसाइकलोपीडिया ऑव सोशल साइन्सेज

– सस्कृत–हिन्दी कोश (स०) आप्टे, वामन शिवराम, दिल्ली, १६६६

– वृहत अग्रेजी–हिन्दी कोश, वाराणसी, १६६६

– न्यू बेबर्स डिक्शनरी ऑव दि इगलिश लैगवेज, १६८५

– कोलिन्स इगलिश डिक्शनरी, लदन, ग्लासगो

चित्रसंख्या सूची

चित्र सख्या सूची

क्रम–सख्या	विवरण
१	धार शासक वाक्पति मुज का ताम्रपत्र अभिलेख विक्रम सवत् १०३१ (६७४ ई०)
२	धार शासक वाक्पति मुज का गनोरी ताम्रपत्र अभिलेख, विक्रम सवत १०३८
३	धार शासक वाक्पति मुज का गनोरी ताम्रपत्र अभिलेख विक्रम सवत् १०४३
४	वृष्णिवशीय देवी–देवता (सकर्षण, एकानशा वासुदेव–कृष्ण) मथुरा सग्रहालय मे सग्रहीत सख्या ६७ ५२६ (कुषाणकालीन) लगभग प्रथम शती ई०
५	बालक कृष्ण को लेकर यमुना पार करते वसुदेव सबधित शिल्पखड मथुरा सग्रहालय मे सग्रहीत सख्या १७ १३४४ (कुषाणकालीन) लगभग प्रथम शती ई०के आस–पास
६	कालिय–दमन (पैनल सख्या २) खजुराहो के लक्ष्मण–मदिर के पश्चिमी सतह पर उत्कीर्ण ६५३–६५४ ई०
७	गोवर्द्धनधारी कृष्ण कडा इलाहाबाद इलाहाबाद सग्रहालय मे सग्रहीत सख्या २५६ लगभग छठी शती ई०
८	ओसियॉ स्थित सचियामाता मदिर के समीप स्थित छोटे देवमदिर के बने वितान मे एक वेणुवादक युगल (राधाकृष्ण) का दृश्य, लगभग ८वी शती ई०
९	प्रस्तर शिल्प मे उत्कीर्ण राधा–कृष्ण (पहाडपुर के प्रमुख मदिर की दक्षिणी–पूर्वी दीवार से प्राप्त) लगभग ८वी शती ई० के आस–पास
१०	चित्रकार निहालचद द्वारा चित्रित राधा–कृष्ण, (किशनगढ शैली मे निर्मित) १७५० ई०
११	राधा को पुष्प भेट करते हुए कृष्ण का चित्रण, (किशनगढ शैली मे निर्मित), राष्ट्रीय सग्रहालय नई दिल्ली मे सग्रहीत लगभग १७५५ ई०

१२ चित्रकार सीताराम द्वारा चित्रित दीपावली–उत्सव का आनन्द लेते राधाकृष्ण, (किशनगढ शैली मे निर्मित) राष्ट्रीय सग्रहालय, नई दिल्ली मे सग्रहीत लगभग १७७० ई०

१३ उपवन स्थित मडप मे राधा–कृष्ण की प्रेम–लीला (कागडा शैली मे निर्मित) राजा ध्रुवदेवचद के लम्बागाव मे सग्रहीत लगभग १८१० ई०

१४ लीला–हाव दृश्याकन मे राधा–कृष्ण (कागडा शैली मे निर्मित), राजा ससारचद के लम्बागाव मे सग्रहीत लगभग १७७५–१८२३ ई०

१५ चैत्र–मास का नायक (कृष्ण) से वर्णन करते हुए नायिका (राधा) (कागडा शैली मे निर्मित) राजा ध्रुवदेवचद के लम्बागाव मे सग्रहीत, लगभग १७६० ई०

१६ वर्तमान नारीवादी विमर्श मे कृष्ण–लीला का राधाकरण', आउटलुक ('दि वीकली न्यूज मैंगजीन) का प्रकाशित मुख्य आवरण पृष्ठ वर्तमान मे (मई ५, २००३)

•
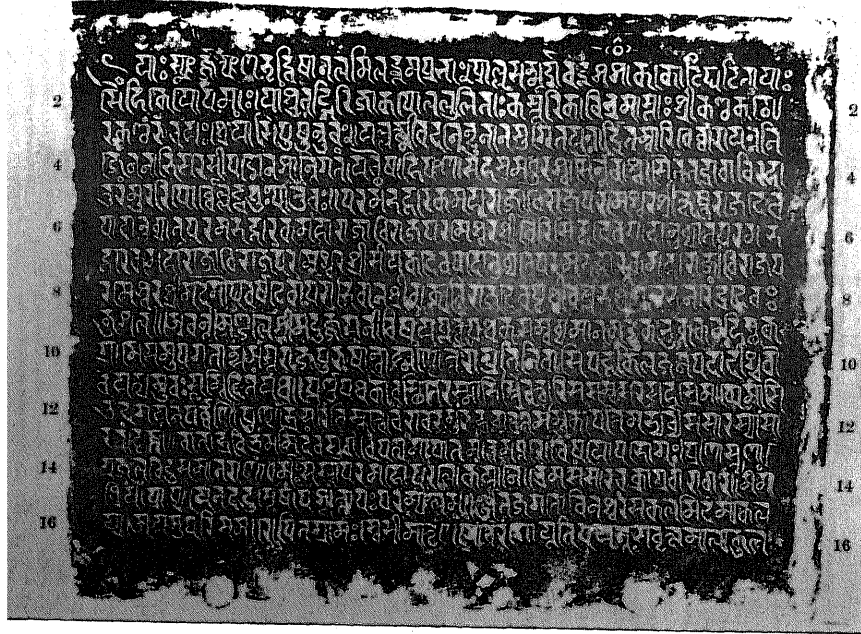
चित्र संख्या–१
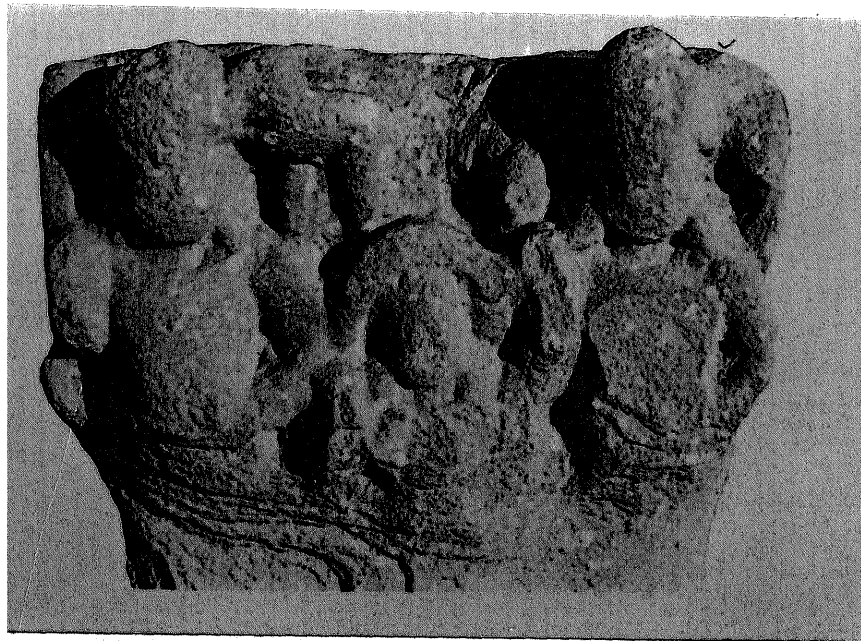
चित्र संख्या–२

चित्र संख्या–३

चित्र संख्या–४

चित्र संख्या–५

चित्र संख्या–६

चित्र संख्या–७

चित्र संख्या–८

चित्र संख्या–९
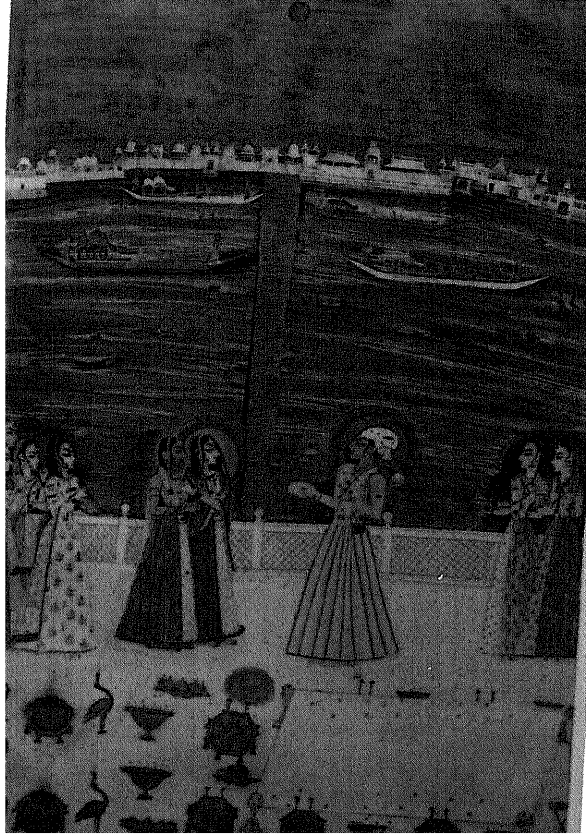
चित्र संख्या–१०

चित्र संख्या–११
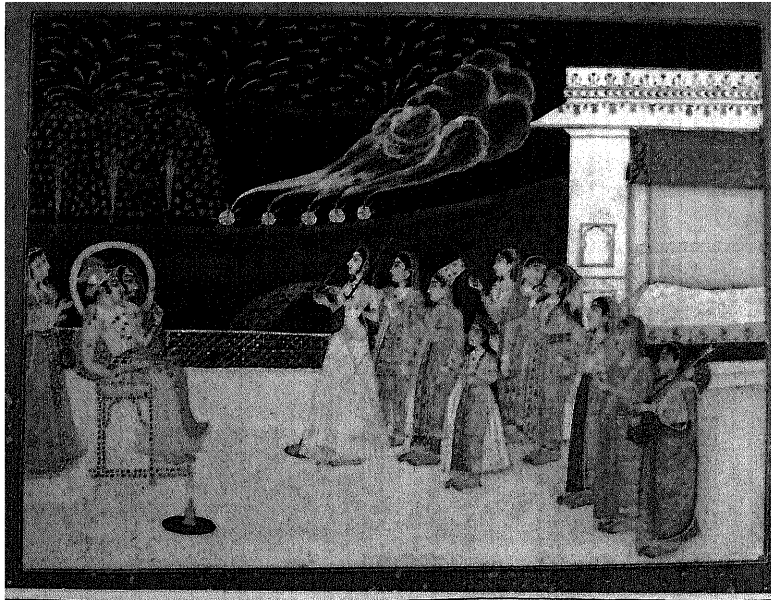
चित्र संख्या–१२
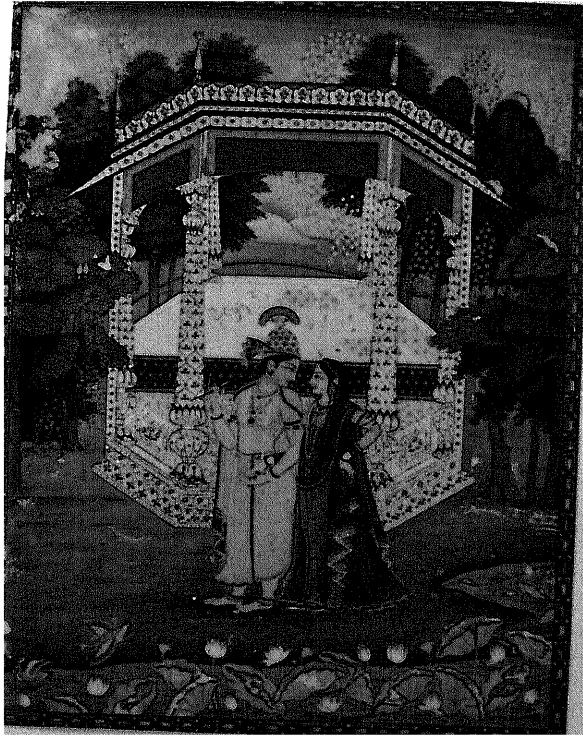
चित्र संख्या–१३

चित्र संख्या–१४

चित्र संख्या–१५

चित्र संख्या–१६